प्राभञ्जनः

(सहस्राक्षे वज्रविस्तारस्य निर्यातकः)

(खण्ड ३ भाग १)



प्रथमपीठाधीश्वरगोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी-विरचितः

प्रा भ ञ्ज न:

(सहस्राक्षे वज्रविस्तारस्य निर्यातक:)

(खण्ड ३ भाग १)



प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव सोसायटी,
पूना-बेंगलोर रोड्, कोल्हापुर,
महाराष्ट्र - ४१६००८.

सम्पादक : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : श्रीगोपीनाथप्रभुचरणप्राकट्योत्सव वि.सं.२०८३
ई.व. सप्टेम्बर २०२६

प्रति : २००

निःशुल्कवितरणार्थ

मुद्रक : पूर्वी प्रेस प्रा.ली.,
गोंडल रोड,
राजकोट.

E-books also available : www.pushtimarg.net
Also on App : Pushtividya

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

::सम्पादकीयः:

राधाराध्यं व्रजधनं श्रीश्यामं सुन्दरं प्रभुम् ॥
सदा गेहे मदाराध्यं श्रीवल्लभकृपाबलात् ॥१॥
पितृप्रवर्तितपथ-प्रचारसुविचारकम् ॥
विद्वन्मण्डनं श्रीमद्विट्ठलनाथं नमाम्यहम् ॥२॥
विद्वन्मण्डनरक्षार्थं प्राभञ्जनविभावकम् ॥
'श्रीविट्ठलनाथा'ख्यं वृद्धप्रपितामहं नुमः ॥३॥
दोषैकचक्षुक्षुब्धेन सहस्राक्षजदृष्टिना ॥
युक्तिकोटिक्रमवृद्धचा भिक्षुणोपकृताः वयम् ॥४॥

::उपक्रमः:

मेरे पिता गोस्वामी श्रीदीक्षित(विट्ठलनाथ)जी महाराजके पूर्वमीमांसाके विद्यागुरु समादरणीय श्रीअनन्तकृष्ण शास्त्रीजी, जो अद्वैतवेदान्तके उद्भट विद्वान् तथा अधिवक्ता थे, वे प्रायः प्रत्येक वर्ष एकाद ग्रन्थ रामानुज या माध्व सम्प्रदायके ग्रन्थोंकी आलोचनाके प्रकाशित करते थे. प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोगार्थ मेरे पिताको अनुरोध करने पधारते थे. प्रकाशित हो जानेपर उपकारोक्तिके साथ-साथ प्रकाशित ग्रन्थ भी उपहारार्थ ले आते थे. फिर तो दोनों गुरु-शिष्योंके बीच तुमुल वाद-विवाद छिड़ जाता. क्योंकि दोनों पगोंमें केंसरके घावोंके कारण मेरे पिता उठ-चल नहीं पाते थे, सो उन्हें विदाय करने कार तक पहुंचानेका आदेश मुझे मिलता था. एकबार खिन्नमनस्कतया

मैंने पूछ ही लिया कि जब आपका अपने विद्यागुरुके साथ इतना मतभेद है तो क्यों आर्थिक सहयोग और समादर करते हो?

उन्होंने बहुत संक्षिप्त समाधान दिया था "बेटा! इन शास्त्रीजीके कारण हमें अपने ग्रन्थोंके भलीभांति मनन-अवगाहन करने बाधित होना पड़ता है, इनके आक्षेपोंका सच्चा समाधान ग्रन्थमूलक क्या हो सकता है यह जानने. अन्यथा हम प्रमादी बन जायेंगे. इनका यह कितना बड़ा उपकार हम वैष्णव मतानुयायिओंपर है!"

बहुत बादमें श्रीभागवतके "**मन्ये असुरान् भागवतान् व्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान्**" (भाग.पुरा.३।२।२४) इस वचनको सावधानीके साथ पढ़नेपर मुझे पितृचरणोक्तिकी उपपत्ति हृद्गत हुयी. अतएव सहस्राक्षकर्ताका भी हार्दिक आभार स्वीकारना मुझे निजकर्तव्योपात्त लगता है. वस्तुतः यदि सदानन्दगिरीजी ऐसा आक्षेपात्मक ग्रन्थ प्रकट न करते, तो न तो प्रभुचरणकृत विद्वन्मण्डन ग्रन्थकी ऐसी मण्डनात्मिका व्याख्या हमारे धर्मवृद्धप्रपितामह गो. श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा विरचित हो पाती; और, न पुष्टिभक्तिमार्गीय सम्प्रदायके अप्रतिम विद्वान् भारतमार्तण्ड श्रीगट्टुलालाजीकी मारुतशक्ति जैसी सुविशद व्याख्या ही प्रकट हो पाती! खेदजनक बात यही है कि भारतमार्तण्डद्वारा प्राभञ्जनके द्वितीयार्धपर मारुतशक्तिरूपा व्याख्याका प्रकाशन हो नहीं पाया.

जहां तक गालिगलौचका सवाल है, हमारे धर्मवृद्धप्रपितामह गो. श्रीविट्ठलनाथजीकी कथा तो भिन्न है. क्योंकि जो भी उनका मनोभाव हो उस बारेमें मुझे विवक्षित कुछ भी नहीं. सौ गालि

देनेवाले शिशुपालको मुक्तिप्रदान करनेवाले परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णका आराधक होनेके कारण किसीभी गालिबाजका मुझे उतना बुरा नहीं लगता. प्रत्युत दुर्भावग्रस्त हृदयवाले मिष्टभाषी मुझे अधिक अखरते हैं. छद्मरीतिसे गालिप्रदान करनेवालोंके बजाय संक्षेपमे एकाद गालि दे कर मनकी भड़ाँस निकाल देना एक स्वस्थ बात लगती है. अतएव प्रभुचरणद्वारा विद्वन्मण्डनमें प्रयुक्त गालियोंका भी एक अलग आनन्द आता है, जो अद्वैतवादियोंको अवश्य चुभती होंगी. वैसे ऐतिह्य इस विषयमें यह भी है कि अद्वैतवादके पूर्वपक्ष प्रभुचरणके ज्येष्ठात्मज श्रीगिरिधरजीने प्रस्तुत किये थे! ये सारी गालिगलौच पितापुत्रके संवादमें प्रकट हुयी हैं!!

एक प्रसिद्ध चुटकुलेमें आता है कि न्यायालयमें विवाद करते समय एक वकीलके मुखसे प्रतिपक्षीके वकीलके लिये 'गधा' अपशब्द निकल गया. न्यायालयकी मर्यादाके विपरीत अपशब्दके प्रयोगार्थ न्यायाधीशके टोकनेपर वकीलने क्षमायाचना तो कर ली. जिरह खतम होनेके बाद, किन्तु, प्रतिपक्षी वकीलको 'गधा' कहना निश्चित ही अपशब्द होनेपर भी किसी गधेको 'वकील'कहना तो अपशब्द नहीं होता न! इस विषयपर मान्य न्यायाधीशकी सहमति पा कर प्रतिपक्षके अधिवक्ताको 'वकील साहेब' कह दिया!

पुरुषप्रधान समाजमें वैसे तो जितने भी गालिगलौचके शब्द हैं वे या तो स्त्रीजाति या पशु पक्षी सरीसृप या कीट आदिकी जातिकी उपमा रूपक प्रतीप व्यतिरेक या अतिशयोक्ति जैसे सौन्दर्यशास्त्राभिमत शब्दालंकार या अर्थालंकार ही केवल होते हैं. यह कथा भिन्न है कि साहित्यमें वे रसभावके पोषक होनेपर

भी बोलचालमें क्षोभ-जुगुप्साके जनक बन जाते हैं. एतदर्थ ही तो, परन्तु, महर्षि पाणिनिने कर्मव्यतिहारको भी मान्य कर रखा है! उसपर संयम पानेकी चेष्टा करनेपर छद्मशब्दोंमें कहीं न कहीं तो वह प्रकट हो ही जाता है. उदा. ''यदा-यदा मुञ्चति वाक्यबाणं तदा-तदा अस्य कुलप्रमाणम्'' जैसे रूप धारण कर. अतः उपशमका मुखौटा 'घट्टकुटिप्रभात'न्यायका उदाहरण बन जाता है.

मनुष्य जातिके अलावा अन्यान्य पशुपक्षिआदिकी जातियोंमें गालिप्रदान होता है या नहीं? वे आपसमें किसी पर नाराज़ होनेपर उसे 'मनुष्य' होनेकी गालि देतें हैं या नहीं!इस बारेमें कोई ठोस वैज्ञानिक परीक्षण या निरीक्षण हुवा है या नहीं इसकी मुझे जानकारी नहीं है. मुझे लगता है कि मानव-मष्तिष्कके विकसित होनेकी अनेकानेक उपलब्धिओंमें एक अन्यतम उपलब्धि गालिप्रदान करना भी है ही. इसे नकारा तो नहीं जा सकता. अमरीकी प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी नोआम चोम्स्कीके अनुसार रिकर्सिव थोट्स्को मानवीय मष्तिष्ककी जटिल संरचनामें स्वभावोपात्त माना गया है. मुझे लगता है कि गालिप्रदान भी उसीकी अंगभूत प्रक्रिया है. यह कथा भिन्न है कि साहित्यिकीमें वह स्पृहणीय गुण है जबकि बोलचालमें वह अशिष्ट व्यवहार मानी जाती है. वैसे गालियोंमें भी कुछ शिष्ट कुछ अशिष्ट कहां नहीं होती? एक तथ्य, परन्तु, यह भी है कि कितने सारे मानवीय हिंस्र मनोभावोंको गालिप्रदानकी प्रक्रिया सह्य या क्षम्य बना देती है!

अक्सर परनिन्दाको महान् दोष बतानेवाले उपदेशकगण निन्दाव्यसनियोंकी निन्दामें जैसे जुटे रहते हैं उतना परनिन्दामें संयम न बरतनेवालेको निन्दाव्यापारमें कभी निरत नहीं देखा जाता. मनुष्येतर

प्राणी भयभीत होनेपर भाग जाता है अथवा क्रोधित होनेपर आक्रामक हो जाता है. सामाजिक प्रतिबन्धोंके कारण, परन्तु, मानव व्यक्ति भयमें लज्जा और क्रोधमें सामाजिक दण्डकी भीतिके वश न तो भाग पाता है और न शारीरिक आक्रमणार्थ ही सहसा उद्यत हो पाता है. केवल गालि दे कर सन्तुष्ट हो जाता है. ''अति सर्वत्र वर्जयेत्'' नीति तो ठीक ही है. वैसे तो अतिप्रशंसा भी बहुधा अरुचिकर कहां नहीं बन जाती है. अस्तु.

::सहस्राक्षमें आलोचित विद्वन्मण्डन::

यदि महाप्रभुविरचित 'पत्रावलम्बन'नामक लघुग्रन्थको न गिनें तो 'विद्वन्मण्डन'नामक ग्रन्थ वाल्लभ सम्प्रदायका प्रथम वादग्रन्थ है.

वेदान्तशास्त्रके वादग्रन्थ या तो जगत् जीव और ब्रह्म की क्रमिकतावाले इन्डक्टिव नेचरके होते हैं या ब्रह्म जीव और जगत् की क्रमिकतावाले डिडक्टिव नेचरके होते हैं. महर्षि बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें वैसे तो ''**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात्**'' सूत्रोंके द्वारा ''**यद् वै किञ्च अनूक्तं तस्य सर्वस्य 'ब्रह्म' इति एकता**'' (बृह.उप.१।५।१७) के आदर्शका अनुसरण करते हुवे 'ब्रह्म'पदको सर्वस्वान्तस्समावेशी मान कर ही ब्रह्मजिज्ञासा प्रस्तुत की है. प्रमाता (परोक्षापरोक्ष प्रमाके आश्रयतया) प्रमेय (सकलसत्ताके आश्रयतया) साधन (कर्मज्ञानभक्त्यादि मार्गोंके उपायतया) और फल (कर्मज्ञानभक्त्यादि साधकोंके उपेयतया) यों चारोंका ही 'ब्रह्म'पदमें समावेश विवक्षित है.

अतएव विद्वन्मण्डन ग्रन्थमें की गयी मौलिक जिज्ञासा यही

है कि ब्रह्म सविशेष है या निर्विशेष है? वह ऐसे विचारके साथ ही आरब्ध होती है. मध्यमें ब्रह्मके चिदंशरूप जीवात्मासे सम्बद्ध विविध मुद्दोंका विचार किया गया है. अन्तमें ब्रह्मका सदंशभूत जड़जगत् भी ब्राह्मिकी सर्गादि दशविध लीलाके रूपमें प्रकट हुवा होनेसे ब्रह्मात्मक ही है. ऐसे मुद्दाके साथ ग्रन्थगत जिज्ञासाका उपसंहार होता है. यह **''चयः त्विषाम् इति अवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभावितकृतिं विभुः विभक्तावयवः पुमान् इति क्रमाद् अमुं नारद इति अबोधि सः''** (शिशु.वध.१।३) की तर्ज़पर एक सर्वस्वान्त:समावेशी 'ब्रह्म'रूप सामान्य प्रत्ययके अन्तर्भूत तत्तद् विशेष प्रत्ययोंके रूपमें विश्लेषणकी प्रक्रियाको अनुसरनेवाला ग्रन्थ है. परवर्ती कालमें प्रस्तुत ग्रन्थके सुवर्णसूत्र-व्याख्याकार गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजीने भी इसी शैलीको अपना कर 'अवतारवादावली' नामक चौबीस वादोंवाला ग्रन्थ भी लिखा. इस अवतारवादावलीके बाद वाल्लभ सम्प्रदायमें वैसे तो अन्य भी अनेक लघु वादग्रन्थ उपलब्ध होते हैं परन्तु सहस्राक्ष-प्राभञ्जन जैसा विस्तृत वादग्रन्थ इसके अलावा कोई उपलब्ध नहीं होता. यह मायावादी सदानन्दगिरिजीके सहस्राक्षका प्रत्युत्तर ही केवल नहीं अपितु विद्वन्मण्डनकी नूतन व्याख्या भी है.

पूर्वप्रकाशित संस्करणके सम्पादक सम्मान्य श्रीजगन्नाथ शास्त्रीजीने विद्वन्मण्डनमें चर्चित विचारबिन्दुओंका संकलन और ग्रन्थशरीरके साथ उन्हें सुनियोजित जो किया उसका हिन्दीमें अनुवाद हार्दिक कृतज्ञताज्ञापनके साथ दोहरा देना यहां उचित होगा :

१.विप्रतिपत्तिग्रस्त विषयश्रुतिवचनोंका प्रदर्शन २.निर्विशेष ब्रह्मके प्रतिपादकतया अभिमत श्रुतिवचन ३.निर्विशेष ब्रह्मके

मायोपाधिवश कर्तृत्वका निरास ४.अध्यारोपापवादका विमर्श ५.सृष्टिके अविद्याजन्य होनेका विमर्श ६.जीवात्माके स्वरूपविचारके अन्तर्गत प्रतिबिम्बवादका आलोचन ७.मायिक होनेके सिद्धान्तमें विधिप्रेरित प्रवृत्ति कुण्ठित हो जायेगी ८.प्रकारान्तरसे भी बिम्बप्रतिबिम्बवादका निरास ९.आभासवाददृष्ट्या भी जीवस्वरूप उपपन्न नहीं होता १०.आविर्भावतिरोभावका पूर्वपक्ष ११.आविर्भातिरोभावका लक्षणपूर्वक उपपादन १२.वस्तुकी भाविताकी उपपत्तिके साथ आविर्भावतिरोभावका निष्कृष्ट लक्षण १३.देशकालवर्ती क्रमिक नित्यत्वके बारेमें आपत्तिओंका परिहार १४.अद्वैतमताभिप्रेत महावाक्योंके अर्थका विमर्श १५.जगत्की आविद्यकताके निरासपूर्वक ब्रह्मके कर्तृत्वकी उपपत्ति १६.ब्रह्म और जीव के आत्यन्तिक अभेदके निरासपूर्वक ब्रह्मके औपाधिक कर्तृत्वका निरास १७.जीवके ब्रह्मांश होनेकी उपपत्ति १८.ब्रह्मके निरवयव होनेके कारण निरंशताके निरसनार्थ तादात्म्यका प्रतिपादन १९.भ्रमके आधारपर ब्रह्म और जीव के बीच आत्यन्तिक अभेदका श्रुति-सूत्रादि प्रमाणोंके आधारपर निरास २०.ब्रह्मरूप कारणके एकमेवाद्वितीय होनेपर कार्यरूपा सृष्टिके वैचित्र्यके बारेमें शंकासमाधान २१.परमात्माको कर्ता माननेपर कृत कर्मफलोंकी हानि और अकृत कर्मफलोंके अभ्युपगम के दोषोंकी आपत्तिओंका परिहार २२.जीवोंकी सदसत् कर्मोंमें प्रवृत्ति-निवृत्ति प्राक्तन अदृष्ट कर्मोंकी नियतिके वशात् न हो कर लीलाविहारार्थ भगवदिच्छासे नियत होती है २३. जीवात्माओंका अंश होना औपचारिक या वास्तविक इस शंकाका समाधान २४. अग्निमें से तिनकोंकी तरह जीवोंका ब्रह्ममेंसे व्युच्चरण क्या उत्पत्तिरूप होता है या उद्भवरूप

होता है, शंकासमाधान २५. जीवके व्युच्चरणोत्तर पुनःप्रवेशका विचार २६.जीवके अणुपरिमाण होनेका पूर्वपक्ष २७.इन आपत्तिओंके परिहारपूर्वक जीवके अणुपरिमाण होनेकी उपपत्ति २८.जीवकी स्वरूपेण व्यापकताका निरास और द्रव्याधिकदेश-वर्ती विसर्पी चैतन्यगुणधर्मताकी उपपत्ति २९.जीवात्माओंकी उत्क्रान्ति गति-आगतिके बारेमें शांकरमताभिप्रेत व्याख्याका विमर्श ३०.ब्रह्मके विरुद्धधर्माश्रय होनेके सिद्धान्त पर आक्षेप और परिहार ३१. विरुद्धधर्माश्रय माननेके बजाय निर्विशेष निर्धर्मक माननेका पूर्वपक्ष ३२.ब्रह्मसूत्रके उभयालिङ्गाधिकरणके आधारपर उक्त आक्षेपोंका समाधान ३३.ब्रह्मकी सविशेषता जीवात्माकी अविद्यावशात् कल्पित है ऐसी धारणाका निरास ३४.ब्रह्मसूत्रमें सविशेष ब्रह्मकी कल्पना उपासनार्थ ही केवल है स्वरूपनिरूपणार्थ नहीं इस मान्यताका निरास ३५.ब्रह्मका विरुद्धधर्माश्रय होना श्रुतिओंमें प्रतिपादित उसकी एकरसतासे विपरीत नहीं है ३६.निर्विशेषवादाभिमत उपासनाके स्वरूपमें अनुपपत्ति और विरुद्धधर्माश्रयतामूलक उपासनाओंकी संगति ३७.निर्धर्मक ब्रह्मपर धर्मोंका आरोप उसके अपवादद्वारा ब्रह्मस्वरूपके तात्त्विक ज्ञानार्थ होनेका पूर्वपक्ष ३८.ब्रह्मसाक्षा-त्कार उसकी निजेच्छया होता है अन्यथा नहीं इस तथ्यके विपरीत प्रतीत होते श्रुतिवचनोंका तात्पर्य ३९.श्रुत्येकगम्य ब्रह्मकी विरुद्धधर्माश्रयता भी श्रुतिप्रामाण्यपर निर्भर होनेसे लौकिक तर्कोंकी प्रभावहीनता. ४०.स्वयंकी विश्वरूपताके दर्शन दिव्यदृष्टि प्रदानकी शक्तिद्वारा नकि आविद्यकी दृष्टि प्रदानद्वारा कराये ४१.आनन्दमय ब्रह्मके रसरूप होनेके कारण कामादिलीलामें न तो दोषदर्शन या अनुकरण करणीय नहीं होता ४२.भगवान्का विग्रह भी भूतावेशन्यायेन दिव्य

या स्वाभाविक नहीं होता ऐसी मान्यताका निरास ४३.ब्रह्मके सभी गुणधर्मादि ब्रह्मात्मक होनेके कारण ब्राह्मिक ऐक्यान्त:पाती भेदवाले होते हैं ४४.सर्वविधलीलाओंसे विशिष्ट भगवत्स्वरूपकी नित्यताका सिद्धान्त ४५.भगवन्नामोंकी भी लोकविलक्षण अनौपचारिकताका उपपादन ४६.लीलानित्यत्व-वाद श्रौत होनेका प्रतिपादन ४७.भूतकालिकतया वर्णित भगवत्कर्मों या भगवल्लीलाओं का नित्यत्व तथा उनका भगवद्दर्शनोपायतया निरूपण ४८.नित्यलीलान्तर्गत जडजीवतया निरूपित पदार्थोंके अधिष्ठानध्वंसप्रयुक्त अनित्य होनेकी धारणाका निरसन ४९.भगवन्नित्यलीलामें कालकी भूत-वर्तमान-भावी रूपा क्रमिकताकी उपपत्तिद्वारा नित्यताका प्रतिपादन ५०.अनित्यताके परिहारपूर्वक आधुनिक भक्तोंके भी लीलान्त:पाती होनेपर नित्यताका प्रतिपादन ५१.श्रुतिमूलक युक्तिद्वारा लीलानित्यत्वकी उपपत्ति. ५२.भूतलपर दृश्यमान भगवल्लीलास्थलोंमें लीलाकालिक नित्यलीलास्थलोंके प्रादुर्भा-वकी प्रक्रिया ५३.कृष्णावतारमें प्रभासीय लीलाकी विषयरूपताका निराकरण और विषयतारूप व्यामोहनार्थ होनेकी उपपत्ति ५४.नटोंद्वारा प्रदर्शित विविध लीलाओं (आधुनिक वर्च्युअल/डिजिटल रियालिटीकी जैसी) की मायिकताका निरूपण ५५.प्रभासीय लीलाप्रसंगोपात्त वर्णनोंका तात्पर्य ५६.प्रभासीय लीलान्तर्गत वर्णित यादवकुल और नित्यलीलान्तर्गत यादवकुल का तारतम्य ५७.प्रपञ्चातीत लीलानित्यत्व सुबोध होनेपर भी प्रापञ्चिक लीलाके भी भगवान्की सर्गादि दशविधलीलारूप होनेके कारण नित्यताका उपपादन.

ये वो मुद्दे हैं जो विद्वन्मण्डनमें मण्डनार्थ निरूपित हुवे जिनकी आलोचना सदानन्दयतिजीने की और उस आलोचनाका प्रत्याख्यान प्रस्तुत प्राभञ्जनकारने किया है. इस तरह देखा जा सकता है कि सदानन्दयतिजी और हमारे वृद्धप्रपितामह श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा इस व्याजसे उपपत्तियोंका कोटिक्रम कैसे अग्रसर हुवा. यों श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरणकी वाणीकी कितनी बड़ी सेवा हुयी!

अन्यान्य भूभागोंमें सम्प्रदायकी जनमान्यताके वश आचार्य महानुभावोंकी स्वसम्प्रदायके विचार्य-विषयोंपर बौद्धिक ऊहापोहके बजाय स्वत:सिद्धतया स्वीकार लेनेकी प्रमादपूर्ण मनोवृत्ति ही कदाचित् इसमें मूल कारण होगी. इसके विपरीत श्रीपुरुषोत्तमजीका द्वितीय गृहके गोस्वामी अपने शिष्यको लिखा एक पत्र कि जिसमें उन्होंने निजी मनोव्यथा और उत्सुकता प्रकट की है कि वृद्धावस्थाके कारण अब उनकी दृष्टि कमजोर हो गयी है; और, उनके शिष्य तो अभी युवा होनेके कारण भगवत्सेवा तथा स्वमार्गीय ग्रन्थोंके अवगाहन भगवत्कृपया निभा पाने समर्थ हैं, सो तब प्रस्थानरत्नाकर ग्रन्थकी एक प्रति कांची भिजवायी थी. वे दक्षिणयात्रापर उसी कांचीनगरमें गये होनेके कारण वहां विद्वन्मण्डलीमें इस बारेमें कोई चर्चा-विचारणा चल रही हो तो ग्रन्थकर्ताको अवश्य सूचित करेंगे.

वैसे शांकर रामानुज तथा माध्व सम्प्रदायका वादसाहित्य जितना विपुल और गम्भीर है, उसकी तुलनामें हमारे सम्प्रदायका वादसाहित्य एकचतुर्थांश भी शायद नहीं है.

::विद्वन्मण्डनका पूर्वपक्ष शांकर वेदान्त::

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मजिज्ञासासे पहले उपक्रमतया उत्सूत्र

अध्यासभाष्य प्रकट किया है. जैसे कि "एवम् अनादिः अनन्तो नैसर्गिको अयम् अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः. अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते. यथाच अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः" (ब्र.सू.शां.भा.उ-पक्र.) ऐसा भाष्यकार कहते हैं. अतएव शांकर वेदान्तकी सिद्धिचतुष्टयीमें एक ब्रह्मसिद्धिको छोड़ दें तो शेष तीनों, नाम्ना, इष्टसिद्धि नैष्कर्म्यसिद्धि और अद्वैतसिद्धि में ही नहीं बल्कि तत्त्वप्रदीपिका चित्सुखी में भी विचारारम्भ ब्रह्मसे आरम्भ करनेके बजाय द्वैतप्रपञ्चके मिथ्यात्व अथवा चेतनाके स्वयंप्रकाशत्व अथवा नैष्कर्म्य सदृश मुद्दोंके साथ शुरु हुवा है. इसमें प्रमुख हेतु, सिद्धान्तबिन्दुकारके शब्दोंमें कहना हो, तो :

> "द्वैतस्य मिथ्यात्वेन अधिष्ठानसत्तादात्म्यापन्नतयैव सिद्धत्वात् शुक्तिरजतादिवद् अध्यस्तस्य अधिष्ठानतादा-त्म्याभावानुपपत्तेः. तेन आत्मा नाभावप्रतियोगी अभावप्र-तियोगिनः च देहेन्द्रियादयः तेन असौ न आत्मानः किन्तु स्वप्रकाशबोधरूपाख्ये आत्मनि अद्वैतेऽपि अनाद्यनिर्वचनीयाविद्यया कल्पिताः अनिर्वचनीयाएव इति सिद्धान्तरहस्यम्."
>
> (सिद्धा.बि.१).

एतावता ब्रह्मसिद्धिकी तुलनामें ब्रह्मेतरके निषेधपर विचार अधिक निर्भर मिलता है. स्वयं भाष्यकार श्रीशंकराचार्यके शब्दोंमें कुछ कहना हो तो "नच एकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्याद्? नवा केवलत्वं नच अकेवलत्वं न शून्यं नच अशून्यम् अद्वैतकत्वात्.

कथं सर्ववेदान्तसिद्धिं ब्रवीमि'' (द.श्लो.१०) वचनके आधारपर ब्रह्म अवाच्य ही होता है. और जो वाच्य हो वह तो शुद्ध ब्रह्म हो नहीं सकता. अत: निखिल वाच्यवस्तुओंके निषेधाधिकरणतया उपलक्षित अवाच्य होनेके रूपमें ब्रह्मसिद्धि तात्पर्यविषयीभूत होती है.

वैसे भी **''नच प्रमाणं प्रमाणान्तरेण विरुद्धचते, प्रमाणान्तराविषय-मेव हि प्रमाणान्तरं ज्ञापयति'',''यद् उक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि संभवेयु: इति तदपि मनोरथमात्रं, रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थ: प्रत्यक्षस्य गोचरो, लिङ्गाद्यभावाद् न अनुमानादीनाम् आगममात्रसमधिगम्यएव अयम् अर्थो धर्मवत्''** (बृ.उ.शां.भा.२।१।२-०, ब्र.सू.शां.भा.२।१।६) विधानोंके कर्ता श्रीशंकराचार्यने ही, इस पारमार्थिक अवाच्यताके कारण, दूसरे एक वचनमें ब्रह्मका ऐकान्तिकतया श्रौत प्रत्यय होना अस्वीकार भी किया है. द्रष्टव्य : **''न धर्मजिज्ञासायामिव श्रुत्यादयएव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायां किन्तु श्रुत्यादयो अनुभवादय: च यथासम्भवम् इह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वात् च ब्रह्मज्ञानस्य''** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२). अतएव परवर्ती विद्वानोंने भी श्रुत्यर्थका लक्षणा या गौणी वृत्तियोंके अवलम्बन द्वारा प्रबल परार्थानुमितिद्वारा ही वाद करना अभीष्ट माना. यहां उल्लेखनीय हो जाता है कि ऐसी स्थितिमें ज्ञानकी स्वयंप्रकाशरूपता या द्वैतकी आविद्यकी अनिर्वचनीयता का श्रौत तथ्य होना अनिवार्य नहीं रह जाता. ज्ञानकी परप्रकाश्यता या भेदकी अनिर्वचनीय अपरमार्थता प्रमाणान्तर द्वारा सिद्ध हो जानेपर पारिशेष्याद् निषेधशेषतया श्रुत्यवाच्य तत्त्वकी ब्रह्मता श्रुत्यर्थाक्षिप्त होती मानी जा सकती है.

वाल्लभ वेदान्त, क्योंकि ब्रह्मको निर्विशेष नहीं मानता; अत:,

ऐसे ब्रह्मके बारेमें उपनिषदादि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित विरुद्धधर्माश्रयताकी सिद्धिके बाद, ऐसे अंशी ब्रह्मके सदंशतया जड़सृष्टि और चिदंशतया जीवसृष्टि स्वीकारता है. यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि दोनों मतोंमें वैसे तो श्रुत्यर्थबोधसे पूर्व भी ब्रह्मका भ्रान्तिशबलित बोध होना, एकत्र भ्रमाधिष्ठानतया तो अपरत्र सकलनामरूपकर्माश्रयरूप उपादानतया पूर्वसिद्ध होना स्वीकारा ही गया है : **''अस्ति भाति प्रियं नामरूप चेत्यंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयं''**,**''नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यत:''** (वाक्यसु.२० , त.दी.नि.१।१). यों ब्रह्मके अज्ञानवश जगत्में अनुभूत होते नामरूपोंकी भ्रान्तिका अधिष्ठान श्रुत्यर्थबोधसे पूर्व भी अस्ति भाति प्रियता का विषय बनता ब्रह्मको माना गया है. जबकि वाल्लभ वेदान्तमें नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्की विविधता सच्चिदानन्दात्मक अविकारी ब्रह्मकी उपादानतामूलक परिणत अंशात्मिका अभिव्यक्ति ही है. भ्रान्तिरूपा नहीं है. इस तरह, परन्तु , अनुभूत होनेके बजाय अब्राह्मिकतया नाम-रूप-कर्मका भान जो होता है, उसे अवश्य ही ब्रह्माज्ञानमूलक भ्रान्ति मानी ग़यी है. अब्रह्मताकी अनुभूतिका भ्रान्ति होना भी श्रुत्यादिशास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित माना गया है. शांकर वेदान्तमें अपनी अहमात्मिका अनुभूतिमें भी ''नेति-नेति'' निषेधद्वारा, अर्थात् **''न भूमि: न तोयं न तेजो न वायु: न खं न इन्द्रियं वा न तेषां समूह:''**न्यायेन निषेधद्वारा ही शोधित होती मानी गयी है. एतदर्थ श्रुतिवाक्यजन्य पदार्थबोध आवश्यक हो या न हो अनिवार्य नहीं. एतदर्थ नैष्कर्म्यसिद्धिकार सुरेश्वराचार्यका यह विधान सावधानतया विचारणीय है :

''न उष्णिमानं दहति अग्नि: स्वरूपत्वाद् यथा ज्वलन्... एकस्य आत्मन: कर्मकर्तृभाव: सर्वथा न

उपपद्यतेइति श्रुत्वा मीमांसकः उपतिष्ठते, ''‘अहं’प्रत्यय-ग्राह्यत्वाद् ग्राहकः आत्मा'' इति तन्निवृत्त्यर्थम् आह ‘यत्कर्मको हि यो भावो न असौ तत्कर्मको यतो, घटप्रत्ययवत् तस्माद् न ‘अहं’ स्याद् द्रष्टृकर्मकः. अत्र आह प्रत्यक्षेण आत्मनः कर्मकर्तृत्वाभ्युपगमे तत्पादोपजी-विना अनुमानेन प्रत्यक्षोत्सारणम् अयुक्तम् इति चोद्यं तन्निराकरणाय प्रत्यक्षोपन्यासः. यत्र यो दृश्यते द्रष्ट्रा तस्यैव असो गुणो नतु द्रष्टृस्थं दृश्यतां यस्माद् नैव ईयाद् द्रष्टृबोधवत्''

(नैष्क.सि.२३-२५).

एतावता आत्मप्रत्ययकी निर्विकल्पकता अनुमितिसे ही सिद्ध हो जाती हो तो विलम्बेन होती श्रौती प्रमितिका अनुवादरूप अप्रामाण्य गलेपतित होगा. उसके बलवत्स्वत:प्रामाण्यके रक्षणार्थ अन्यथा प्रस्तुत अनुमितिमें किसी न किसी दोषकी आशंका तो माननी ही पड़ेगी. श्रुतार्थके मननार्थ ऐसे अनुमानोंका औपाङ्गिक प्रामाण्य ही यदि स्वीकारा जाये तो, जिसे किसी श्रुतिवचनसे पहले अनुमान आकस्मिकतया सुनायी पड़ गया हो, उसके लिये तो निर्विकल्पात्मप्रत्यय स्वानुमितिवेद्य हो जानेके कारण औपनिषद ब्रह्मज्ञान अजागलस्तनवत् निरर्थक ही लगेगा. अस्तु.

जबकि ''**सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय**'', ''**नाम... रूपं... कर्म त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा, आत्मा उ एकः सन् एतत्त्रयम्**'', ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.२।६, बृह.उप.१।६।१-३, छान्दो. उप.३।१४।१) इन श्रुतिवचनोंकी स्वारसिकी अभिधावृत्तिके आधारपर ही सार्वब्रह्मैक्य प्रत्यय सर्वथा श्रौत ही होनेसे श्रुतिशब्दजन्य परोक्ष भानके वशाद् अब्रह्मात्मकताकी अपरोक्ष भ्रमात्मिका मति निवृत्ति

हो पाती है. और अपरोक्षानुभूति होनेपर उसकी अपरोक्ष सर्वात्मभावात्मिका अनुभूति भी फलित हो जाती होनेसे सर्वथा श्रुत्येकगम्यता अक्षुण्ण ही रहती है.

सहस्राक्षके प्रत्याख्यानमें प्राभञ्जनकार एक बातपर कई बार हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि वाल्लभ मतकी आलोचना करनेकी उमंगमें स्वयं श्रीशंकराचार्यके द्वारा किये गये प्रतिपादनको भी सहस्राक्षकार भूल जातें हैं और स्वारूढशाखोच्छेदन कर बैठते हैं. अस्तु. अपनी ओरसे यहां ब्रह्मके विचिकित्स्य निर्विशेषत्व या सविशेषत्व सम्बन्धी विवादके सन्दर्भमें कुछ मेरी संग्रहकारिका प्रारम्भमें ही प्रस्तुत कर देना उपयुक्त होगा :

::निर्विशेषविभ्रमविमर्श::

''दृश्यमानस्य जगतः श्रूयमाणा हि ब्रह्मता॥
प्रमाणत्वन्तु ज्ञानानाम् अविज्ञातस्य ज्ञापनम्॥१॥
'तज्जलान्'[१] इत्युपासायाः नैष्फल्ये त्वप्रमाणता॥
साफल्ये सति सर्वस्य ब्रह्मतैव ध्रुवा भवेत्॥२॥
प्रत्यक्षागम्यविषये श्रुतार्थे बाधकल्पने॥
नष्टैव सर्वथा ज्ञेया प्रमाणानां प्रमाणता॥३॥
'सत्यञ्चानृतञ्चापि'[२] ब्रह्मैवाभवत् स्वयम्॥
शक्तत्वाद् भवितुं सर्वं शून्ये नास्ति समर्थता॥४॥
सामर्थ्ये शून्यताहानिः शून्यत्वे त्वसमर्थता॥
शून्यं स्यात् प्रत्ययात्मैव ह्यर्थतः शून्यमेव तत्॥५॥
अथवा प्रत्ययापेतो ह्यर्थः शून्यं भवेद् यदि॥
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं लक्षणं सम्भवेद् नहि॥६॥
ब्रह्मणो लक्षणं यद्वै गोडपादैस्तु शून्यवत्॥
कल्पयित्वोच्यते तावद् 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्'[३]॥७॥

बुद्धेन भाषितं नो वा बौद्धैस्तु भाषितं स्फुटम्॥
सौगतानां मतं त्वेतत् शांकरैः मन्यते नवा॥८॥

तथाहि

'न सद् नासद् न सदसद् नचाप्यनुभयात्मकम्॥
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः''[४]॥९॥
''अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्॥
निर्विकल्पमनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्''[५]॥१०॥
अद्वैतवादिभिश्चैवं चतुष्कोटिनिरासतः॥
अपि स्वीक्रियते ब्रह्म मुक्तं कोटिचतस्रभिः॥११॥
निर्विशेषत्वतो नूनं तत्पार्थक्यमपाकृतम्॥
''सत्यं ज्ञानमनन्तं''[६]तदिति श्रुतिचोदितम्॥१२॥
निषेधात्मा पदं चैतत् प्रत्येकं वाक्यमेव वा॥
स्वरूपं ब्रह्मणो वा स्यात् चिन्त्यमेतत्तु सर्वथा॥१३॥
स्युः कस्यचिन्मते तेऽन्ये तेषां किं ब्रह्मता भवेत्?॥
माया हेतुः सृष्टिभ्रमेऽद्वैतिनां वचनं हि सत्॥१४॥
कथमेतादृशी वाणी भवितुं ब्रह्म शक्यते॥
नहीदृग्वचनं सृष्टेरधिष्ठानं मतं क्वचित्॥१५॥
ज्ञानं यन्त्रेऽस्ति शैत्यतापद्योतके नहि संशयः॥
कोऽत्र लोकेहि वेदान्ती ब्रूयात् तद् ब्रह्म श्रद्धया॥१६॥
आनन्त्यं गगने नूनं न तद् ब्रह्मतया मतम्॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं चेद् द्रव्यं वा शून्यमेव वा॥१७॥
कस्यचित्तु मते तत्किं वेदान्ते ब्रह्म सम्भवेत्?॥
स्वरूपलक्षणं चातो ह्येतद्वाक्यं कथं भवेत्?॥१८॥

ननु

ऋग्वेदे नासदीयाद्धि शून्यता सौगतैरिह॥
अङ्गीकृतेति चेन्नैवं पार्थक्यमुभयोरिह॥१९॥

ऋचि शून्यं ब्रह्म यद्वा तमोऽज्ञानं निरूपितम्॥
'सदेवे'[७]त्युपनिषत्प्रोक्तं ब्रह्मत्वाद्यकोटिगम्॥२०॥
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं नार्हति भवितुं क्षमम्॥
'तमः'पदेन वाच्यस्तु योह्यू 'आभुः'[८] ब्रह्मैव तत्॥२१॥
गीतायाञ्च भगवता 'न सत्तन्नासदुच्यते'[९]॥
सदसद्भिन्नमज्ञानं मृषाऽद्वैतिभिरुच्यते॥२२॥
मिथ्यात्वं ब्रह्मणो नैवाद्वैते सम्भवदुक्तिकम्॥
सदसतौ व्यक्ताव्यक्तौ भावाभावावपीरितौ॥२३॥
व्यक्तताव्यक्ततातीतं ब्रह्मैव श्रुतिचोदितम्॥
'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा'न्यायो नात्र युक्तिमान्॥२४॥
सौगतैः शून्यता प्रोक्ता सर्वस्य, शांकरैः पुनः॥
ब्रह्मणोऽपि समावेशः सर्वस्मिन् दर्शितो मुधा॥२५॥
निषेधशेषता चैवं स्वयं तस्य निराकृता॥
व्यक्ताव्यक्तादेर्निषेधात् शेषत्वन्तु श्रुतेर्मतम्॥२६॥
जन्मादिलक्षणं चातः स्वरूपं न कुतो भवेत्?॥
ब्रह्मण्युद्देश्यभूते तु विधेयानि हि त्रीण्यपि॥२७॥
उद्देश्यमिह व्याप्यं स्याद् विधेयं व्यापकं तथा॥
'जीवो ब्रह्मैवे'ति वाक्ये ब्रह्मणो नहि जीवता॥२८॥
'सिंहः पशु'रित्युक्तौतु सिंहो न व्यापको मतः॥
अतो जीवनिषेधेन कुतो ब्रह्मैक्यबोधनम्॥२९॥

वेदमानवचनार्थहानिकृद्
ह्यद्वयं सकलभेदभेदकम्॥
वेद्यवस्तुरहितैकभासनम्
ब्रह्म वैव गुणवत्त्वभूषितं॥३०॥
नामरूपगुणकर्मधारकं[१०]
तद्धि चैकमखिलेषु चान्वितम्॥

वस्तुकालकृतखण्डमण्डितम्
राजते ह्युपनिषत्सु सदैव॥३१॥
सर्वरूपमविशिष्टं ह्येकं
भक्तिमुक्तिसंसृतिप्रदमेकम्॥
स्वात्मनात्मनि विभावितभेदं
राजते ह्युपनिषत्सु सदैव॥३२॥
स्वयम्भासा संविद् निखिलमितिमानाद्यविषया
अवाच्या तच्छब्दैः सकलगुणधर्मादिरहिता॥
श्रुतौ ब्रह्मत्वं हि 'नहिनहि'[११]निषेधाधिकरणाद्
अहंब्रह्माऽविद्यामतिविषयता सैव विपदा॥३३॥
अहमाविद्यकोद्देश्यं विधेयं ब्रह्म वर्णितम्॥
निषिध्यते न ब्रह्मत्वम् उद्देश्ये त्वहमि स्फुटम्॥३४॥
'सिंहः पशुः'विधाने हि यथा सिंहस्य व्याप्यता॥
भागत्यागलक्षणौचित्यं नैवात्र सम्भवेत्॥३५॥
मायाविक्षेपशक्त्या चेद् ह्यरूपे रूपभासनम्॥
रूपत्वष्टृत्व[१२]मेतस्य श्रुत्युक्तं बाधितं भवेत्॥३६॥
शुक्ती रजतकर्त्री चेद् रूप्यं शाङ्करभाष्यवत्॥
नारोपितं भवेत् तद्धि कर्तृतारोपिते नहि॥३७॥
विकल्पाश्चानन्ता बहुभवनसङ्कल्पप्रभवाः
श्रुतास्ते त्वेकस्मिन्नितररहिते ब्रह्मणि पुनः॥
निजात्मन्यात्मानं सृजति बहुधा भेदरहितं
अहंत्वंतच्चैतद्ध्यखिलमिह सिन्धूर्मिसदृशम्॥३८॥
यच्छून्यवादिनां शून्यं तद् ब्रह्माद्वैतवादिनाम्॥
नचान्यतरयोरस्ति विशेषो निर्विशेषयोः॥३९॥
भगवत्पादैः शङ्करार्यैरपीदं
विष्णोर्नाम्नि शून्यनामोपपत्तौ॥

शून्यो विष्णुः निर्विशेषत्वहेतोः[१३]
अस्माकन्तु प्राकृतैः तैर्विहीनः[१४] ॥४०॥
विमर्शोऽयं विभ्रमस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः ॥
कृतो मयेह पूर्वेषां विदुषां वाग्विलोकनात् ॥४१॥

[१.छान्दो.उप.३।१४।१, २.तैत्ति.उप.२।६, ३.गौडपा.का.४।९९, ४.अद्व.व.सं.३।तत्त्व.र., ५.म.का.१८।९, ६.तैत्ति.उप.२।१, ७.छान्दो.उप. ६।२।१, ८.ऋक्.संहि.१०।१२९।४, ९.भग.गीता. १३।१२, १०.तैत्ति.आर.३।१२।७, ११.बृह.उप. २।३।६, १२.तैत्ति.आर.३।१३।१, १३.वि.स.ना.-भा.९२, १४.सर्वो.स्तो.१]

अस्तु. अतः उन कतिपय मुद्दोंपर जहां दोनों भाष्यकार एकमत हैं, उन्हें उपलक्षणविधया लक्ष्यगत करना उचित लगता होनेसे यहां प्रस्तुत करना चाहुंगा. मैं मानता हूं कि यह सम्पादकीय प्राक्कथन हिन्दीमें लिखा गया होनेसे भाष्योंसे उद्धृत वाक्यांशोंका भी हिन्दीभाषामें अनुवाद देना पाठकोंके सौकर्यार्थ और प्रस्तुत लेखनकर्ताके कर्तव्योपात्त भी होता. फिरभी अधुना गुगलगुरुसे या ए-आईआदिसे किसी भी भाषाका दूसरी भाषामें अनुवाद सुलभ होनेसे अपनी धारणाके अनुसार किये अनुवादको पाठकोंपर थोपना नहीं चाहता. अतः मेरे द्वारा किये गये अनुवादकी अपेक्षा रखे बिना पाठकवृन्द स्वयं अपने विश्वसनीय स्रोतोंसे ही अनुवाद प्राप्त कर तौलनिक विमर्शके स्वातन्त्र्यवश सन्तोषकारी अनुवाद प्राप्त कर लेंगे.

::शांकर और वाल्लभ वेदान्तप्रस्थानोंके कुछ निगूढ़ साम्यबिन्दुः:

शांकर और वाल्लभ वेदान्तके चिन्तनोंमें वैसे देखा जाये तो दक्षिणोत्तर ध्रुवोंके जैसा पारस्परिक प्रतीपभाव है. फिरभी कई एक मुद्दोंमें दोनोंमें अद्‌भुत साम्य भी परिलक्षित होता है, उसपर ध्यानाकर्षणार्थ यह प्रयास है.

१.पूर्णसहमति :

वेदान्तके इन दोनों प्रस्थानोंके साम्यके मुद्दोंपर विचार करनेपर सर्वप्रथम भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य तथा महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य दोनोंको ही बौद्ध मतीय विज्ञानवाद और शून्यवाद स्वीकार्य नहीं लगता है. इसे दोनों आचार्योंके शब्दोंमें निहार लेना उचित होगा :

> ''यद् उक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवद् जागरितगोचराअपि स्तम्भादिप्रत्ययाः विनैव बाह्येन अर्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात् स्वप्नादिप्रत्ययवद् इति. तत् प्रतिवक्तव्यम् : अत्र उच्यते न स्वप्नादिप्रत्ययवद् जाग्रत्प्रत्ययाः भवितुम् अर्हन्ति. कस्माद्? वैधर्म्याद् वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः. किं पुनः वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः. बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य 'मिथ्या मया उपलब्धो महाजनसमागमः इति. नहि अस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानन्तु मे मनो बभूव. तेन एषा भ्रान्तिः उद्‌बभूव'इति. अपिच स्मृतिः एषा यत् स्वप्नदर्शनम् उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्... नच स्वानुभवालापः प्राज्ञमानिभिः युक्तः कर्तुम्. अपिच अनुभवविरोधप्रसंगाद् जागरितप्रत्ययानां स्वतो निरालम्बनतां वक्तुम् अशक्नुवता अन्यस्य साधर्म्याद्

वक्तुम् इष्यते. नच यो यस्य स्वतो धर्मो न भवति सो अन्यस्य साधर्म्यात् तस्य सम्भविष्यति, नहि अग्निः उष्णो अनुभूयमानः उदकसाधर्म्यात् शीतो भविष्यति'', ''अपिच बाह्यार्थविज्ञानशून्यवादत्रयम् इतरेतरं विरुद्धम् उपदिशता सुगतेन स्पष्टीकृतम् आत्मनो असंबद्धप्रलापित्वं प्रद्वेषो वा प्रजासु विमुह्येयुः इमाः प्रजाः इति''

(ब्र.सू.शां.भा.२।२।२९-३२).

''''वैधर्म्यात् च न स्वप्नादिवत्' वैधर्म्यात् स्वप्नादिषु तदानीमेव स्वप्नान्ते वा वस्तुनो अन्यथाभावोपलम्भाद्. न तथा जागरिते, वर्षानन्तरमपि दृश्यमानः स्तम्भः स्तम्भएव. स्वस्य मोक्षे प्रवृत्तिव्याघातः 'च'कारार्थः''. '''सर्वथानुपपत्तेः च' किंबहुना बाह्यवादो यथा यथा विचार्यते तथा तथा असम्बद्धएवेति अलं विस्तारेण. 'च'काराद् वेदविरोधो मुख्यः''

(ब्र.सू.वा.भा.२।२।२९-३२).

एतावता विज्ञानवाद और शून्यवाद की अस्वीकृतिके बारेमें दोनों आचार्योंकी सुस्पष्ट सहमति झलकती है. यह कथा भिन्न है कि फिरभी शांकर मतमें उसी विज्ञानवादोक्त ''प्रपञ्चो मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नवत्''अनुमानको परिपुष्ट करनेको जब यों कहा जाता है कि ''**स्वप्नदृक्चित्तदृश्याः ते, न विद्यन्ते ततः पृथक्, तथा तद्दृश्यमेव इदं स्वप्नदृक् चित्तम् इष्यते. जाग्रच्चित्तेक्षणीयाः ते न विद्यन्ते ततः पृथक्**'' (गौडपा.कारि.६४-६६) तो वाल्लभ वेदान्तको लगता है कि स्वयंनिरस्त सौगतमतीय विज्ञानवादको ही यहां पुनः प्रस्थापित किया जा रहा है. इस अंशमें श्रीवल्लभाचार्य सहमत

नहीं हो पाते हैं; और, कहते हैं ''**नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचिद्, यदि जगतो मायिकत्वं कर्मार्थं ज्ञानार्थं वा अभिमतं स्यात्, तदा काण्डद्वयमध्ये क्वचिद् उक्तं स्याद्**'' (त.दी.नि.प्र.१।८२).

इसी तरह ब्रह्मको जब निर्गुण-निर्विशेष सिद्ध करनेको ''**अस्ति नास्ति अस्ति-नास्ति नास्ति-नास्ति इति च पुनः चल-स्थिरोभयाभावैः आवृणोत्येव बालिशः. कोट्यः चतस्रः एतास्तु ग्रहैः यासां सदावृतो भगवान् आभिः अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्... न एतद् बुद्धेन भाषितम्**'' (गौडपा.कारि.४।८३, ८४, ९९) ऐसे शांकर विधानोंमें शून्यवादी बौद्धोंकी पदावलीमें ही पुनः औपनिषदिक ब्रह्मको प्रतिपादित किया जाता लगता है तो श्रीवल्लभाचार्य प्रतिवाद प्रकट करते हैं कि ''**माध्यमिकस्तु मायावादिवद् अत्यसम्बद्धवादित्वाद् उपेक्ष्यः**'' (ब्र.सू.वा.भा.२।२।३३). क्योंकि शांकर वेदान्ती स्वीकारें या न स्वीकारें, स्वयं बौद्ध विद्वान् श्रीशान्तरक्षित और श्रीकमलशील तो शांकर दर्शनको अपने स्वसमान ही मानते हैं ''**'नित्यज्ञानविवर्तो अयं क्षितितेजोजलादिकः, आत्मा तदात्मकः च इति संगीरन्ते अपरे पुनः ग्राह्यलक्षणसंयुक्तं न किञ्चिद् इह विद्यते विज्ञानपरिणामो अयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते. तेषाम् अल्पापराधस्तु दर्शनं नित्यतोक्तितः**''**अपरे अद्वैतदर्शनावलम्बिनः च... नित्यैकज्ञानस्वभावम् आत्मानं कल्पयन्ति. अतः तेषामेव मतम् उपदर्शयन् आह 'नित्य'इति**'' (तत्त्वसंग्र.पञ्जि.३२८-३३०).

यहां शांकर वेदान्तकी बारीकीसे जो परिचित हैं, उन्हें तो यह भ्रान्ति नहीं सतानी चाहिये कि स्वयंप्रकाश चिद्रूप आत्मा तो अविकारी होनेके कारण उसका परिणाम बाह्यार्थ कैसे हो सकता है? उसे तो अविद्याका परिणाम माना गया है. यह

तो सर्वथा सच ही है. परिणामके भी, परन्तु, विकाररूप और विवर्तरूप दो प्रभेद मानें गये हैं. साथ ही साथ बौद्ध दर्शनमें भी [१]अविज्जा [२]संखार [३]विण्णान [४]नाम-रूप [५]सलायतन [६]फास [७]वेदना [८]तण्हा [९]उपादान [१०]भव [११]जाति [१२]दुःख [१]अविज्जा के निरन्तर चलते चक्रमें अविज्जाको ही मूल माना गया है. यद्यपि श्रीशंकराचार्यने **''ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वम् अद्वयम् एतद् न बुद्धेन भाषितम्''** (मां.का.भा.४।९९) ऐसे व्याख्यान द्वारा सादृश्यको नकार ही दिया है. फिरभी परवर्ती श्रीभारतीतीर्थ तथा श्रीमधुसूदनसरस्वती जैसे प्रकाण्ड विद्वानोंने तो मुक्तमनसे **''बाधाद् ऊर्ध्वन्तु भवत्येव शून्यत्वम्''**, **''इदम् उपलक्षणं वस्तुतः ब्रह्मभिन्ने शून्यवादिभिः अस्माकं साम्यम् इष्टमेव''** (वि.प्र.सं.वर्ण.१, अद्वै.सि.मिथ्या.प्र.) विधान द्वारा बाधज्ञानके बाद तो केवल ब्रह्म ही बच जाता है सो कहीं ब्रह्मको ही कोई शून्य न कह दे इसलिये श्रीमधुसूदन सरस्वतीने 'ब्रह्मभिन्ने' इतना और जोड़ दिया है. श्रीगौडपादाचार्यके वचनमें तो, किन्तु, शून्य ही प्रतीत हो रहा है. यह तो श्रीनागार्जुनकी **''न सद् न असद् न सदसद् नचापि अनुभयात्मकं चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः जगुः''** (मध्य.शा.१८।११) ऐसी स्वीकृति होनेके कारण श्रीगौडपादाचार्यके विधानका पार्थक्य अति दुरूह लगता है.

इन मौलिक मुद्दाओंको यदि दृष्टिगत न करें तो दोनों वेदान्तोंके बीच कुछ समान अवधारणाओंके जो विचार्यबिन्दु हैं उनपर लक्ष्यपात कर लेना भी आवश्यक लगता है.

२.अथातो ब्रह्मजिज्ञासा :

श्रीशंकराचार्यने ब्रह्मजिज्ञासासे पहले उपक्रमतया, उत्सूत्र अध्यासभाष्य प्रकट किया है. जैसे कि **''एवम् अयम् अनादिः**

अनन्तो नैसर्गिको अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्व-भोक्तृत्वप्रवर्तकः सर्वलोकप्रत्यक्षः (शास्त्रप्रामाण्यमूलक नहीं). अस्य अनर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते. यथाच अयम् अर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयम् अस्यां शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः'' (ब्र.सू.शां.भा.उपक्र.) यहां जीवचेतनामें भासित होते कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मोंको अनादि-अनन्त आविद्यक मिथ्याध्यासरूप स्वीकारा है. ब्रह्मजिज्ञासाकी अधिकारिताके विचारमें, परन्तु, नित्यानित्यवस्तुविवेक इहामुत्रार्थफलभोगविराग शमदमादिसाधनसम्पत्ति और मुमुक्षुता इन विशेषणोंका विमर्श करनेपर ब्रह्मजिज्ञासाके आनुषंगिक श्रवण-मनन-निदिध्यासनवश प्राप्त होती ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिके कारण इस आविद्यक मिथ्याध्यासको बाधित या निवर्त्य होता माना गया है. अतएव मिथ्या माना गया है. अन्यथा सर्वलोकप्रत्यक्षानुभूतिमें तो वह मिथ्यात्वेन भासित नहीं होता. अतएव ''ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं व्याहारिकसत्त्वम्'' लक्षण ही पारमार्थिकी सत्ता और प्रातिभासिकी सत्ता से व्यावहारिकी सत्ताका प्रभेदक माना गया है. इस कारण प्रागभावकी तरह उसे अनादिसान्त माना गया है, अनादि-अनन्त नहीं. अतएव विवरणप्रमेयसंग्रहकार पुराणवचन उद्धृत करते हैं :

> ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्च उपपत्तिभिः ज्ञात्वाच सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः. तत्र तावद्, मुनिश्रेष्ठा!, श्रवणं नाम केवलम् उपक्रमादिभिः लिङ्गैः शक्तितात्पर्यनिर्णयः सर्ववेदान्तवाक्यानाम् आचार्यमुखतः प्रियाद् वाक्यानुग्राहकशीलनं मननं भवेत्. निदिध्यासनम् ऐकाग्र्यं श्रवणे मननेऽपि च''.
>
> (विव.प्रमे.संग्र.प्रथ.वर्ण.१।२).

एतावता ब्रह्मजिज्ञासा ब्रह्मबोधक वेदोंके अध्ययनांगभूत प्रमाण होनेके बजाय मोक्षसाधनरूप अधिक प्रतीत होती है. श्रीवल्लभाचार्यके मतमें, परन्तु, ब्रह्मजिज्ञासा मोक्षोपायानुषंगिक न हो कर वेदार्थविचारानुषंगिक ही है. इसे वाल्लभ भाष्यकी उपक्रमकी पंक्तियोंमें देखा जा सकता है :

> ''इदम् अत्र विचार्यते वेदान्तानां विचारः आरम्भणीयो नवा... स्याद् एतद् 'न वेदार्थज्ञानमात्राय विचारः किन्तु ब्रह्मज्ञानाय. तस्यच आत्मरूपत्वात् तस्यच अविद्याव-च्छिन्नत्वाद् देहात्मभावदृढप्रतीतेः तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणो अभावाद् न वेदमात्राद् असम्भावना-विपरीतभावना-निवर्तकं ज्ञानम् उत्पद्यते प्रत्युत देहात्मभावदृढप्रतीतेः श्रुतेः उपचरितार्थत्वं स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यति' इति, मा एवम्, अलौकिकोहि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते तपसा वेदयुक्त्यातु प्रसादात् परमात्मनः. नहि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्तुं शक्यः. ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तवचनेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्. अणुमात्रम् अन्यथा कल्पनेऽपि दोषः स्यात्... सन्देहवारकं शास्त्रं बुद्धिदोषात् तदुद्भवो विरुद्धशास्त्रसम्भेदाद् अङ्गैश्च अशक्यनिश्चयः तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्तव्यः सर्वनिर्णयः''.
>
> (ब्र.सू.वा.भा.१।१।१)

यहां यह खुलासा मिल जाता है कि वेदान्तवाक्योंके भलीभांति विचार करनेपर प्रमाण प्रमेय साधन और फल (अथवा समन्वय अविरोध साधन और फल) के प्रतिपादक सभी वचनोंका प्रमुख

तात्पर्य ब्रह्मपर्यवसायी हो जानेमें है. अत: आरम्भिक विप्रतिपत्तिपर ध्यान न दे तो विचारसाम्य सिद्ध करनेवाला श्रीशंकराचार्यका भी वचन मननीय है :

> ''तस्माद् ब्रह्मजिज्ञासोपन्यासमुखेन वेदान्तवाक्यमीमांसा तदविरोधितर्कोपकरणा नि:श्रेयसप्रयोजना प्रस्तूयते... एतदेव अनुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वसाधनं मन्यन्ते ईश्वरकारणिन:. ननु इहापि तदेव उपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे! न, वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणां वेदान्तवाक्यानि सूत्रै: उदाहृत्य विचार्यन्ते, वाक्यार्थविचारणाध्यवसाननिर्वृत्ताहि ब्रह्मावगति: न अनुमानादिप्रमाणान्तरनिर्वृत्ता. सत्सुतु वेदान्तवाक्येषु जगतो जन्मादिकारणवादिषु तदर्थग्रहणदाढ्र्याय अनुमानमपि वेदान्तवाक्याविरोधि प्रमाणं भवद् न निवार्यते''.
>
> ''अपिच क्वचिद् गौण: शब्दो दृष्टो नच एतावता शब्दप्रमाणके अर्थे गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वासप्रसंगात्''.
>
> ''यद् उक्तं परिनिष्पन्नत्वाद् ब्रह्मणि प्रमाणान्तराणि सम्भवेयु: इति तदपि मनोरथमात्रं, रूपाद्यभावाद्धि न अयम् अर्थ: प्रत्यक्षस्य गोचरो, लिङ्गाद्यभावाद् न अनुमानादीनाम् आगममात्रसमधिगम्यएव अयम् अर्थो धर्मवत्''.
>
> (ब्र.सू.शां.भा.१।१।१-२,७, २।१।११).

अर्थात् वेदान्तके दोनों ही प्रस्थानोंका, अन्यान्य विषयोंमें चाहे जितना भी मतभेद हो, वेदवचनोंका यथाश्रुतार्थ ही तात्पर्यावधारण

करना चाहिये, लक्षणा/गौणी वृत्तिओंसे नहीं और यह वेदैकसमधिगम्य तत्त्व ब्रह्म ही है, जहां वेदामूलक प्रमाणोंको किसी भी रूपमें अवकाश नहीं है. एतदर्थ दोनों श्रौत प्रस्थान सर्वथा प्रतिश्रुत हैं.

३.जन्माद्यस्य यतः :

शारीरक भाष्यके ये वचन, इस सन्दर्भमें, नितान्त अवधेय हो जाते हैं **''अस्य' जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य, अनेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य, प्रतिनियतदेशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य, मनसापि अचिन्त्यरचनारूपस्य 'जन्मस्थितिभङ्गं यतः' सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद् भवति तद् ब्रह्म इति वाक्यशेषः... न यथोक्तविशेषणस्य जगतो यथोक्तविशेषणम् ईश्वरं मुक्त्वा अन्यतः प्रधानाद् अचेतनाद्, अणुभ्यो, अभावात्, संसारिणो वा उत्पत्त्यादि सम्भावयितुं शक्यम्. नच स्वभावतो, विशिष्टदेशकालनिमित्तानाम् इह उपादानात्''** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।२).

श्रीशंकराचार्यके इस प्रतिपादनका तो श्रीवल्लभाचार्यने भी मानों भावानुवाद (पेराफ्रेज़िंग) न केवल इसी सूत्रके अणुभाष्यमें प्रत्युत तत्त्वदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरण तथा सिद्धान्तमुक्तावली नामक ग्रन्थोंमें भी दोहरा दिया है :

> **''वेदेनैव तावत् कर्तृत्वं बोध्यते. वेदश्च परमाप्तो अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति. अन्यथा सर्वत्र अविश्वासप्रसङ्गात्. नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोधः 'सत्यत्वा'दिपदानां, धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः. नच कर्तृत्वं संसारिधर्मो**

देहाद्यध्यासकृतत्वाद् इति वाच्यं प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव नतु अलौकिके कर्तृत्वे. अतएव 'अस्य'इति आह. 'अस्य'इति पुरोवर्ती प्रपञ्चः इदमा निर्दिश्यते. अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्त ब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य अनायासेन उत्पत्तिस्थितिभङ्गकरणं न लौकिकं भवति. प्रतीतं हि निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतं, सत्यत्वादयश्च लौकिकाः ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्''.

''अयं प्रपञ्चो न प्राकृतो, नापि परमाणुजन्यो, नापि विवर्तात्मा, नापि असतः सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यः तादृशोऽपि भगवद्रूपो, अन्यथा असतः सत्ता स्याद्. साच वैनाशिकप्रक्रिया अग्रे निराकरिष्यते''.

''अपरं तत्र पूर्वस्मिन् वादिनो बहुधा जगुः मायिकं सगुणं कार्यं स्वतन्त्रं चेति नैकधा तदेव एतत्प्रकारेण भवति इति श्रुतेः मतम्''.

(ब्र.सू.वा.भा.१।१।२, त.दि.नि.प्र.१।२३, सि.मु.४-५).

यह तो शांकर वेदान्तके अध्येताओंसे छिपा हुवा नहीं है कि जगत्कारणभूत ब्रह्मका कर्तृत्वरूप धर्म पारमार्थिक नहीं माना जा सकता वह तो केवल ब्रह्मज्ञानेतराबाध्य व्यावहारिक सत्य ही है. बादरायणसूत्रोंमें तो, परन्तु, जिज्ञास्य विषयका ही जगत्कर्तृब्रह्मतया प्रतिपादन है, जगत्कारणभूत होनेके कारण. सो इस जिज्ञास्य ब्रह्मसे ज्ञेयब्रह्मको भिन्न माने बिना अन्य कोई उपाय बच नहीं जाता.

इसे उपास्य ब्रह्म माननेमें भी यह एक विप्रतिपत्ति उभरती है कि उपासक-अनुपासक सकल जीवराशिको प्रकट करनेवाला यह शबल ब्रह्म स्वोत्पाद्य उपासकोंका सृष्टिकर्ता होनेसे, उनके द्वारा उपासनार्थ सृष्टिहेतुतया कल्पित हो नहीं सकता. निष्कर्षतः स्वयं भगवत्पाद भी स्वीकारते हैं :

> **''यद् उक्तं ब्रह्मैकत्वे यस्मा उपदेशो यस्यच उपदेशग्रहणफलं तदभावाद् एकत्वोपदेशानर्थक्यम् इति. तदपि न, अनेककारकसाध्यत्वात् क्रियाणां कः चोद्यो भवति! एकस्मिन् ब्रह्मणि निरुपाधिके न उपदेशो, न उपदेष्टा, नच उपदेशग्रहणफलम्. तस्माद् उपनिषदां च आनर्थक्यमेव इति अभ्युपगतमेव''**
>
> (बृह.उप.शां.भा.२।२।१)
>
> **''न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा नच त्वं नच अहं नच अयं प्रपञ्चः स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः तदेको अवशिष्टः शिवः केवलो अहम्''**
>
> (दशश्लो.७).

अर्थाद् जिज्ञास्य ब्रह्मके सन्दर्भमें जगन्मिथ्यात्ववाद अर्थात् बाह्यार्थकल्पिततावाद और निर्विशेषब्रह्मवाद की दृष्टिसे विचार करने पर जिज्ञासु जिज्ञासा जिज्ञास्य और जिज्ञासोपशामक उपदेश के प्रभेद न तो थे, न हो सकते हैं; और, न कभी सम्भव होंगे. अतः जिज्ञासा और तदुपशामक उपदेशव्यापार निरर्थक कालक्षेप ही सिद्ध होता है. फिरभी जैसे प्रभेदको मान कर जिज्ञासानुष्ठान हो रहा है, वहां तो दोनों दार्शनिक एकमत हो रहे हैं. वैसे यह भी एक तर्क उपस्थापित किया जाता है कि जगत्कर्ता

शबल ब्रह्म किसी एकाद् या सभी जीवोंकी अविद्यासे कल्पित होनेके बजाय अनादिमायाद्वारा प्रदर्शित या कल्पित होता है ऐसा माननेपर अन्योन्याश्रय दोषका परिहार शक्य हो जाता है. फिरभी यह प्रश्न तो इस उपपत्तिको उदरसात् करने सुरसा की तरह अपना मुख फैला ही रखता है कि अनादिमाया जड़रूपा होनेसे स्वयं तो कल्पना करने समर्थ हो नहीं सकती दर्पणकी तरह और द्रष्टाको दरसाती हो ऐसा सोचने पर सभीको दरसाती हो तो उपनिषद्बोधरहित मानवबालक पशुपक्षी या चार्वाक जैन बोद्ध आदिको क्यों नहीं दरसाती? केवल शांकर वेदान्तिओंने ऐसा क्या महापराध किया है कि उनको ही दरसाती है! और केवल ब्रह्मादि सदृश एकाद देवव्यक्तिको दरसाती हो तो सृष्टिभ्रम उसे ही होना चाहिये अन्यको नहीं.

४.शास्त्रयोनित्वाद् :
भाष्यकार भगवत्पाद इस सूत्रके भाष्यमें कहते हैं :

''जगत्कारणत्वप्रदर्शनेन सर्वज्ञं ब्रह्म इति उपक्षिप्तं, तदेव द्रढयन् आह 'शास्त्रयोनित्वाद्' महतः ऋग्वेदादेः 'शास्त्र'स्य अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य, प्रदीपवत् सर्वा-र्थावद्योतिनः, सर्वज्ञकल्पस्य 'योनिः' कारणं ब्रह्म. नहि ईदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञाद् अन्यतः सम्भवो अस्ति... किमु वक्तव्यम् अनेकशाखाभेदभिन्नस्य देवतिर्यङ्मनुष्यवर्णाश्रमादिविभा-गहेतोः 'ऋग्वेदा'द्याख्यस्य सर्व-ज्ञानाकरस्य अप्रयत्नेनैव लीलान्यायेन पुरुषनिःश्वासवद्, यस्माद् महतो भूताद् योनेः सम्भवः... अथवा यथोक्तम् ऋग्वेदादिशास्त्रं योनिः

कारणं प्रमाणम् अस्य ब्रह्मणो यथावत् स्वरूपाधिगमे, शास्त्रादेव प्रमाणाद् जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्म अधिगम्यते इति अभिप्रायः.''

(ब्र.सू.शां.भा.१।१।३).

इस विधानकी महाप्रभुके व्याख्यानसे तुलना करनी हो तो **''शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः, 'शास्ति'इति शास्त्रं वेदः. सामान्यग्रहणं पूर्वकाण्डे पूर्वसृष्टिवाक्यानां सङ्ग्रहार्थम्... नामलीलायाःअपि न पृथग् निरूपणं प्रपञ्चमध्यपातात''** (ब्र.सू.वा.भा.१।१।२) इन दोनों वचनोंके अवलोकन करनेपर एक बात तो निःसन्देह स्पष्ट हो जाती है जिस ब्रह्मजिज्ञासाके समाधानार्थ सूत्रकार ब्रह्मको शास्त्रप्रमाणोक्त जगत्कारण मान रहे हैं, दोनों भाष्यकारोंके मतमें, वह न तो निर्गुण निर्विशेष है और न अवाच्य ही है. फिरभी शास्त्रप्रतिपाद्य ब्रह्मका शास्त्रीय पदवाक्योंसे अवाच्य कार्यकारणभावातीत होना केवल 'प्रसक्तप्रतिषेध'न्यायेन निषेधशेषतया ही शास्त्रीय पदवाक्योंसे लक्षित होना शांकर वेदान्तको स्वातन्त्र्येण अभिमत है. यह निषेधशेषतया प्रतिपादित ब्रह्म शास्त्रवचनप्रवृत्तिसे पूर्व भी **''उच्यते न तावद् अयम् एकान्तेन अविषयो, 'अस्मत्'प्रत्ययविषयत्वाद् अपरोक्षत्वात् च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः... एवम् अविरुद्धः प्रत्यगात्मन्यपि अनात्माध्यासः. तमेतम् अविद्याख्यम् आत्मानात्मनोः इतरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहाराः लौकिकाः वैदिकाः च प्रवृत्ताः सर्वाणि च शास्त्राणि विधिनिषेधपराणि''** (ब्र.सू.शां.भा.१।१।०) ऐसे विधान द्वारा निजात्माकी अनुभूतिके विषयतया भी सिद्ध माना है. ऐसे निजानुभूतिके विषयरूप निर्विशेष स्वप्रकाशरूप आत्माकी निर्विशेष ब्रह्मरूप होनेकी विशेषता(!) परन्तु श्रुत्यादि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित मानी गयी हैं. यहां अवश्य दोनों आचार्योंके बीच तीव्र मतभेद उभर आता

है और महाप्रभु कहते हैं ''**शब्दब्रह्मव्यतिरेकेण परब्रह्मणः प्रकाशनं न भवति. शब्दब्रह्मणैव परब्रह्म प्रकाश्यते स्वप्रकाशमपि. स्वप्रकाशत्वमपि तस्य वेदेनैव उक्तम्** (सुबो.३।१२।४६). अतएव भागवतपुराणके ''**नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये**'' (भाग.पुरा.१-०।१६।४२) इस वचनका अवलम्बन कर महाप्रभु कहते हैं '' '**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्'. वस्तुतः श्रुतौ नानावाक्यानाम् एकवाक्यता निरूपिता सर्वभवनसामर्थ्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वात्**'' (त.दी.नि.प्र.१।७०). यहां यह उल्लेखनीय हो जाता है कि शांकर वेदान्तमें ब्रह्म लौकिक/वैदिक शब्दोंसे अवाच्य होनेपर भी श्रीगौडपादाचार्योक्त शब्दघटित लक्षणोंके द्वारा तो प्रतिपाद्य विषय तो माना ही गया है, 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त'पदवाच्य शबल ब्रह्म तो हो नहीं सकता. उस मायाके विपरीत जो सर्वथा वाच्य होनेपर भी सदसत्त्वेन निर्वचनीय नहीं हो पाती.

वाल्लभ वेदान्तका इस बारेमें अभिप्राय यह है कि सब कुछ जब ब्रह्म ही बना है तो सभी तरहके शब्दोंकी असंकुचितवृत्तिसे तो ब्रह्म ही वाच्य है. ऐसे सर्वविध नामोंद्वारा वाच्य ब्रह्मके स्वरूपका लक्षण सोचनेपर इतरव्यावर्तक पद खोज पाना शक्य नहीं होता. अतः ब्रह्मके बहुभवनसामर्थ्य और सत्यसंकल्प वश लीलात्मना प्रकट होनेपर ही ब्रह्मका लक्षणद्वारा निरूपणार्ह बन पाता है. अन्यथा स्वरूपलक्षण शक्य नहीं है. अतः सुस्पष्टतया देखा जा सकता है कि शांकर वेदान्तमें स्वरूपलक्षणपर भार देनेके लिए कार्यलक्षणको गौण बनाया गया है. जबकि वाल्लभ वेदान्तमें स्वरूपदृष्ट्या ब्रह्मलक्षण सम्भव ही नहीं परन्तु एकमेवाद्वितीय ब्रह्मकी पारमार्थिकी बहुभवनकी सामर्थ्य और अप्रतिहत संकल्पके वश श्रुत्युक्त कार्यलक्षण निश्चित ब्रह्मप्रमापक बन जाता है.

शांकर वेदान्तमें, यहां, आविद्यक अध्यासके निवर्तनार्थ आविद्यक ब्रह्मके आविद्यक लक्षण-प्रमाण दिये गये हैं, क्योंकि ज्ञेय ब्रह्म तो सर्वथा अप्रमेय अथवा आविद्यकाध्यासके अधिष्ठानतया ही केवल प्रमेय हो पाता होनेसे स्वरूपत: तो अलक्ष्य ही होता है. अत: आविद्यक या अनाविद्यक, चाहे जिस ब्रह्मकी जिज्ञासा हो रही हो परन्तु उस जिज्ञासाके समाधानार्थ ब्रह्मके बारेमें मिथ्या व्यावहारिक लक्षण-प्रमाण दिये जा रहे हैं!

इस निर्विकल्पक प्रमाताप्रमितिप्रमेयद्वैतवर्जित स्वयंप्रकाश श्रुत्येकप्रतिपाद्य ब्रह्मको माध्यमिकोक्त शून्य तत्त्वके **''अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैर् अप्रपञ्चितम् अविकल्पम् अनानार्थम् एतत् तत्त्वस्य लक्षणम्''** (मध्यम.शा.१८।९) लक्षणका अविषय कैसे माना जा सकता है? यह तो स्वयं भगवत्पाद और महाप्रभु के बीच प्रतितन्त्र सिद्धान्ततया अभिमत है, यह हम देख चुके हैं.

५.शब्दे इति चेद् न, अत: प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् :

यहां भी दोनों ही आचार्योंकी सहमति उल्लेखनीय लगती है. लौकिक शब्दों और उनके अर्थोंसे वैदिक शब्द और उनके अर्थो का प्रभेद अनित्य और नित्य होनेके रूपमें उभयमतप्रतिपन्न है :

> **''औत्पत्तिकं हि शब्दस्य अर्थेन सम्बन्धम् आश्रित्य 'अनपेक्षत्वाद्'इति वेदस्य प्रामाण्यं स्थापितं... नित्यस्य शब्दस्य, नित्येन अर्थेन, नित्ये सम्बन्धे प्रतीयमाने यद् वैदिके प्रामाण्यं स्थितं तस्य विरोध: स्याद् इति चेद्, न अयमपि अस्ति विरोध:. कस्मात्? 'अत: प्रभवात्',**

अतएव हि वैदिकात् शब्दाद् देवादिकं जगत् प्रभवति. ननु 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र ब्रह्मप्रभवत्वं जगतो अवधारितं कथम् इह शब्दप्रभवत्वम् उच्यते?... अर्थाः अनित्याएव उत्पत्तिमत्त्वात्. तदनित्यत्वे तद्वाचिनां वैदिकानां शब्दानामपि 'वस्वा'दिशब्दानाम् अनित्यत्वं केन निवार्यते?... नहि गवादिव्यक्तीनाम् उत्पत्तिमत्त्वे तदाकृतीनामपि उत्पत्तिमत्त्वं स्यात्... नच इदं शब्दप्रभवत्वं ब्रह्मप्रभवत्ववद् उपादानाभिप्रायेण उच्यते. कथं तर्हि? स्थिते वाचकात्मना नित्ये नित्यार्थसम्बन्धिनि शब्दव्यवहारार्थव्यक्तिः 'अतः प्रभवः' इति उच्यते... 'नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनं वेदशब्देभ्यएव आदौ निर्ममे स महेश्वरः (मनुस्मृ.१।२१) इति च... अपिच चिकीर्षितम् अर्थम् अनुतिष्ठन् तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तम् अर्थम् अनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षम् एतत्. तथा प्रजापतेरपि सृष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दाः मनसि प्रादुर्बभूवुः पश्चात् तदनुगतान् अर्थान् ससर्ज इति गम्यते. तथाच श्रुतिः 'स भूः इति व्याहरत् स भूमिम् असृजत' (तैत्ति.ब्राह्म.२।२।४।२) इत्येवमादिका 'भूः'आदिशब्देभ्यएव मनसि प्रादुर्भूतेभ्यो भूरादिलोकान् सृष्टान् दर्शयति... ततश्च नित्येभ्यः शब्देभ्यो देवादिव्यक्तीनां प्रभवः इति अविरुद्धम्... अतएव नित्याकृतेः देवादेः जगतो वेदशब्दप्रभवत्वाद् वेदशब्दे नित्यत्वमपि प्रत्येतव्यम्''.

''इतश्च 'प्रकृतिः' = ब्रह्म यत्कारणं ब्रह्मप्रक्रियायां 'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' (तैत्ति.उप.२।७) इति आत्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं च दर्शयति... इतश्च

'प्रकृतिः' = ब्रह्म यत्कारणं ब्रह्मणएव विकारात्मना परिणामः, सामानाधिकरण्येन आम्नायते 'सच्च त्यच्च अभवद् निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च' (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिना''.

(ब्र.सू.शां.भा.१।३।२८-२९, १।४।२६).

''तदेवंभूतं जगद् अव्याकृतं सद् नामरूपाभ्यामेव नाम्ना रूपेणैव च व्याक्रियते. 'व्याक्रियते'इति कर्मकर्तृप्रयोगात् तत् स्वयमेव आत्मैव व्याक्रियत='वि आ अक्रियत' विस्पष्टं नामरूपविशेषावधारणमर्यादं व्यक्तीभावम् आपद्यते''.

(बृह.उप.शां.भा.१।४।७).

''सः यः 'सदा'ख्यः एषः उक्तो अणिमा अणुभावो जगतो मूलम् 'ऐतदात्म्यम्' एतत् सद् आत्मा यस्य सर्वस्य तद् एतदात्म तस्य भावः ऐतदात्म्यम्. एतेन 'सदा'ख्येन आत्मना आत्मवत् सर्वम् इदं जगत्. न अन्यो अस्ति अस्य आत्मा संसारी''.

(छान्दो.उप.शा.भा.६।८।८).

यहां यह विशेषतः उल्लेखनीय हो जाता है उल्लिखित आचार्यवचनोंको श्रीभारतीतीर्थकी ''**अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम च इति अंशपञ्चकम् आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्**'' (वाक्यसु.दृग्.वि.२०) इस कारिकाके साथ एकवाक्यतया निहारनेपर ब्रह्मको परिणाम्युपादान कारणतया न ले कर विवर्ताधिष्ठानतया या बाधितार्थसमानाधिकरणतया लेते हैं तो, सत्ता भान और प्रियता रूपी धर्मोंसे ब्रह्मको सधर्मक होनेसे बचानेको पुनः अन्-असत् अ-जड़ और दुःखरहित स्वीकारा जाता है. ऐसी स्थितिमें आरोपित

रजतमें अनुगततया भासित होते शुक्तिकाके चाकचिक्योपम धर्म अन्-असत् अ-जड़ और अदुःख तो भासित होते नहीं. अतः ये नित्यसम्बन्धशाली शब्दार्थोपस्थापित धर्म अर्थहीन हो जाते हैं. न तो ब्राह्मिक न जागतिक और न मायिक रह पाते हैं.

ऐसी स्थितिमें नामरूपकर्मात्मक धर्मोंको 'ऐतदात्म्य'श्रुत्युदित ब्रह्मात्मक ही क्यों न मान लेना? और मान लें तब तो वाल्लभ तथा शांकर वेदान्तके उभयप्रस्थानोंमें ऐकमत्य फलित हो ही जाता है.

यथा

''अतः प्रभवात्'. 'अतः' शब्दात् प्रभवः शास्त्रोक्तपदार्थानाम्. वेदोक्ताः सर्वेएव पदार्थाः आधिदैविकाःएव पुरुषावयवभूताः, सर्वानुकारित्वाद् भगवतः. अतो नामप्रपञ्चो वेदात्मको भिन्नएव अङ्गीकर्तव्यः. स केवलं शब्दैकसमधिगम्यो 'वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'(भग.गीता.१५।१५) इति.''

''नमो भगवते तस्मै कृष्णाय अद्भुतकर्मणे रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः''.

(ब्र.सू.वा.भा.१।३।२८. त.दी.नि.१।१).

अतः दोनों आचार्योंके मतमें यदि वैदिक शब्द नित्य होनेके कारण नित्यार्थके वाचक हों, और निखिल रूपोंके प्रादुर्भावक भी हों तो वेदैकसमधिगम्य ब्रह्मके बारेमें वेदके ही शब्दोंसे प्रतिपादित रूप गुण धर्म क्रिया क्यों-कैसे बाधित हो पायेंगे, ब्रह्माद्वैतकी प्रतिपादिका श्रुतिद्वारा? 'सावकाशनिरवकाश'न्यायेन कथञ्चित् यदि

बाधित होते भी हों तो ''**तस्मै नूनम् अभिद्यवे वाचा, विरूप!, नित्यया**''.''**अनादिनिधना वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा आदौ वेदमयी दिव्या**'' (ऋक्संहि.८।७५।६ ,महाभा.शां.प.२३१।५६) वचनोक्त नित्यता भी क्या बाधित नहीं हो जायेगी ?

६.[१]प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, [२]आत्मकृते: परिणामाद्, [३]योनिश्च हि गीयते, [४]भोक्त्रापत्ते: अविभाग: चेत् स्याद् लोकवत् [५]सत्त्वात् च अवरस्य, [६]असद्व्यपदेशाद् इति चेद् न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्, [७]पटवच्च, [८]उपसंहारदर्शनाद् नेति चेद् न क्षीरवद्धि :

इन ब्रह्मसूत्रोंपर भगवत्पादने सूत्रपदानुरोधि(यहां विस्तारभयसे उद्धृत नहीं किया मूलग्रन्थ अवलोकनीय है) व्याख्यान लिखनेके बाद जो स्वमतप्रकाशन किया ''**नच इयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुति:, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्**'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।३३) यहां भगवत्पाद इन ब्रह्मसूत्रोंका पारमार्थिकी सृष्टिके विषयक होना अस्वीकार नहीं करते परन्तु इन ब्रह्मसूत्रोंके विषयवाक्यतया उपन्यस्त श्रुतिवचनोंको अपारमार्थिकी सृष्टिके विषयक होना दिखला रहे हैं. सम्भवत:, इसीके अवलोकनके बाद श्रीमधुसूदनसरस्वतीने भगवत्पादकी स्तुतिमें ''**न स्तौमि तं व्यासम् अशेषम् अर्थं सूत्राक्षरै: यो न बबन्ध सम्यग् विनापि तै: संग्रथिताखिलार्थं तं शंकरं नौमि सुरेश्वरं च**'' (द.श्लो.सि.बि.१०) शब्दोंका प्रयोग करना उचित माना लगता है. महाप्रभु, परन्तु, कहते हैं ''**ननु यथा व्यासो महान् तथा शंकरादिरपि. तत: तद्विरोधात् कथम् एवं निर्णय: ? तत्र आह 'व्यासगौरवाद्'इति, व्यासो अस्माकं गुरु:. अतो व्यासाभिप्रेतविरुद्धं न अङ्गीक्रियते**''(त.दी.नि.प्र.१।८३). अत: इन सूत्रोंपर शारीरक भाष्यकी निरूपणरीति तो महाप्रभु सर्वथा अभीष्ट ही होनेपर भी इन सूत्राशयके विपरीत शारीरकभाष्यका प्रत्याख्यान महाप्रभु इन शब्दोंमें करते हैं :

"[1]एवं ब्रह्मवादेऽपि स्मृत्युक्ता प्रकृतिः समवायिकारणं ब्रह्म निमित्तकारणम् इत्येवं प्राप्ते उच्यते 'प्रकृतिः च' निमित्तकारणं समवायिकारणं च ब्रह्मैव... कुतः एतत्? 'प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'. 'प्रतिज्ञा'='येन अश्रुतं श्रुतं भवति'(छान्दो.उप.६।१।२). 'दृष्टान्तो'='यथा एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्'(छान्दो.उप.६।१-।४)... समवायिकारणज्ञाने हि कार्यज्ञानम्. उभयोः ग्रहणम् उपचारव्यावृत्त्यर्थम्".

[2]"'आत्मकृतेः' 'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'(तै-त्ति.उप.२।७) इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात्. 'परिणामात्' परिणमते कार्याकारेणेति. अविकृतमेव परिणमते सुवर्णम्... तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणं ब्रह्मणःएव इति सिद्धम्".

[3]"योनिः च ब्रह्मैव... अक्षरपुरुषोत्तमभेदेन तथात्वम्. तस्माद् योनिरपि भगवान् पुरुषोऽपि. सर्वं वीर्यं जीवश्च सर्वं भगवान् इति 'इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'(बृह.उप.२।४।६) इति सिद्धं केनापि अंशेन (ब्रह्मेतर)प्र-कृतिप्रवेशो नास्ति...".

[4]"ब्रह्मणो निर्विशेषस्य कारणत्वाद् भोक्तुः भोग्यत्वं भोग्यस्य भोक्तृत्वम् आपद्यते अतो न विभागः इति चेत् स्याद् लोकवत्. यथा कटककुण्डलादीनां सुवर्णकारणत्वेन सुवर्णानन्यत्वेऽपि न कटकस्य कुण्डलत्वम् एवं न भोग्यस्य भोक्तृत्वम्."

[5]"'अवरस्य'प्रपञ्चस्य सत्त्वात् त्रैकालिकत्वाद् ब्रह्मत्वम्."

६''' 'असद्वा इदम् अग्रे आसीद्' (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेद् न अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशः. कुतः ? 'वाक्यशेषात्' 'तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत' (तैत्ति.उप.२।७) इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्. 'इदम् आसीद्' इति पदप्रयोगात् च.''

७'''यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते विस्तृतस्तु गृह्यते. तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि.''

८'''ब्रह्मैव केवलं जगत्कारणम् इति उक्तं... 'क्षीरवद्धि' यथा क्षीरं कर्तारम् अनपेक्ष्य दधिभवनसमये दधि भवति एवमेव ब्रह्मापि कार्यभवनसमये स्वयमेव सर्वं भवति''

इस अन्तिम सूत्रके भाष्यमें भगवत्पादीया पंक्ति अतीव प्रभावोत्पादिका होनेसे उद्धृत करनेका लोभसंवरण शक्य न होनेसे कर देना चाहता हूं :

''ननु क्षीरमपि दध्यादिभावेन परिणममानम् अपेक्षतेएव बाह्यं साधनम् औष्ण्यादिकमिति कथम् एवम् उच्यते 'क्षीरवद्धि'इति, नैष दोषः स्वयमपि हि क्षीरं यावतीं च परिणाममात्राम् अनुभवति तावत्येव त्वर्यते तु औष्ण्यादिना दधिभावाय. यदिच स्वयं दधिभावशीलता न स्याद् नैव औष्ण्यादिनापि बलाद् दधिभावम् आपद्येत. नहि वायुः आकाशो वा औष्ण्यादिना बलाद् दधिभावम् आपद्यते. साधनसामग्र्या च तस्य पूर्णता सम्पाद्यते. परिपूर्णशक्तिकं तु ब्रह्म न तस्य अन्येन केनचित् पूर्णता सम्पादयितव्या. श्रुतिश्च भवति 'न तस्य कार्यं

करणं च विद्यते न तत्समः च अभ्यधिकः दृश्यते परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेता.उप.६।८) इति. तस्माद् एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद् विचित्रपरिणामः उपपद्यते''.

(ब्र.सू.शां.भा.२।१।२४).

महाप्रभुको अभिमत सर्वब्रह्मतादात्म्यवाद मानों उनके मुखसे छीन कर कितने मनोहारी प्रभावोत्पादक शब्दोंमें भगवत्पादने महाप्रभुसे पांच-सातसौ वर्षपूर्व ही प्रकट कर दिया!

यहां तो स्थालिपुलाकन्यायेन कतिपय मुद्दे ही गिनाये हैं. इस सूचीको और भी बढ़ाया जा सकता है. मेरे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि ये स्वलिखित पंक्तियां भगवत्पादको सिद्धान्ततः मान्य हैं. केवल बादरायणसूत्रोंका यहां अन्यथाव्याख्यान करना भाष्यकारको भी अभीष्ट नहीं लगा. सो उन्होंने प्रथम सूत्रकाराभीष्ट व्याख्या करनेके बाद स्वाभीष्ट वर्णकान्तर भी प्रस्तुत किया है.

यहां भगवत्पादरचित विभिन्न भगवद्रूपोंकी भक्तिभावपरिपूरित पदावली, उदाहरणतया, **''सत्यपि भेदापगमे, नाथ!, तव अहं न मामकीनः त्वं सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः''** (वि.ष.प.३) जैसे भक्तहृदयार्वजक भावोद्गारोंमें ब्रह्मजीव-तादात्म्यवाद या बिम्बप्रतिबिम्ब-वाद के मुद्दोंको उठाना नीरस निष्ठुरता होगी.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके वेदादिशास्त्रनिर्भर मतमें भगवान् शंकरको श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे लगी रहनेवाली वेणुस्वरूप माना गया है.

और उनके अवतारस्वरूप होनेके कारण भगवत्पादकी भक्तिके बारेमें कुछ भी बोलना अनधिकारचेष्टा होगी.

::'प्राभञ्जन'ग्रन्थकर्ता गो.श्रीविट्ठलनाथजी::

ग्रन्थकार श्रीकन्हैयालालजी (उपनाम श्रीविट्ठलनाथजी) औरस परम्परामें श्रीविट्ठलनाथात्मज श्रीवल्लभजीके आत्मज हैं. ये महाप्रभु [१]श्रीवल्लभाचार्यके वंशमें [२]प्रभुचरण श्रीविट्ठलनाथजी [३]श्रीगिरिधरजी [४]श्रीगोपीनाथजी [५]श्रीवल्लभ(प्रभु)जी [६]श्रीरणछोड़जी [७]श्रीव्रजजीवनजी (व्रजके बाद बुंदी राज्यमें बस गये) [८]श्रीविट्ठलनाथजी [९]श्रीवल्लभजीके बाद दसवीं पीढीपर विक्रम संवत् १८७८ में इनका जन्म हुवा. परन्तु इनके धर्मपिता श्रीगोविन्दात्मज श्रीप्रभुजीकी परम्परामें गणना करनेपर महाप्रभुसे तेरहवीं पीढ़ीपर धर्मपुत्रतया गोद आये (दृष्ट. : वल्ल.वं.वृ.प्रथम/७ गृह). श्रीइच्छारामजी लिखित 'श्रीवल्ल-भाचार्यवंशविस्तार'में भी इनके औरस पिता तक वर्णन हुवा है : **''श्रीमद्विट्ठलनाथ स्य द्वौ सुतौ भवतः... श्रीमद्दामोदरस्त्वाद्यो द्वितीयो 'वल्लभा'भिधः''**(श्लो.१८-१९।२) बस इनके आत्मज ये ग्रन्थकर्ता हैं. सम्भवतः कोटा राज्यके निकट ही बुंदी राज्यमें निवास और सम्बन्धनैकट्यके कारण कोटाकी प्रथम गादीका उत्तराधिकारी इन्हें चुना गया होगा. इनके शास्त्राध्ययनके बारेमें कुछ जानकारी उपलब्ध होती नहीं. कांकरोलीके १२० वचनामृतवाले श्रीगिरधरजी इनकी प्रशंसा :

> **''कोटावारे श्रीमथुरेशजीके टीकेत श्रीविट्ठलनाथजी उपनाम श्रीकन्हैयालालजी सोऊ बड़े पण्डित हैं. अबकेवारेमें सब बालक बिराजे हैं, तामें तो पण्डित आप ही हैं, बड़े विद्वान् हैं और श्रीमथुराधीशकी सेवामें आप तथा आपके लालजी श्रीरणछोड़जी बोहोत**

निपुण हैं और पण्डित तो बोहोत हैं परन्तु गुप्त बोहोत राखें हैं तासूं पाण्डित्यप्रसिद्धि थोड़ी दीसत है''.

(१२० वचनामृ.३०).

मेरे इन धर्मवृद्धप्रपितामहके, क्योंकि इनकी पौत्रवधूने किशनगढ़की गादीके लिये मेरे औरस पिताको पुत्रतया अपना उत्तराधिकारी बनाया था सो, इनके द्वारा विरचित 'प्राभञ्जन'ग्रन्थके अवलोकन करनेपर मुझे यह सुविदित होता है कि वाल्लभ वेदान्त ही नहीं अपितु शांकर वेदान्त आदि शास्त्रोंमें भी ये प्रगल्भ पाण्डित्यके धनी थे.

किशनगढ़नरेश श्रीयज्ञनारायणसिंहजी द्वारा विरचित गुरुवंशावलीमें भी :

''विट्ठलनाथ प्रगट इनके मायावाद नसायेजु, कीनों पुष्टिधर्म दृढ़ फिर दैवी जीव लुभायेजु, जिनके पुत्र श्रीवल्लभ महापण्डित अरु ज्ञानी जु वाणीदोष निवारण कारण मौन अधिक कर मानीजु. विट्ठलनाथ प्रगट भये इनके विट्ठलनाथ प्रमाणजु, भयो प्रकाश सबै भूतलपे मानों उदयो भानजु. करुणासिन्धु भक्तवत्सल प्रभु नगधर बहुसुख दीनेजु. भये तादृशी सेवक इनके जुगलरूप रसभीनेजु. 'श्रीप्रभावती' नाम बहुजी इनकी मातुचरणकोजु. तिन निष्काम भक्तिकी दृढ़ कर राखि भरोसोजु.''

(दो.३१-३६ वंशा.को.पृ.२०८).

यों इनके पिता और पितामह के पाण्डित्यके उल्लेखके

साथ इनकी माता श्रीप्रभावतीके निष्काम भक्तिभावका उल्लेख भी सविशेष किया है. सम्भवतः, अतएव, इनका अध्ययनाध्यापन निजजनक द्वारा ही हुवा होनेका अनुमान होता है.

विद्वन्मण्डनविट्ठलेशप्रभुणा शृङ्गारिते वर्त्मनि
विद्वेषाद् गरलैकवाग्वमनको भिक्षुः फटाटोपकृद्।
तस्योन्मर्दनतत्परोऽयमपरो श्रीविट्ठलाख्यः सुधीः
मार्गत्रासनिवारको विजयते प्राभञ्जनोद्वाहकः॥

::प्रस्तुत संस्करणकी विशेषता::

प्रस्तुत ग्रन्थके इस नूतन संस्करणसे पहले भी दो-तीन संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं.

प्रस्तुत संस्करणकी विशेषताओंमें इसे सर्वप्रथम तो सुपाठ्य बनानेको नूतनतया सम्पादित किया जाना है :

अर्थात् मुद्रित अक्षर पद पंक्ति अनुच्छेदों को अपेक्षित अक्षरान्तरावकाश पदान्तरावकाश और पंक्त्यन्तरावकाश द्वारा विभाजित किया गया है, जो प्राचीन संस्करणोंमें न होनेसे ग्रन्थको पढ़नेवालेकेलिये अत्यधिक क्लेशकर लगता था.

दूसरी : उद्धृतपद या उद्धरणान्तर्गत तदन्तर्भूत उद्धरण होनेपर एकल ' ' उद्धरणार्थक चिह्नोंद्वारा मण्डित करना. तथा सम्पूर्ण वाक्योद्धरणको " " उद्धरणार्थक युगल चिह्नोंसे मण्डित करना.

तीसरी : उद्धृत वचनोंके आकरस्थलोंका (..। । ।)में

सूचन, पर बहुत खोजनेपर भी किसी उद्धृत वचनका मूलस्रोत न मिल पानेपर ( ) ऐसा रिक्तकोष्ठक जोड़े जाना है.

चौथी : ''संहिता एकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः, नित्या समासे, वाक्येतु सा विवक्षाम् अपेक्षते''न्यायेन यथामति शक्य सारी पंक्तिओंको सन्धिविच्छेद द्वारा ऋजुतया पठनीय बनाना, पदविन्यासकी लयात्मकताके भंग होनेपरभी, अर्थावबोधकी सुगमताके प्रकटीकरणार्थ.

पांचवीं : समासवचनोंमें सन्धिकी नित्यताके सिद्धान्तको तोड़े बिना ¯हाईफन (लघुतिर्यग्रेखा) द्वारा पदविभाजन इंगित करना.

छट्ठी : 'इति' शब्द जैसे हेत्वर्थक होता है, वैसे ही प्रकारार्थक उद्धरणार्थक वाक्यपूत्यर्थक भी बाहुल्येन प्रयुक्त होता है. इनमें हेत्वर्थक प्रयोग होनेपर सन्धिविच्छेद नहीं करना अन्यथा कर ही देना.

सातवीं : पूर्वोत्तरपक्षोंकी युक्तिओंका उच्छीर्षरेख[१,२,३]संख्यांकन (न्यूमेरिकल सुपरस्क्रिप्ट) द्वारा परस्पर सम्बन्ध दरसाना.

आठवीं : मूलप्रतियोंमें जो मुद्रणाशुद्धि रह गयी उन्हें संशोधित करना.

नौवीं : कहीं कोई अल्पप्रसिद्ध पदप्रयोग या विधान या अपूर्णकथन मिलनेपर सम्पादकीय अथवा ग्रन्थसम्पादन कार्यमें विवक्षित होनेपर पादटिप्पणी जोड़ना.

दसमीं : उद्धृत ग्रन्थतालिका ग्रन्थगत पृष्ठसंख्योल्लेखके साथ.

ग्यारहवीं : कहीं दोनों पाठभेदोंकी समान सम्भावना लगती होने पर ...(/..) दोनोंकी वैकल्पिकता ऐसे दरसायी है.

::कृतज्ञता-स्वीकृति::

यह सम्पादकीय मैं लिख रहा हुं इसलिये यह सब कुछ मेरा किया हुआ मान लेनेकी धांधली न हो जाये, अत: यह खुलासा दे देना आवश्यक लगता है कि यह सारा गुरुतर परिश्रम, महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी महती कृपाके कारण, हमारी टीमके श्रीमतीपद्मिनी-श्रीधर्मेन्द्रसिंह झाला, श्रीमतीमनिषा-श्रीपरेश शाह, श्रीअनिल भाटिया, श्रीकल्प शाह तथा श्रीजगदीश शेठ आदिने अतीव परिश्रमपूर्वक यह ढांचा तैयार किया, मैंने तो सिर्फ उपरी रंगरौगान ही इसका किया है. महाप्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र होनेकी बधाई तो, अतएव, इन्हें ही दी जानी चाहिये.

साथ ही साथ इस ग्रन्थका मुद्रणोपयोगी सारा उत्तरदायित्व श्रीप्रवीण डढाणिया एवं कर्मतपस्वी श्रीपीयूषभाई गोंधिया ने सम्हाला है. इन दोनोंके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं. पुष्टिप्रभु इन्हें इसी तरह सर्वदा स्वस्थ रखें ऐसी शुभकामना भी हृदयकी अभिव्यक्त करते हैं.

पुन:प्रकाशनार्थ अपने संग्रहमेंसे विक्रम संवत् १९३५ में अनुल्लिखित नामवाले किसी लीथोप्रेसकी प्रति और ग्रन्थकर्ता तथा अपने अतिवृद्धधर्मप्रपितामहका चित्र प्रदान करनेवाले वल्लभसम्प्रदायके प्रथमपीठाधीशात्मज चिरञ्जीवी श्रीमिलनकुमारजीके प्रति अतीव हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं.

साथ ही साथ श्रीब्रजराजसिंह(किशनगढ़) तथा महारानी श्रीमती मीनाक्षीदेवीजी ने भी उनके यहां सेवामें बिराजमान राज्यगुरु ग्रन्थकर्ताके विग्रहका प्रतिचित्र अति औदार्यवश जो प्रदान किया सो इन दोनोंके प्रति भी हमारी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं.

इस प्रतिचित्रके आधारपर, अन्य भी पूर्वप्रकाशनोंकी तरह, सुन्दर आवरकपृष्ठकी निर्मात्री श्रीमती ख्याति भुलाके सहयोगको भी भुलाया नहीं जा सकता है.

मुम्बई — गोस्वामी श्याम मनोहर
दि.पवित्रा एकादशी २०८३

पुनश्च :

यहां यह एक खुलासा कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जीसस क्राईस्टके शिष्य/भाई माने जाते सेंट् थोमसको न गिनें तो मोगल शहंशाह अकबरके समयसे ईसाई मिशनरीस् भारतमें हिन्दुओंके धर्मपरिवर्तनार्थ वैसे तो अति उत्कण्ठित हो गयी थी. ब्रिटिश राज्यकालमें, परन्तु, एतदर्थ वेदादि शास्त्रोंके अनुवादक मेक्स मूलरके उद्गार विशेषत: अवलोकनीय लगते हैं : "I...try to make friends and then see... the old mischief of Indian priestcraft could be overthrown; and the way opened for entrance of simple Christian teaching... India is much riper for Christianity" (Life and letters of Max Mueller 1902 P.328). यह वेदादि शास्त्रोंके अनुवादका महोद्यम जगत्के विविध धर्मोंकी मान्यताओंसे तौलनिक रूपमें अवगत होनेका सदाशय नहीं था प्रत्युत केवल ईसाईयतके साम्राज्यको बढ़ावा देनेको था. अत: भारतीय धर्मविदोंसे दोस्ताना सम्बन्धके छलावेकी तात्कालिक सफलताका अन्दाज़ इसी बातसे लगाया जा सकता

है कि अंग्रेज़ी पढ़े हुवे कितने सारे भारतीयोंके गलेमें मूल वैदिक धर्म और उसकी विकृतिके रूपमें आलेखित तान्त्रिक-पौराणिक धर्मोंके बीच अलगाव पैदा हो ही गया. क्योंकि वैसे तो स्वयं भगवत्पाद श्रीशंकराचार्यद्वारा ही अनुमोदित तान्त्रिक-पौराणिक शैव शाक्त गाणपत्य स्कान्द सौर और वैष्णव साधना थी. कलियुगमें, फिरभी, स्वयं पौराणिक आत्मस्वीकृतिके अनुसार, वर्णाश्रमधर्मपर अवलम्बित पूर्वकाण्डीय यज्ञोपासना तथा उत्तरकाण्डीय ज्ञानमार्गीयोपासना अशक्य हो गयी थी. अत: ''यज'=देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' क्रियापदाभिधेयतया भी ब्रह्मके साकाररूपोंकी प्रपत्ति पूजा भक्ति के रूपोंमें और वैदिक धर्मकी सनातन जिजीविषाके रूपमें पुराणोंद्वारा प्रवर्तमान हो गयी थी. अत: इन्हें ध्वस्त करनेपर वैदिकधर्म तो कालके प्रभाववश स्वयं अशक्यानुष्ठेय हो चुका था सो ईसाईयतका निर्विरोध स्वीकार आंग्लभाषाधीतोंको तब शक्य लगने लगा था.

इस परम्परामें महारानी विक्टोरियाके भक्त स्वामी विरजानन्दके शिष्य महर्षि दयानन्दस्वामीकी तरह; यहां मुंबईके फादर विल्सनद्वारा उकसाये गये कवि नर्मदाशंकर, जो इस दुर्भावपूर्ण मनोवृत्तिको पहचान लेनेके बाद तो अलग हो गये (द्र.मारी हकीकत), मूलराज करसनदास और अन्तत: सदानन्दगिरिजी आदि सभीकी भागवतपुराणाश्रित पुष्टिभक्ति-सम्प्रदायके विरोधमें आपत्ति लगभग पुराणशास्त्रविरोधी ही उजागर हुयी हैं. यह इन सभीका एक ही एजेंडा अतीव विस्मयजनक बात लगती है.

गो.श्या.म.



विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठक्रम
खण्डः १	१-१९
मंगलाचरणम्	
खण्डः २	१९-३८
क. विप्रतिपत्तिविषयवाक्यप्रदर्शनम्	
ख. निर्विशेषप्रतिपादकवाक्यविचारः	
ग. उपहितकर्तृत्वनिरासः	
खण्डः ३	३८-४४
अध्यारोपापवादविचारः	
खण्डः ४	४५-५०
क. अविद्याकृतं सर्वम् इति विचारः	
ख. जीवस्वरूपविचारोपक्रमे बिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम्	
खण्डः ५	५०-६४
मायिकसिद्धान्तरीत्या न वैधप्रवृत्तिः सम्भवति इति	
खण्डः ६	६५-६९
प्रकारान्तरेण बिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम्	
खण्डः ७	६९-७५
जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम् १	
खण्डः ८	७६-८०
जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम् २	
खण्डः ९	८१-८८
जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम् ३	

खण्डः १० ८८-९६
क. आविर्भाव-तिरोभावखण्डनम्
ख. आविर्भाव-तिरोभावयोः
लक्षणनिरूपणमुखेन मण्डनम्
खण्डः ११ ९६-१०८
भावित्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकाविर्भाव-
तिरोभावनिष्कृष्टलक्षणप्रदर्शनम् १
खण्डः १२ १०८-११६
भावित्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकाविर्भाव-
तिरोभावनिष्कृष्टलक्षणप्रदर्शनम् २
खण्डः १३ ११७-१२६
क. क्रमिकदेशकालनित्यत्वमूलक-
सर्वोपलम्भापत्तितत्परिहारौ
ख. महावाक्यार्थनिरूपणम्
खण्डः १४ १२७-१३५
जगदाविद्यकतानिराकृतिमुखेन
ब्रह्माकर्तृत्वनिरासः
खण्डः १५ १३६-१४५
क. जीवब्रह्माभेदानुपपत्तिप्रदर्शनपुरःसर-
उपहितकर्तृत्वविचारः
ख. जीवांशत्वोपपादनम्
खण्डः १६ १४६-१५८
क. निरवयवत्वस्वांशत्वाबाधकतां प्रदर्श्य
तादात्म्येन जीवब्रह्माभेदोपपादनम्
ख. भ्रमाद्यनुपपत्त्या जीवब्रह्माभेदखण्डनं
श्रुतिसूत्रादिबलेन तन्मण्डनञ्च

खण्डः १७ १५८-१६४
कारणैक्येन कार्यवैचित्र्यानुपपत्तिम् आशङ्क्य
भगवदिच्छया इति तत्समाधानम्.
खण्डः १८ १६४-१७०
परमात्मविषये उपस्थितहान्यकृताभ्यागम-
प्रयुक्तदूषणविचारः
खण्डः १९ १७०-१८४
प्रवृत्तिनिवृत्त्योः जीवादृष्टासापेक्षतां निराकृत्य
भगवच्चिक्रीडिषानिबन्धनत्वसाधनम्
खण्डः २० १८४-२०२
क. औपचारिकांशत्वतन्निरासौ
ख. व्युच्चरणम् उत्पत्तिः इति आशङ्का तत्परिहाराय
अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तोपवर्णनम्

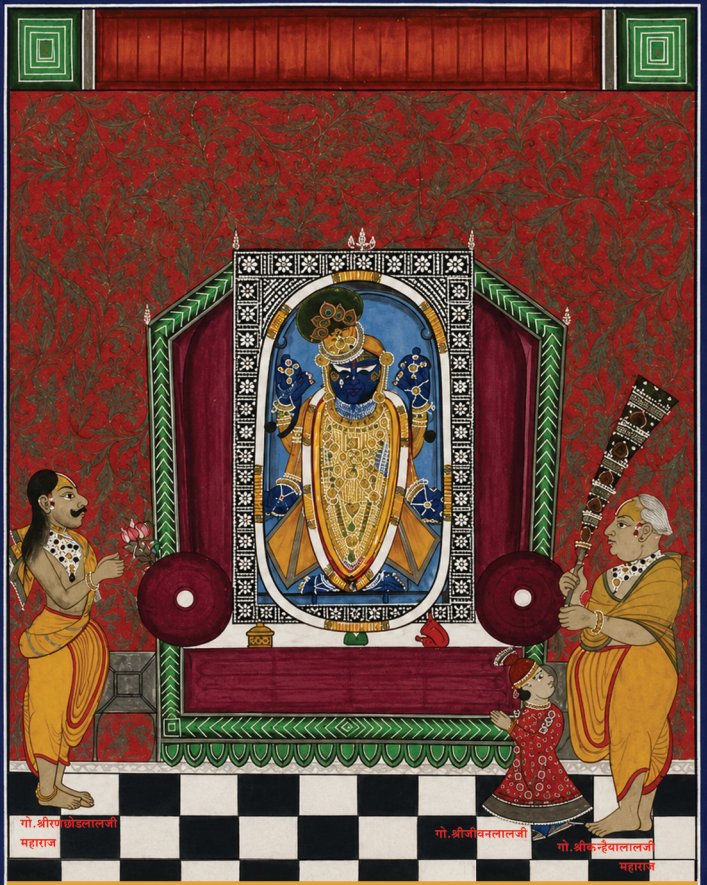
परिशिष्टम् २०३
धर्मधर्मितादात्म्यविवेकः

उद्धरणतालिका २०८

ग्रन्थसंकेतसूची २२२



श्रीकृष्णस्तवं नमज्जी श्रीलक्ष्मणरे सद्गुरु गुरु से मोक्ष दीन.



प्रथम गृह के ११वें तिलक्षयत
प्राभज्ञ ग्रंथ कर्त्ता श्रीविट्ठलनाथजी श्रीकन्हैयालालजी महाराजश्री
(ति. ११) के प्राकट्योत्सव (प्रा.सं. १८७८ श्रावण शुक्ल २) पर बधाई

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

प्रा भ ञ्ज न:

(सहस्राक्षे वज्रविस्तारस्य निर्यातकः)

अथ प्राभञ्जनोत्तरभागः प्रारभ्यते

प्राभञ्जनः : ॐ श्रीः. पूर्वभागे शुद्धाद्वैतमार्तण्डे केनचिद् दोषदूषितप्रज्ञादृष्टिना उद्भाविताः दोषाभासाः निरस्ताः, तदुक्तयः च दूषिताः. द्वितीयभागे विद्वन्मण्डनस्य पञ्चाशत् खण्डान् कल्पयित्वा तदर्थाज्ञानात् तेन कल्पिताः ये खण्डनाभासाः तेषु क्रमेण आभासत्वं प्रदर्श्यते :

(खण्डः१ मंगलाचरणम्)

[*सहस्राक्षः : तदेवं सव्याख्यानैः एकादशभिः श्लोकैः प्रायेण शुद्धाद्वैतमार्तण्ड-तट्टीकोक्तं तत्रत्यक्रमं विहाय खण्डितं, प्रसङ्गात्तु अन्यदपि. इतः परं विद्वन्मण्डनोक्तं तट्टीकोक्तं च प्रायेण खण्डयिष्यते. तत्रच विद्वन्मण्डनस्य कञ्चित्कञ्चित् खण्डं लेखिष्यामः ततः; परन्तु, स्वकृतं तस्य-तस्य खण्डानार्ह-तत्तट्टीकायाः च खण्डनम् इति क्रमो बोध्यः. खण्डकल्पना च व्यवहार-सौकर्यार्थम् अस्माभिरेव कृता.*

तत्र तावत् श्लोक-त्रयात्मको विद्वन्मण्डनस्य प्रथमः खण्डो लिख्यते :

विद्व. निजमुरलिका-नादाह्वानागत-व्रजसुन्दरी-
निरुपम-नवस्नेहाम्भोधेः विचित्रतरोर्मिभिः
किमपि परितश्च आर्द्रार्दो अस्तु प्रभुः प्रकटीभवन्
प्रतियुवति-सम्भेदेन अस्मद्दृशां विषयः सदा ॥१॥
पितृचरणान् नत्वा अहं हरिरति-मार्गाम्बुजात-मार्तण्डान्
तदनुग्रहतः किञ्चिद् लिखामि यत्नाद् यथा-बुद्धिः ॥२॥
श्रुति-सूत्रादि-मणिभिः जटितं युक्ति-मौक्तिकैः
ग्रथितं कुरुते विद्वन्मण्डनं विडलः सुधीः ॥३॥
(एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ एतत्कुत्सापरौ अस्मदीयौ श्लोकौ तथा तच्छ्लोकार्थादि-दूषण-रूपं प्रथम-खण्ड-खण्डनम् :

आत्ता आत्मार्थ-मनः-समर्पण-पथा हर्तुं परस्त्री-धनम्
क्षुद्रान्तःकरण-प्रसादन-कृते गीतेश-गोपी-कथाः
विद्वद्वाक्-श्रवण-प्रवीण-जनता-धी-मोहनाय श्रुति-
स्मृत्याद्यर्थ-विलोमतोद्यमपराः पुष्टयाख्य-मार्गस्थिताः ॥१॥
यन्मोहाय पुराण-कृष्ण-वचन-श्रुत्यर्थशोध्युत्तम-
युक्तिषु आसुर-गोचरत्वम् इतरासु आहुः बुधाकल्पताम्
तान् आचार्य-विकाशितार्थ-वचनैः सम्बोधयामो, यतो
युक्तार्थाः श्रुतयो भवन्ति फलदा न स्वार्थतः च्यावितः ॥२॥

'आत्मा'=देहो, यान् हि शिष्यान् इमे कुर्वन्ति तान् इदं संस्कृतं मन्त्रतया ग्राहयन्ति, "सहस्र... तवास्मि" इति. नास्मिन् मन्त्रादि-रीतिः अस्ति, नवा इदं मन्त्र-शास्त्रादिषु उपलभ्यते. तस्माद् आत्मादि-हरणायैव अयं समर्पण-मार्गः.]

प्राभञ्जनः : तत्र प्रथमश्लोकत्रयात्मकं विद्वन्मण्डनस्य प्रथमं खण्डं प्रकल्प्य तत्खण्डनाभासं चिकीर्षुः ईर्ष्याविवशः आदौ निन्दात्मकश्लोकौ रचितवान्. यद्यपि अस्माभिरपि तन्निन्दापराः सहस्रशः श्लोकाः रचयितुं शक्यन्ते, तथापि ''निन्दा निन्दकस्यैव निन्दां द्योतयति'' इति प्रसिद्धिः. अतः तस्यैव निन्दित्वसिद्धेः इच्छाविरहात् च न तदर्थं यत्नः क्रियते, परनिन्दात्मसंस्तुत्यादीनां धर्मशास्त्रे निषिद्धत्वात् च.

यान् हि इत्यादिना कथञ्चिद् गद्यम् उक्त्वा *नास्मिन् मन्त्रादिरिति, नच इदं मन्त्रशास्त्रादिषु उपलभ्यते* इति यद् उक्तं तदपि शास्त्राज्ञानादेव, भगवच्छरणागतेः मोक्षहेतुत्वस्य सर्वत्र प्रतिपादनाद्. उक्तं गोपालतापनीये **''यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो विद्याः तस्मै गोपायति कृष्णो यः तं देवम् आत्मवृत्तिप्रकाशं, मुमुक्षुः वै शरणम् अनुव्रजेद्''** (गो.पू.ता.उप.१।५) इति. भगवद्गीतायामपि **''दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते''** (भग.गीता.७।१४), पुनश्च **''तेषाम् अहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागराद् भवामि न चिरात्, पार्थ!, मयि आवेशितचेतसाम्''** (भग.गीता.१२।७), अग्रे **''सर्वधर्मान् परित्यज्य माम् एकं शरणं व्रज अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच''** (भग.गीता.१८।६६), **''मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु''** (भग.गीता.१८।६५) इत्यादौ शरणागतेरेव उक्तत्वाद् मन्त्रग्रहणानन्तरं च कर्तव्यबोधकं तन्त्रसारे धृतं वचनं शरीरम् अर्थं प्राणान् च **''तस्मै निवेदयेद् हितं तस्य आचरेद् नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः''** (याज्ञ.स्मृ.१।२७) इति.

[*सहस्रा. : [१]किञ्च तादृश-कालस्य कृष्ण-वियोगं प्रति, कृष्ण-वियोगस्य तापादिकं प्रति च हेतुत्वं तत् सिद्धान्तविरुद्धं, तेन भगवदिच्छामात्रस्य सर्वत्र हेतुतायाः अभ्युपगमात्. अन्यापि अर्थासङ्गतिस्तु यथा अस्य भवति; तथा, अग्रे तत्र-तत्र*

स्फुटीभविष्यति. प्रथमश्लोक-द्वितीयचरणेन (क्षुद्रान्तःकरण...-इति) तदीय-प्रथमश्लोकस्य दुरभिप्रायत्वं सूचितम्.

[२]'आर्द्रार्द्र' इत्ययं प्रयोगः चिन्त्यो, द्वित्वे बहुव्रीहिवद्भावाद्य-प्राप्त्या पूर्वभागे विभक्त्यभावायोगात्. 'प्रतियुवति'इत्यस्य टीकोक्तरीत्या व्याख्याने असङ्गतिरेव. तत्रहि '' 'प्रतिः' लक्षणे. युवतिं-युवतिं लक्ष्यीकृत्य यः संभेदः'' इति उक्तम्. तच्च लक्षणे द्वित्व-समासयोः अप्राप्त्या असङ्गतम्. अत्रत्य-टीकोक्ता कामुक-चर्यातु उपेक्षते.

[३]यत्तु टीकाकारेण ''अनिर्वाच्यत्वन्तु रसरूपस्यैव. ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' इत्यत्र, अनिर्वाच्यत्वं यद्यपि ब्रह्मणः श्रावितं तथापि ''रसो वै सः'' इति रसरूपत्वं पूर्वानुवाके प्रकृत्य तदुत्तरम् एतस्य श्रावितत्वात् तादृशस्यैव तथात्वं नतु ईश्वररूपस्य. ''तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'',''अतो अस्मि लोके वेद च प्रथितः पुरुषोत्तमः'', ''सर्ववेदान्त-प्रत्ययम्'' इत्यादि-श्रुति-स्मृति-न्याय-विरोधाद्'' इति उक्तं, तद् न युक्तं, वक्ष्यमाणस्य तृतीय-खण्डस्थस्य ''तथा सति प्रक्षालनाद्'' इत्यस्य व्याख्याने ''वाचो मनश्च लौकिक्योः अशुद्धं च'' इति तच्छुत्यर्थ-वर्णनपरस्य उक्तेः विरोधात्. चतुर्विंशतिखण्डस्थ- मूलविरोधात् च. तत्रहि ''वस्तुतो विरुद्धधर्माश्रयमपि तथाहि 'श्रोतव्यो मन्तव्यो', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' '' इति उक्तम्. भवदुक्तौतु विरोधाभावात् तद् न सङ्गच्छेत. ''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्'' इति उत्तरत्र 'आनन्द'पददर्शनेन तद्वाच्यस्य अवाङ्मनसगोचरत्वप्रतीतेः च, तस्यैव 'रस'शब्दार्थत्वाद् ब्रह्मत्वात् च. औपनिषदत्वादिकन्तु ईश्वरस्य भक्त्येति न श्रुत्यादिविरोधः.

[४]किञ्च आनन्दरूपाद् ब्रह्मणः शृङ्गाररूपस्य तद्वृत्तेः रसरूपस्य भिन्नत्वेन सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, ''रसं ह्येव लब्ध्वा'' इति वाक्यशेषानुपपत्तिश्च. 'लब्ध्वा' इति 'क्त्वा'प्रत्ययेन आनन्दे लाभपूर्वकत्वभानेन परमेश्वरानन्दस्य नित्यतया तदसम्भवेन एकत्वरसत्वाभ्यां ''मुखं व्यादाय स्वपिति'' इत्यत्रत्यन्यायानवतारेण च परस्य तत्प्राप्तिसुखित्वे वाच्ये, नच पररसः परेण लभ्यः. किञ्च तत्पक्षे ''रसं ह्येव' इत्यत्रापि कर्ता ईश्वरएव वाच्यः. तथाच 'एव'कारानुपपत्तिः इतरेषामपि सुखानुभवात्. किञ्च तादूप्येण भेदाङ्गीकारेऽपि न अत्र तस्य अवाङ्मनसगोचरता उच्यते किन्तु आनन्दरूपस्यैव, प्रकरणाद् वाक्यस्य बलवत्त्वात्. पूर्वत्र 'यच्'छब्ददर्शनेन उत्तरत्र 'तच्'छब्दाध्याहारस्य आवश्यकत्वात्.

[५]किञ्च आनन्दरूपस्य ईश्वरस्य रसरूपाद् भेदे मानाभावः. अतएव ''रसं ह्येव''इति श्रुति सङ्गता. अतएव ''आनन्दो ब्रह्म'', ''एतस्यैव आनन्दस्य'', ''एषएव आनन्दयाति'' इत्याद्याः श्रुतयः सङ्गताः. एवञ्च ''नतु ईश्वररूपस्य''इति असङ्गतम्.

[६]किञ्च रसस्य 'रसा'दिशब्दैः व्यवहाराद्, अज्ञातस्य अपुरुषार्थत्वात् च, कथं तस्य अवाङ्मनोगोचरत्वम्? अथ सामान्येन तद्गोचरत्वेऽपि विशेषेण तदगोचरत्वम् अभिमतम् इति चेद् न, रूपादेरपि विशेषस्य वागगोचरत्वेन सर्वत्र विशेषस्य वागगोचरतया रसमात्रे तदगोचरत्वकथनस्य न्यूनत्वाद् व्यर्थत्वात् च. रसगतविशेषस्य मनसापि अगम्यत्वे तस्य अपुरुषार्थतापत्तेः च तस्माद् ''यद् मनसा न मनुते'', ''पराञ्चि खानि व्यतृणत्'', ''कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत'',

''दृश्यतेतु अग्रया बुद्धया'' इत्यादिसमानार्थैव ''यतो वाच'' इति श्रुतिः. तत्रच प्रमेयस्य एकरसत्वेन विशेषाभावात् प्रमाणगतविशेषेणैव ग्रहणाग्रहणव्यवस्था इति युक्तम्.

[७]यच्च '''स्नेहो भक्तिः इति प्रोक्तः' इति वाक्यबलेन 'स्नेह'पदेन भक्तिं गृहीत्वा स्नेहस्य अम्भोधितुल्यत्वसूचनमपि तस्य अनन्तत्वाय ''समुद्रइव हि कामो नान्तो अस्ति कामस्य न समुद्रस्य' इति श्रुतेः, नतु स्वरूपतुल्यत्वाय, तेन निरुपमत्वोक्तेः न विरोधः. स्नेहश्च आत्मनो मनसो वा योग्यो धर्मविशेषो नतु इच्छा, ''तस्मिन् स्निह्यामि प्रीणामि अनुरञ्जामि, न इच्छामि' इति अनुव्यवसायाद्'' इति तेन उक्तं, तदपि अयुक्तं, स्नेहस्य इच्छायाः भिन्नत्वाङ्गीकारे कामादपि तथात्वापत्तेः, 'काम'शब्दस्य इच्छार्थक-'कमेः'निष्पन्नत्वात्. तथाच स्नेहानन्तत्वे प्रमाणतया ''नान्तो अस्ति कामस्य' इति श्रुत्युपन्यासो विरुद्धचेत, स्नेहज्ञानस्य इच्छाभावज्ञानस्य च अनुव्यवसायत्वोक्तिस्तु अनुव्यवसायपदार्थाज्ञानात्.

[८]यच्च तेनैव अत्रच ''वंशस्तु भगवान् रुद्रः'' इति तापनीयश्रुतेः ''वेदः शिवः शिवो वेदः''इति वाक्याच्च मुरलिकायाः वेदात्मकत्वम् इति उक्तं, तदपि अयुक्तं, समानशब्दवाच्ययोः तदात्मकत्वे '''हरिः' चन्द्रार्कवाताश्वे'' इत्यादिकोशात् च चन्द्रादेः सूर्यात्मकत्वापत्तेः इति अलम्.

[९]'विद्वद्वाग्'इत्यादिसार्धश्लोकेन स्वीयप्रथमार्धश्लोकोक्तं दृढं कृतं तदीयतृतीयश्लोकासङ्गतिरपि सूचिता. तत्र 'क्षुद्रान्तःकरणे'-त्यादिशीलहीन वाचक'क्षुद्रा'शब्द-'क्षुद्र'शब्दयोः एकशेषे षष्ठीतत्पुरुषः. 'पुष्ट्याख्या'इति, यतः स्वयं पुष्टिमार्गगाः सन्ति अतो अयं श्रमो मोहनायैव इति निश्चयः. तेहि 'पुष्टिमार्गः'

'प्रमाणमार्गः' इति मार्गद्वयं व्यवहरन्ति. तत्र पुष्टिमार्गः उत्तमः, प्रमाणमार्गो अधमः इति वदन्ति. अनेन तेषां मोहकत्वं दृष्टसामग्रीतः प्रत्यायितम्. वाक्यानितु पूर्वभागे प्रथमश्लोकव्याख्यायाम् उपन्यस्तानि. द्वितीयश्लोकार्थेऽपि तत्रैव वाक्यानि प्रमाणानि द्रष्टव्यानि.

[१०]*द्वितीयश्लोके यत् तेन 'हरिरिति'इत्यादि उक्तं, तद् अग्रे निराकरिष्यामो निराकृतं च कौर्मवाक्यप्रदर्शनेन प्रथमश्लोकव्याख्यायां 'विद्वः सुधीः' इति.*

[११]*आसीत् कश्चिद् आरूढपतितो देवानां प्रियः. तस्य सुतो अभवत्. तस्य 'विडलेे'ति यथाधिकारं नाम चक्रे. युक्तमेव तादृशाद् जातस्य तादृशं नाम. आर्यार्थमेव हि कृतं कुर्यादिति शास्त्रप्रवृत्तिः. तेनच अयं ग्रन्थः कृतो 'विद्वन्मण्डना'ख्यः. युक्तञ्च इदमपि मोहकानां ब्राह्मणत्वनियमाभावस्य कौर्मवाक्येन दर्शितत्वाद् इति आस्तां तावत्.**

[१२]*परन्तु साम्प्रतं तत्सन्ततगः कथञ्चित् श्रुतशास्त्रो अजिह्मियद्'विडल'पदं साधु चिकीर्षन् कश्चिद् "'विदा' ज्ञानेन शून्यान् 'ठान्' विद्वान् लाति आदत्ते स्वीकरोति इति 'विडलः' इति प्रलपति. तत्र तावत् स प्रष्टव्यः, किम् इयं तृतीया "धनेन हीनः/ प्रज्ञया रहितः" इत्यादौ*

**पा.टि.द्रष्ट.: सदोद्धर्ता स्वेषां परमरुचिकर्ता हरि-गुणे
विकर्ता चित्तस्य स्वगगुणगणरोमाञ्चनिचयैः।
पराकर्ता प्रायो निजनिखिलदोषाश्रयधियां
स भर्ता मे नित्यो जयति सततं विडलहरिः॥
(श्रीमद्मधुसूदनसरस्वतीकृत-आनन्दमन्दाकिनी श्लो.१७७).

दर्शनेन प्रयुक्ता ? स चेद् ओम् इति ब्रूयाः, तर्हि वाच्यं : वत्स! न वेत्सि हीनादिशब्दानां व्युत्पन्नत्वेन तत्र कारकतृतीयाम् इति 'कर्तरि'इत्यादौ दर्शनेन 'शब्दरि-अर्थरि'इत्यादौ 'र'-आदेशं प्रयुञ्जानं तार्किकम् अनुकरोषि. अथ 'धनेन शून्यः' इत्यत्रेव प्रकृत्यादित्वेन तृतीया इति वदेत्. तर्हि वाच्यं प्रकृत्यादिषु 'शून्य'शब्दसमभिव्याहृत'धन'शब्दपाठो यदि प्रामाणिकः तर्हि 'ठ'शब्दसमभिव्याहृत'विच्'छब्दस्य तत्र पाठे प्रमाणं दर्शय. यदि स न प्रामाणिकः तर्हि दृष्टान्तासिद्ध्या दार्ष्टान्तिकासिद्धिः सुतराम्. नहि प्रकृत्यादिः आकृतिगणः इति यथेष्टं तृतीया प्रयुज्यते, ''नीलेन घटः'' इत्याद्यापत्तेः. किञ्च तृतीयान्तार्थस्य 'ठ'शब्दार्थाभाववद् एकदेशे अभावे परम्परया अभाववति वा अन्वये शिष्टसम्मतिः अपेक्षिता. अन्यथा ''पदार्थः पदार्थेन अन्वेति'' इति औत्सर्गिकव्युत्पत्तिलङ्घने अतिप्रसङ्गात्. किञ्च अत्यन्तज्ञानाभावस्य शिलादिष्वेव सत्त्वेन 'विङ्ड'शब्देन पारमार्थिकज्ञानाभाववान् ग्राह्यः. तच्च न सम्भवति, यत्किञ्चिद्घटवति भूतले ''निर्घटं घटहीनम्'' इत्यादिप्रयोगादर्शनेन अभावे अन्वयितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वे नैव प्रतियोग्यन्वयस्य व्युत्पन्नत्वात्. किञ्च सूत्रान्तरेण समासाप्राप्त्या 'सह सुपा'इत्यनेन समासो वाच्यः सच क्लिष्टः. किञ्च विदो 'द'कारस्य 'ठ'कारः केन सूत्रेण ? इति वदतु देवानां प्रियः. नात्र प्रथमः 'ठ'कारः किन्तर्हि ? 'ट'कारः इति वदतातु 'गुलाब'इति पितृनामशोधनाय 'कुलाभः'इति पितुः नाम कुर्वन् प्राज्ञो अनुकृतो भवति, लोके देवविशेषे तादृशशब्दप्रयोगस्तु 'कनैया'दिशब्दप्रयोगवद् ज्ञेयः. (इति श्लोकत्रयात्मक-प्रथमखण्ड-खण्डनम्)]

प्राभ. : [१]*किञ्च* इत्यादिना यद् उक्तं *तापादिकं प्रति कृष्णवियोगहेतुत्वे*

अपसिद्धान्ते ईश्वरेच्छयाएव सर्वत्र हेतुत्वोपगमाद् इति, तद् न साधीयः, ईश्वरेच्छैव अस्मन्मते कारणं परन्तु यया रीत्या यद्विषयिका सा भवति तथैव तद् उपपद्यते. ''अस्य एतावत्कालपर्यन्तं मद्विरहजनित-तापानन्तरं मत्प्राप्तिः भवतु'' इति; यदि, क्रीडेच्छा जाता तदा सा लीला तथैव भवति. तथाच कालतद्वियोगादीनां न स्वतन्त्रतया कारणत्वं किन्तु ईश्वरेच्छयैव. एवञ्च तेषां कारणत्वेऽपि न ईश्वरेच्छायाः कारणत्वहानिः. अस्याः हि सर्वकारणत्वात्. अन्यथा त्वन्मतेऽपि दण्डादीनां घटादिकं प्रति कारणत्वस्य, त्वदीयैः उक्तत्वेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वहानिः स्यात्. प्रथमश्लोकस्य द्वितीयचरणेन *तदीयप्रथमश्लोकस्य दुरभिप्रायत्वं सूचितम्* इति यद् उक्तं तद् उचितमेव दोषदूषितचित्तस्य. उक्तञ्च **''निजदोषावृतमनसाम् अतिसुन्दरमेव भाति विपरीतं पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम्''** (काव्यप्र.१०।१६५।४७८).

[२]यत्तु *'आर्द्रार्द्रं'इति प्रयोगः चिन्त्यो, द्वित्वे बहुव्रीहिवद्भावाद्यप्राप्त्या पूर्वभागे विभक्त्यभावायोगाद्* इति उक्तं तदपि अविचारितरमणीयं, भक्तैः व्रजसुन्दरीनिरुपमस्नेहविचित्रतरोर्मिभिः आर्द्रार्द्रप्रभुः अस्मद्दृशां विषयो अस्तु इति वाक्यबोध्याशाबोधनार्थं व्रजसुन्दरीसम्बद्धः इति वक्तव्ये तेषां व्रजसुन्दरीनिरुपमेत्यादिभङ्ग्या कथनं स्वविरहं व्यनक्ति. तत्रापि 'आर्द्रार्द्र'इति पदेन अतिशयो व्यज्यते, अतिस्नेहप्रयुक्तप्रभुदर्शनस्य आशास्यमानत्वात्. तथाच **''आबाधे च''** (पाणि.सू.८।१।१०) इति सूत्रेणैव द्वित्वं 'च'काराद् बहुव्रीहिवद्भावः च. अतएव पूर्वपदे सुपो लुक्. तथाच उक्तं भाष्ये **''एकं बहुव्रीहिवद्''** (पाणि.सू.८।१।९)इति सूत्रे **''अथ बहुव्रीहिवत्त्वे किं प्रयोजनम्? सुब्लोपः 'एकैकं' पुंवद्भावो 'गतगता'''** (पातं.महाभा.८।१।९) इति अतिशयेन 'आर्द्रः'इति अर्थाभिधानन्तु व्यङ्ग्यार्थम् आदायैव **''क्रियासमभिव्याहारे च''** (पाणि.सू.वा.८।१।१२) इति वार्तिकेन क्रियायाएव अतिशयद्योत्यत्वे द्वित्वस्य विधानाद् **''लोडन्तस्यैव (इदं) द्विर्वचनं (न यङन्तस्य),**

लोटः समुच्चये(ऽपि) विधानाद्'' (महाभा.प्रदी.८।१।१२) इति कैयटोक्तरीत्या तस्य अत्र अप्रवृत्तेश्च. एवञ्च अग्रेऽपि युवतिं लक्ष्यीकृत्य यः 'स्नेहः'इत्यादि यत् टीकाकृता व्याख्यातं, तदपि व्यङ्ग्यार्थम् आदायैव ''**'प्रतिः' लक्षणे''** (सु.सू.१) इत्यस्यतु 'प्रतिः' लक्षणरूपार्थव्यञ्जकः इति अर्थः. अतएव अग्रे टीकायां ''नच इदं रूढ्या प्राप्यते... नापि योगेन विशेषणानां बहुत्वाद् अतो व्यञ्जनयैवेति निश्चयः... व्यञ्जनाच तात्पर्यवृत्तिरेव नतु अतिरिक्ता'' (सु.सू.१) इत्यादि व्यञ्जनायाः वृत्तित्वं पूर्वं पूर्वप्रतिपादितस्य व्यङ्ग्यार्थत्वं च व्यवस्थापितम्. समासस्तु 'प्रत्यर्थम्'इतिवद् व्यापकत्वरूपे व्याच्यार्थे सम्भवति. तथाच ''युवतिं-युवतिं प्रति सम्भेदः तत्रत्ययुवतित्वव्यापकसम्भेदः'' इति वाक्यार्थः. 'लक्ष्यीकृत्य'इत्यादिकं व्यङ्ग्यमिति न कोऽपि दोषः.

[३]अग्रेच *यतु* इत्यादिना टीकाकृदुक्तं किञ्चिद् अनूद्य *तद् न युक्तम्* इत्यादिना वक्ष्यमाणस्य तृतीयखण्डस्य *तथा सति प्रक्षालनाद्* इत्यस्य व्याख्याने *वाचो मनश्च लौकिक्यो अशुद्धं च इति तत् श्रुत्यर्थवर्णनपरस्य उक्तेः विरोधाद्* इति दोषापादनं तदपि तदभिप्रायाज्ञानादेव. 'निजमुरलिका...-'इत्यादिश्लोके ''किमपि परितः च आर्द्रार्द्रः'' इत्यस्य व्याख्याने ''किमपि अनिर्वचनीयं यथा स्यात् तथा प्रकटीभवन् प्रभुः अस्मद्दृशां वृत्तिरूपज्ञानां नेत्राणां वा विषयो गोचरो अस्तु'' (सु.सू.१) इति उक्तं, तत्र अनिर्वाच्यतातु ''**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**'' (तैत्ति.उप.२।९) इति श्रुत्या ब्रह्मण्येव श्राविता तस्यैव ''**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन**'' (तैत्ति.उप.२।९) इति उपसंहारे उक्तत्वात्. कथम् एतादृशस्य श्रीकृष्णस्य अनिर्वाच्यत्वम्? इति आशङ्का स्याद् अतः तादृशशङ्कानिवृत्त्यर्थं टीकाकारेण अनिर्वाच्यत्वन्तु रसरूपस्यैव ''**रसो वै सः रसंहि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**'' (तैत्ति.उप.२।७) इत्यनेन उपक्रान्तत्वात्. अतएव 'आनन्दा'दिपदं त्यक्त्वा 'रस'पदम्

उपात्तम्. अत्रच यद्यपि ''**यतो वाचो निवर्तन्ते**'' (तैत्ति.उप.२।९) इत्यादिश्रुत्या वाङ्मनसागोचरत्वकथनात् 'वाक्'पदेनच इन्द्रियगणस्य विवक्षितत्वात् सर्वेन्द्रियागोचरस्य सर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरत्वस्य अनुपपत्त्या ''**इन्द्रियैः विषयाकृष्टैः**'' (भाग.पुरा.४।२२।३०) इति न्यायेन भगवतो अन्तर्बहिरिन्द्रियाकर्षेण या सर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरता तस्याः आशास्यत्वं व्यज्यते इति असङ्गतं, तथापि लौकिकवागादीन्द्रियाशुद्धमनसो अगोचरत्वस्य श्रुत्या प्रतिपादनात् तावतैव अनिर्वाच्यत्वस्यापि सिद्धौ भगवतो अन्तर्बहिरिन्द्रियाकर्षेण या अलौकिकेन्द्रियगोचरता तस्याः आशास्यमानत्वे विरोधाभावात्. एतदभिप्रायेणैव अग्रे ''वाचो मनश्च लौकिक्यो अशुद्धं च'' इत्यादिना तादृशश्रुतिः व्याख्यातेति न विरोधः. अथवा अग्रे ''जगत्कर्तृत्वादिविशिष्ट-निर्विशेषयोः भेदम् अङ्गीकरोषि उत अभेदम्? भेदपक्षे तात्त्विकम् अतात्त्विकं वा? ''न तावद् आद्यः'' इत्यादिना युक्तिबलेन विचारः आरब्धः तत्र ''**सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्**'' (ब्र.सू.१।२।१) इत्यादिना भेदपक्षं खण्डयित्वा ''द्वितीयस्तु स्याद्, न स्याद् विरोधाद्'' इत्यादिना द्वितीयपक्षम् अङ्गीकृत्य तत्र पूर्ववद्विरोधाशङ्कायां ''युक्तिबलेन एवमेव'' इत्यादिना विरोधपरिहारे आरब्धे श्रोतव्यत्वादीनां श्रुतिसिद्धानां वाङ्मनसाम् अगोचरत्वादीनामपि परस्परं विरोधपरिहारो युक्त्यैव कर्तव्यः इति अभिप्रायेण ''वाचो मनश्च लौकिक्यो अशुद्धं च'' इति टीकाकारेण उक्तम्. अधुना ''**सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्**'' (ब्र.सू.३।३।१) इत्यादि-सूत्रभाष्योक्त-ब्रह्मणो अनन्तरूपत्वेऽपि यानि-यानि रूपाणि विविधैः जीवैः उपासितुं शक्यानि तानि रूपाणि तैस्तैः वेदान्तैः निरूप्यन्ते इत्यादिरीत्या रसरूपस्य अनिर्वाच्यत्वम् ईश्वरादिरूपस्य इन्द्रियादिविषयत्वञ्च प्रतिपादितम्. तावद्रूपात्मकम् एकमेव ब्रह्म इति सिद्धान्तः प्रकटीकृतः टीकाकारैः.

ननु यथा द्रव्य-देवताभेदाद् यागभेदः तथा अनिर्वाच्यत्व-निर्वाच्यत्वादीनां भेदाद् ब्रह्मभेदः कुतो न स्याद्? इति चेद्; न,

सर्वेषु वेदान्तेषु एकेन ब्रह्मत्वेनैव रूपेण ''ब्रह्मैव उपासीत'',''आत्मानम् उपासीत'' इत्यादिना उपासनायाः विहितत्वात्. तथाच अयं प्रयोगो : ब्रह्म तदुपासनं च सर्ववेदान्तप्रतीतं तत्तदुपासनावाक्येषु तत्तन्नानाधर्मवत्तया प्रतिपादनेऽपि न भिद्यते विद्याद्यविशेषाद् यत्र चोदनाद्यविशेषः तदनेकवाक्येषु तथा प्रतिपादनेऽपि न भिद्यते नानाशाखोक्त-ज्योतिष्टोमादि-कर्मवत्. नच स्वरूपासिद्धिः इति वाच्यम्, अविशिष्टचोदनावत्त्वस्यैव हेतुत्वात्. तद्वत्त्वञ्च स्वश्रवणप्रयोज्यवृत्तिविषयत्वसम्बन्धेन इति. ननु ''**ज्योतिष्टोमेन यजेत**'' (आप.श्रौ.सू.१०।२।१) ''**दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**'' ( ) इत्यादौ 'यजेत'इति वाक्यस्य एकत्वेऽपि द्रव्य-देवताभेदाद् यथा यागभेदः तथा चोदनाविशेषेऽपि तत्तद्धर्मभेदात् कथं न धर्मिभेदः ? तथाच, ब्रह्म भिन्नं भिन्नधर्मवत्त्वाद् आमिक्षायागवद्, इत्यपि अनुमानं कथं न स्याद्? इति चेद्; न, ब्रह्म धर्मभेदेऽपि न भिन्नं, भिन्नधर्मवत्त्वस्य अतिरात्रे व्यभिचारित्वेन स्वसाध्यासाधकत्वात्. अतिरात्रे द्विषोडशिग्रहणे अग्रहणे वा गृहीतषोडशिके अगृहीतषोडशिकापेक्षया अधिकगुणवत्त्वेऽपि न अतिरात्रं परस्परं भिद्यते, अतिरात्रम् अधिकृत्यैव षोडशिग्रहणाग्रहणयोः विहितत्वाद्. एवमेव अत्रापि ब्रह्मैव अधिकृत्य वागादिगोचरत्व-तदगोचरत्वयोः विहितत्वाद् न ब्रह्मभेदः किन्तु विरुद्धधर्माश्रयं ब्रह्मस्वरूपम् एकमेव धर्मिग्राहकमानेन एकस्यैव शुद्धस्य अनन्तरूपत्वेन सिद्धत्वात्. ननु एवं विरुद्धधर्माश्रयस्य एकत्वं यद्यपि शब्दप्रमाणसिद्धं, तथापि न युक्तिसिद्धं, द्रष्टान्ताभावाद् इति वाच्यं, यथा एकस्यैव अन्योन्याभावस्य घटप्रतियोगिकत्व-पटप्रतियोगिकत्वादि-विरुद्धधर्मभेदेऽपि न भेदः; एवं घटभेदनिष्ठघटाभावस्य घटत्वाभाव-घटभेदादीनां च विरुद्धधर्माश्रयत्वेऽपि न भेदः, तथा अत्रापि विरुद्धधर्माश्रयस्य एकत्वेऽपि न दोषः. वस्तुतस्तु अस्मन्मते युक्तेः मुख्यता नास्ति, ''**तर्काप्रतिष्ठानादपि अन्यथा अनुमेयम् इति चेद् एवमपि अविमोक्षप्रसङ्गः**'' (ब्र.सू.२।१।११) इत्यादिसूत्रेण तस्याः निन्दितत्वात् किन्तु ब्रह्मविचारे श्रुतिरेव प्रधानं ''**श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्**''

(ब्र.सू.२।१।२७) इति उक्तेः. श्रुत्यातु विरुद्धधर्माश्रयत्वेनैव तत् प्रत्यायते. अतः तादृशमेव तद् इति मन्तव्यम्. एतदभिप्रायेणैव अग्रे चतुर्विंशतिखण्डे तथाच श्रुतिरपि यथास्थितं ब्रह्म प्रतिपादयन्ती न पर्य्यनुयोगार्हा. विकृतत्वादिधर्माश्च लोके च समवायिषु दृश्यन्ते. तथाच उभयरक्षायै ब्रह्म अविकृतमेव समवायीति, लोकेच तादृशमेव समवायित्वम् इति व्यवस्था मन्तव्या. ब्रह्म समवायी अविकृतं च इत्यपि गुडजिह्विका. वस्तुतस्तु विरुद्धधर्माश्रयमपि इत्यादि प्रतिपादितम्. एतेन *चतुर्विंशतिखण्डविरोधाच्च* इत्यादिकम् आपस्तम्. तद्वाच्यस्य अवाङ्गमनोगोचरत्वम् इतितु ''मम मुखे जिव्हा नास्ति'' इति वाक्यवद् व्याहतम्. 'रस'शब्दार्थस्य ब्रह्मत्वेतु इष्टापत्तिः, ईश्वरस्य शक्त्यैव औपनिषदत्वसम्भवे लक्षणाकल्पने मानाभावात्. वेदे लक्षणायाः अन्याय्यत्वात् च इत्यादिदूषणग्रस्तत्वाद् *''आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्''* इत्यादिको *न श्रुत्यादिविरोध* इत्यन्तो ग्रन्थो असङ्गतः.

[४] *किञ्च* इत्यादिना *शृङ्गाररूपस्य आनन्दरूपाद् ब्रह्मणो भिन्नत्वे सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः* इति यद् उक्तं, तदपि पूर्वोक्तेनैव निरस्तम्. रसरूपस्य आनन्दरूपस्य ब्रह्मत्वेन भेदाभावात्. किञ्च त्वन्मते जीव-ब्रह्मणोः भेदाभावाद् ''**रसहि एव अयं लब्ध्वा आनन्दी भवति**'' (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतिः असङ्गता. अपिच जीवपक्षे त्वन्मते 'एव'कारासङ्गतिः जीवस्य विषयसुखेनापि आनन्दित्वात्. यत्तु *किञ्च* इत्यादिना *तद्रूपेण भेदाङ्गीकारेऽपि नात्र तस्य अवाङ्मनोगोचरता प्रतीयते किन्तु आनन्दरूपस्यैव, प्रकरणाद् वाक्यस्य बलीयस्त्वाद्* इति उक्तं तद् न, प्रकरणाद् वाक्यस्य बलीयस्त्वं तत्र भवति यत्र एकवाक्यत्वनिश्चयः. यथा ''**इन्द्राग्नी इदं हविः अजुषेताम् अवीवृधेतां महो ज्यायोक्रान्ताम्/कान्ताम्**'' (तैत्ति.ब्रा.३।५।१०।३) इत्यत्र 'इन्द्राग्नी'पदस्य ''**यद् आग्नेयो अष्टाकपालो अमावास्यायाम्, ऐन्द्रं दध्यम् अमावास्यायाम्**'' (तैत्ति.सं.२।६।३।३) इत्यादिना विहितानाम् इन्द्राग्निदेवताक-

यागीयदेवोपस्थितिजनकत्वेन दर्शाङ्गत्वे सिद्धे 'इदं हविः' इत्यादेरपि तदेकवाक्यत्वनिश्चयाद् दर्शाङ्गत्वमेव नतु प्रकरणाद् दर्शपौर्णमासाङ्गत्वम्. नच प्रकृते तथा अस्ति एकवाक्यत्वनिश्चयाभावात्. प्रत्युत ''**रसो वै सः**'' इत्यत्र 'तच्'छब्दश्रवणात् ''**यतो वाचः**'' इत्यत्र 'यच्'छब्दश्रवणाद् ''यतो वागादयो निवर्तन्ते स रसः'' इति वाक्यार्थो जायते, 'यत्'-'तदोः' नित्यसम्बन्धात्. प्रत्यक्षं 'तत्'पदं त्यक्त्वा अध्याहारकल्पने मानाभावात्, तेनैव एकवाक्यत्वनिश्चयात्, प्रकरणात् च तस्यैव अनिर्वाच्यत्वं नतु 'आनन्दम्' इत्यादिना उक्तस्य इति.

[५]*किञ्च* इत्यादिना यद् उक्तं तत्तु भेदानङ्गीकारेणैव परास्तम्.

[६]ननु *रसस्य 'रसा'दिशब्देन व्यवहार्यत्वाद् अज्ञातस्य च अपुरुषार्थत्वात् कथं तस्य अवाङ्मनोगोचरत्वम्* इति चेत्, तस्य 'रसा'दिशब्दात् प्रतीतत्वेऽपि ईदृशं तद् इत्यस्य अज्ञानात् तस्य स्वसंवेद्यत्वादेव अनिर्वाच्यत्वोपपत्तेः. यदिच 'तच्'छब्दवाच्यत्वमेव अनिर्वाच्यत्वहानिकरम् इति त्वत्सम्मतं तदा मायायाअपि 'माया'शब्दवाच्यत्वेन तस्याअपि अनिर्वचनीयत्वं न स्यात्. *रूपादेः विशेषस्यापि यदि वागाद्यगोचरत्वं* त्वया स्वीकृतं चेत् तदा त्वन्मते आनन्दरूपब्रह्मणएव तदगोचरत्वकथने कथं न न्यूनता? वैय्यर्थ्यं च कथं न? इत्यपि विभावनीयम्. वस्तुतो अणुरूपादेः विशेषस्य नीलत्व-पीतत्वादिव्यवहारगोचरत्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रतीतम् अनिवार्यमेव. रसरूपस्यतु अनिर्वाच्यत्वं श्रुत्यैव प्रतिपादितम्. एतेन *अथ सामान्येन तद्गोचरत्वेऽपि विशेषेण तदगोचरः* इत्यादिकम् अपास्तं, मनसाऽपि अगम्यस्य यदि पुरुषार्थत्वं न स्याद् तर्हि ब्रह्मणोऽपि त्वन्मते वागाद्यगोचरत्वात् तस्यापि पुरुषार्थत्वानुपपत्तिः. ब्रह्मभावस्यैव त्वन्मते परमपुरुषार्थत्वेन इष्टापत्तेः कर्तुम् अशक्यत्वात्. ''**यद् मनसा न मनुते...**'' (केनोप.१।५), ''**दृश्यतेतु अग्रया बुद्ध्या**'' (कठोप.१।३।१२) ''**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद्**'' (कठोप.२।१।१) इत्यादिश्रुतिनां विरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतिपादकत्वेनैव उपपत्तौ प्रमाणगतविशेषाश्रयत्वेन

व्यवस्थायां मानाभावात्, प्रमेयस्वरूपस्यैव तादृशत्वेन दोषाभावात्. एवञ्च *प्रमाणगतविशेषेण* इत्यादिकम् असङ्गतमेव.

[७]यदपि *यच्च* इत्यादि *टीकाकारोक्त-स्नेहो भक्तिः इति उक्तम्* इत्यादिकम् अनूद्य *तदपि अयुक्तम्* इत्यादिना *स्नेहस्य इच्छायाः भिन्नत्वाङ्गीकारे कामादेरपि तथात्वापत्तेः* इत्यादिना दोषापादनं तदपि न किञ्चित्. 'स्निह्यामि' इत्याद्यनुव्यवसायसिद्धायाः इच्छात्वभिन्नायाः ज्ञानत्वविलक्षणायाः स्नेहत्वजातेः तदाश्रयस्य स्नेहस्य च ग्रन्थकाराभिप्रेतत्वात्. ननु स्नेहस्य ज्ञानमेव एतद् न अनुव्यवसायः तथाच *अनुव्यवसायपदार्थाज्ञानादेव एतत् कथनम्* इति चेद्; भ्रान्तोऽसि, न्यायमते आत्मविशेषगुणानां ज्ञानादीनां ज्ञानमेव अनुव्यवसायः. अतएव 'जानामि'इत्याकारक-ज्ञानादीनाम् अनुव्यवसायः. त्वदीयानां मतेऽपि वृत्तिविशेषरूपाणां ज्ञान-सुखादीनां यः साक्षिणा प्रकाशः सएव अनुव्यवसायः. तथाच तवैव अनुव्यवसायपदार्थाज्ञानमूलकः प्रलापः. नच *स्नेहस्य इच्छाभिन्नत्वे कामभिन्नत्वापत्तिः 'काम'शब्दस्य इच्छार्थककमेः निष्पन्नत्वाद्* इति वाच्यं, यदि तद्भेदः तदर्थकधातु-निष्पन्नशब्दार्थ-भेदव्याप्यः स्यात् तदा इयम् आपत्तिः स्यात्. सएव च न सम्भवति सत्ताभिन्नस्यापि द्रव्य-गुणादेः सत्तार्थक-'भू'धातु-निष्पन्न-'भाव'शब्दार्थ-भिन्नत्वाभावात्. क्रीडाभिन्नस्यापि दाशरथ्यादेः तदर्थकधातुनिष्पन्न-'राम'शब्दार्थभिन्नत्वाभावात्, तत्र-तत्र व्यभिचारेण तादृशव्याप्तौ मानाभावेन इच्छाभिन्नस्यापि स्नेहस्य कामभिन्नत्वे मानाभावेन "**समुद्रइव (हि) कामो नान्तो अस्ति कामस्य न समुद्रस्य**" (द्रष्ट.तैत्ति.ब्रा.२।२।५।६) इति श्रुत्या स्नेहस्य अम्भोधितुल्यत्व-प्रतिपादनेन तस्य अनन्तत्वप्रदर्शने विरोधाभावात्.

[८]यश्च *यच्च* इत्यादीना टीकाकृदुक्तं *"वंशस्तु भगवान् रुद्रः", "वेदः शिवः शिवो वेदः" इति तापनीयादिवचनेन मुरलिकायाः वेदात्मकत्वम् अनूद्य तद् अयुक्तम्* इत्यादिना *समानशब्दवाच्यानाम् अभेदे "'हरिः'*

चन्द्रे अर्के'' *इति कोशात् चन्द्र-सूर्ययोः ऐक्यापत्तिरूपो दोषः* उद्भावितः सोऽपि अस्थानएव. नहि कोशवत् तापनीयादौ तत्तच्छब्दवाच्यत्वं प्रतिपाद्यते किन्तु अभेदो अभेदभावना वा, उभयथापि वेदात्मक-रुद्राभिन्न-मुरलिकायां वेदात्मकत्वं तत्त्वेन प्रतीतिः वा न विरुद्धा.

[९] *विद्वद्वाग्* इत्यादिना स्वीयस्य निन्दात्मकस्य श्लोकस्य व्याख्या, सापि निन्दा, तेन स्वस्य निन्दितत्वं व्यक्तीकृतम्. तत्रच *पुष्टिमार्गो व्यामोहनाय* इति उक्तम्. पुष्टिमार्गस्तु भक्तिमार्गः सच ''**भक्त्या अहम् एकया ग्राह्यः**'' (भाग.पुरा.११।१४।२१) इत्यादिना स्वयं श्रीकृष्णोक्तएव. तस्यापि व्यामोहकत्वं चेत् तर्हि तदुक्तानां संन्यासादीनां व्यामोहकत्वं कुतो न स्याद्? विनिगमनाविरहस्य तुल्यत्वात्.

[१०] किञ्च ते पुष्टिमार्गे स्थिताः त्वन्तु कुत्रापि न स्थितोऽसि न ज्ञानमार्गे नापि कर्ममार्गे किन्तु उभयभ्रष्टएव असि. तस्माद् युक्तमेव गालिप्रदानादिकं तत्रतु मौनमेव उत्तरे.

[११] *आसीत् कश्चिद्* इत्यादिना यद् उक्तं तदपि ''आत्मवद् मन्यते जगद्'' इति प्रवादानुसारादेव, अधिकन्तु न उच्यते शिष्टसम्प्रदायाभावात्.

[१२] यत्तु तेन उक्तं *'विट्ठले'ति नाम चक्रे* तदज्ञानाद्. 'विट्ठले'ति न अपूर्वं नाम किन्तु दाक्षिणात्ये जनपदे विद्यानगरे 'श्रीविट्ठले'ति नाम्ना प्रसिद्धा प्राचीना भगवतः पुरुषोत्तमस्य मूर्तिः. साच अद्यापि सिद्धतरा सर्वैः शिष्टैः पूज्यते च. तस्मिन् नगरे एव अनर्घ्यरत्नखचितमेखलया श्रीवल्लभाचार्यैः 'श्रीविट्ठला'ख्याः भगवन्तः पूजिताः, स्वप्ने निजस्वरूपं दर्शयित्वा 'श्रीवल्लभा'ख्यान् श्रीविष्णुस्वामिमार्गम् उपदिष्टवन्तः. तस्माद् ''देवाश्रितं नाम कुर्याद्'' इति प्रसिद्धेः स्वपुत्रस्य तदाश्रितं नाम कृतवतः. तस्यैव च भगवतः पुरुषोत्तमस्य नाम्नो निरुक्तिः इयं

''‘विदा’ज्ञानेन ‘ठा’शून्याः विट्ठाः तान् ‘लाति’आदत्ते इति ‘विट्ठलः’’’इति. तत्र यदि स *देवानां प्रियः* इति वदेत् *अत्र तृतीया न सम्भवति* तदा सः प्रष्टव्यः :

किं विधायकाभावात् तृतीया न सम्भवति वा प्रतिबन्धकस्य कस्यचिद् विद्यमानत्वात्? न अन्त्यः, तस्य अत्र अदर्शनात्. नापि द्वितीयः(=आद्यः), ''**प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्**'' (पाणि.सू.वा.२।३।-१८) इति वार्तिकस्यैव विधायकस्य विद्यमानत्वात्. यथा ''घटेन शून्यो विधुरो रहितः'' इत्यादि. तद्वद् अत्रापि तृतीयायां बाधकाभावात्. अतएव शब्दशक्तिप्रकाशिकायां ''घटेन शून्यः'' इत्यादि उदाहृत्य, ''**घटत्वावच्छिन्नं प्रतियोगित्वमेव शून्यत्वान्वयितृतीयार्थः**'' (शब्द.प्रका.) इति उक्तम्.

नच *पदार्थः पदार्थेन अन्वेति नतु पदार्थैकदेशेन इति व्युत्पत्तेः शब्दार्थाभावविशिष्टैकदेशे अभावे कथं तृतीयार्थान्वयः* इति वाच्यं, सम्पन्नो व्रीहिः इत्यत्र अनेकव्रीहितात्पर्यके पदे एकवचनार्थस्य एकत्वस्य व्रीहिपदार्थेषु नानाव्रीहिषु अन्वयासम्भवेन पदार्थतावच्छेदकव्रीहित्वे एव तदन्वयस्य वक्तव्यतया तादृशव्युत्पत्तिसङ्कोचस्य आवश्यकत्वात्. ''शरैः शातित-पत्रः''-''चैत्रस्य दासभार्या'' इत्यादौ शरकरणत्व-चैत्रनिरूपितसत्त्वादीनां पदार्थैकदेश-शातन-स्वत्वादौ अन्वयदर्शनेन ससम्बन्धिकार्थबोधकपदभिन्न-पदार्थैकदेशएव पदार्थान्तरान्वयबोधकस्य व्युत्पन्नत्वनिश्चयात् च.

किञ्च इत्यादिना *अत्यन्तज्ञानाभावस्य शिलादिष्वेव सत्त्वेन ‘विट्ठल’शब्देन पारमार्थिकज्ञानाभाववान्* इत्यादि उक्त्वा यद् उक्तं तदपि न साधीयो ''**ज्ञानेनतु तदज्ञानं येषां नाशितम् आत्मनः**'' (भग.गीता.५।१६) ''**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् इह विद्यते**'' (भग.गीता.४।३८) ''**ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्**'' (भग.गीता.७।१८)

इत्यादिभगवद्वाक्येषु 'ज्ञान'पदस्य पारमार्थिकज्ञानपरत्वस्यापि दर्शनेन 'ज्ञान'पदस्य तदर्थे शक्तेः निरूढलक्षणायाः वा स्वीकर्तव्यतया पारमार्थिकज्ञानत्वस्यापि अन्वयितावच्छेदकत्वसम्भवेन तद्धर्मावच्छिन्नाभावबोधे बाधकाभावात्. ''सह सुपा''इति समासस्य भाष्यसम्मतत्वेन तत्र क्लेशाभिधाने अन्यसूत्रविहितसमासस्यापि क्लिष्टता कुतो न स्याद्, विनिगमकाभावस्य तुल्यत्वात्. तादृशसमासानां क्लिष्टत्वे योगविभागस्य वैय्यर्थ्यापत्तेः. विदो 'द'कारस्य 'ठ'कारस्तु पृषोदरादित्वात्. नच तस्य पृषोदरादित्वे किं मानम्? इति वाच्यं शिष्टोच्चारितत्वस्यैव प्रमाणत्वात्. दाक्षिण्यात्ये जनपदे सर्वैः शिष्टैः तस्य भगवतो 'विट्ठल'इति संज्ञा व्यवहियते. शिष्टाचारस्यापि श्रुत्यादिवत् प्रमाणत्वात् श्रुत्याद्यनुमापकत्वात् च. नच तत्तद्देशीयशिष्टानां यः आचारः तस्य च तद्देशीय-शिष्ट-विषयकत्वेनैव प्रामाण्यं कल्पनीयं नतु सर्वसाधारणमिति कथं तस्य निरंकुशं प्रामाण्यम्? इति वाच्यम्. तत्तदाचारेण कल्प्यमानस्य वेदस्य सर्वसाधारणप्रामाण्यस्यैव जैमिनिना पूर्वकाण्डे प्रतिपादनात्. अतएव **''अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्याद्''** (जैमि.सू.१।३।१५) इति सूत्रे होलिकादिशिष्टाचाराणां स्मृतिविशेषाणां च अनुष्ठातृ-पुरुषभेदेन व्यवस्थितं प्रामाण्यं कुतः देशविशेषे तेषां दृष्टत्वात्. होलिकादयः प्राच्यैरेव क्रियन्ते वसंतोत्सवाह्निकादयो दाक्षिणात्यैः स्वस्वकुलागत-करञ्जार्कादि-स्थावरपूजा-दैवतापूजादिकम् 'आह्वीनीवक'शब्देन व्यवहियते. उद्धृषभादय उदीच्ये ज्येष्ठमासस्य पौर्णमास्यां बलीवर्दान् अभ्यर्च्य धावयन्ति सो अयम् उद्धृषभयज्ञः. एवं हारितादिस्मृतिरपि क्वचित्-क्वचिद् देशविशेषे दृश्यते तस्माद् व्यवस्थितं प्रामाण्यम् इति पूर्वपक्षे तन्मूलत्वेन **''अनुमितस्य वेदस्य सर्वसाधारणत्वेन सर्वसाधारणत्वाद्''** ( ) इति भट्टैः उक्तम्. तत्रैव **''प्राच्यादि'पदयुक्तायाः श्रुतेः अनुमितौ पदे अर्थाबोधाद् अमात्वं चेद्; न, सामान्यानुमानतः''** (जैमि.न्या.मा.१।३।२७) इति प्राभाकरैरपि उक्तम्. प्राच्यादिभिः

व्यवस्थया होलिकादिषु अनुष्ठीयमानेषु तन्मूलभूता श्रुतिरपि तादृश्येव 'प्राच्या'दिपदयुक्त्या अनुमातव्या. तत्र 'प्राच्य'पदस्य अर्थबोधकत्वं न सम्भवति प्राञ्च्यां किञ्चित् कालं निवशमानानामपि प्रतीच्यां वासदर्शनाद्. अतः तादृशश्रुतेः अप्रामाण्यम् इति चेद्; न, 'तत्'पदरहितायाएव श्रुतेः कल्पनीयत्वेन तस्य सार्वत्रिकमेव प्रामाण्यम् इति तदर्थः. तस्मात् शिष्टाचारानुमितश्रुतेः प्रमाणत्वाद् 'विट्ठल'शब्दस्य 'गूढोत्मा'इत्यादिशब्दवत् पृषोदरादित्वात् प्रामाण्यं साधुत्वापरपर्यायम् अविरुद्धम्. एतेन *लोके देवविशेषे तादृशप्रयोगस्तु 'कनैया'दिशब्दवद् ज्ञेयः* इति प्रलपितम् अपास्तं 'कनैया'दिशब्दानां अपभ्रंशत्वेनैव शिष्टव्यवहारविषयत्वम्. नतु स्तोत्रादिषु तेन शब्देन व्यवहारो 'विट्ठल'शब्दस्यतु अग्निपुराणादिषु प्रयोगो दृश्यते इति दृष्टान्तवैषम्यात् तस्माद् 'विट्ठल'शब्दः साधुरेव इति संक्षेपः. इति प्रथमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्.

(खण्ड : २ क.विप्रतिपत्तिविषयवाक्यप्रदर्शनम् ख.निर्विशेष-प्रतिपादकवाक्यविचारः ग. उपहितकर्तृत्वनिरासः)

[*सहस्रा. : विट्ठ. इहहि विविधवृजिन-तापोपतप्यमान-निखिलजनापवर्गाय श्रुतिस्मृतिपुराणेषु श्रवणादयः प्रतिपाद्यन्ते. तेषां विषयश्च ब्रह्मैव उच्यते. तद् निर्धर्मकं सधर्मकं वा इति भवति विप्रतिपत्तिः जिज्ञासूनाम्, उभयरूपत्वेनापि श्रूयमाणत्वात्. तथाहि : ''अथात आदेशो नेति नेति'', ''अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यति अचक्षुः स श्रुणोति अकर्णः'', ''स ह उवाच एतद् वै तद् अक्षरं, गार्गि!, ब्राह्मणाः अभिवदन्ति अस्थूलम् अनणुः अह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम् अच्छायम् अतमो अवायुः अनाकाशम् असङ्गम् अस्पर्शम् अगन्धम् अरसम् अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाग् अमनो अतेजस्कम् अप्राणम् अमुखम् अनाम अगोत्रम्*

अजरम् अमरम् अभयम् अमृतम् अरजो अशब्दम् अविवृतम् असंवृतम् अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यं न तद् अश्नोति कश्चन, न तद् अश्नोति कश्चन'', ''दिव्योहि अमूर्तः पुरुषः सः बाह्याभ्यन्तरोहि अजः'', ''अशरीरं शरीरेषु. अनवस्थेषु अवस्थितं महान्तं विभुम् आत्मानं मत्वा धीरो न शोचति'', ''अप्राणोहि अमनाः शुभ्रो'', ''असङ्गोहि अयं पुरुषः'' इत्यादिश्रुतिभिः, ''अव्यक्तो अयम् अचिन्त्यो अयम्'', ''न सत् तद् न असद् उच्यते'', ''स वै न देवासुरमर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तुः न अयं गुणः कर्म न सद् नच असद् निषेधशेषो जयताद् अशेषः'', इत्यादिपुराणवाक्यैश्च निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपाद्यते. ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति'', ''आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादि, ''स ईक्षांचक्रे'', ''स आत्मानमेव अवेद् अहं ब्रह्म अस्मि'' इति, ''सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः'', ''यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः'', ''विश्वतः चक्षुः उत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुः उत विश्वतस्पात् सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैः द्यावाभूमी जनयन् देवः एकः'', ''सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः'' इत्यादिश्रुतिभिः ''सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षि-शिरो-मुखं, सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति'' ''निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगत(त्रिविध)भेदविवर्जितात्मा'', इत्यादिस्मृतिभिश्च सविशेषं प्रतिपाद्यते. किमत्र युक्तम्? निर्विशेषमेव इति, कुतः?

उपजीव्यत्वतः श्रौतवाक्यैश्च अन्यपरत्वतः।
अन्तरङ्गत्वतः चापि निर्विशेषं निरूप्यते॥

तथाहि सविशेषवादिनापि विशेषाधारत्वेन अवश्यं ब्रह्मस्वरूपमपि अङ्गीकर्तव्यम्, अन्यथा कुत्र विशेषाः निरूपिताः स्युः ? तथाच आधारनिरूपिका श्रुतिः आधेयनिरूपिकया न अन्यथयितुं शक्या उपजीव्यत्वात्. नच धर्मिस्वरूपं निरूप्य धर्मनिरूपणेन उभयसार्थकत्वम् इति वाच्यम्, "अस्थूला..."द्युक्तश्रौतवाक्यैः धर्मनिषेधश्रवणात्. ननु निर्विशेषब्रह्मनिरूपिका श्रुतिः धर्मान् विना न तद् निरूपयितुं शक्ता. तथाहि निरूपणंहि लक्षणैः तानि च असाधारणधर्मरूपाणि. अत्रच धर्माभावात् तन्निरूपणपूर्वकम् अभावमुखेन 'अस्थूलादि-'वाक्यैः निरूपयन्त्या धर्मनिरूपिका श्रुतिः उपजीव्या, अभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात्. तथाच श्रौतत्वोपजीव्यत्वयोः अविशेषाद् अन्यतरबाधो न युक्तो, विरोधात्. तथाकरणेतु उभयबाधो युक्तः, उक्तयुक्तेः. तथाच शून्यवादः आपद्येत इति वृश्चिकभिया पलायमानस्य विषमाशीविषमुखे निपातः. नच एवमपि वक्तुं शक्यम्, "असन्नेव सः भवति असद् ब्रह्म वेद चेद्" इति निन्दाश्रुतेः इति चेद्, मैवं, नहि श्रुतिसिद्धाः धर्माः निषिध्यन्ते किन्तु अनुवादपूर्वं लौकिकाः स्थौल्यादयः. तथाच क्व धर्माणां श्रौतानाम् उपजीव्यत्वम् ? नच एवं निषेधस्य भिन्नविषयत्वाद् विरोधाभावेन एकतरबाधो न युक्तः, तथाच उभयधर्मवत्त्वं सिद्धम् इति साम्प्रतं, श्रौतानामपि अर्थानां श्रोतव्यत्वादीनां "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिना निषेधात्. नच उपजीव्यत्वबाधः, एवंविधस्य तस्य अप्रयोजकत्वात्. अन्यथा अभावनिरूपणोच्छेदप्रसङ्गात्.

ननु इदम् असङ्गतं, नहि लोके यस्मिन् यदा ये धर्माः सत्त्वेन निरूपिताः ते तस्मिन्नेव तदैव निषेद्धुं शक्याः, विरोधात्.

कालभेदेनतु शक्याः निषेद्धुं, पूर्वं श्यामत्वेन निरूपिते पाकरक्ते घटे श्यामत्वस्येव. नच एवं ब्रह्मणि सम्भवति, सदा एकरसत्वात्. अतः कथं धर्मनिरूपणं, कथंवा निषेधइति, तप्तसंदंशपतितो मिथ्यावादी इति चेद्, न, धर्मनिरूपिकायाः श्रुतेः अन्यपरत्वात्. तथाहि, सोपाधि ब्रह्म निरूपयती धर्मनिरूपिका श्रुतिः उपासनार्थं तथा चित्तशुद्धौ, सत्यां, निर्विशेषं ब्रह्म प्रतिपत्स्यते इति तात्पर्येण. ततः तादृशब्रह्मज्ञापनाय पूर्वोक्तान् निषेधति. तेषाम् अविद्याकल्पितत्वेन अङ्गीकारात्. अतो अपवादार्थं कर्तृत्वादि उक्त्वा निषेधति इति कल्पने सर्वं समञ्जसम् इति चेद्, अत्र ब्रूमः :

अभेदाद् अनुपाधित्वाद् जगदप्रत्ययाप्तितः।
सर्वाधारत्वतः तावच्छक्तित्वाद् न अस्य बाधनम्॥

अत्र मिथ्यावादी प्रष्टव्यः जगत्कर्तृत्वेशितृत्वादि-विशिष्ट-निर्विशेषयोः भेदम् अङ्गीकरोषि उत अभेदम्? भेदपक्षेऽपि तात्त्विकम् अतात्त्विकं वा? न तावद् आद्यः, ''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशाद्'' इति अधिकरणविरोधात्. अस्य अर्थस्तु सर्वत्र वेदान्तेषु प्रसिद्धस्य ब्रह्मणएव उपास्यत्वेन उपदेशाद् मनोमयत्वादि-विषयवाक्योक्तधर्म-विशिष्टं ब्रह्मैव अस्मिन् वाक्ये उच्यते. इत्येतत् सर्वं व्याससूत्रभाष्ये विस्तृतं पितृचरणैः. विस्तारभिया अत्र न लिख्यते. किञ्च एवं जीवे नितरां तथा आयातमिति 'तत्त्वमसि'इत्याद्यभेदबोधकश्रुतिविरोधः. ब्रह्मानेकत्वापत्त्या च एकमेव इत्यादि तद्विरोधः. तथा त्वया अनङ्गीकारात् च. येऽपि अङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते वेदान्तानां तादृग्भावनापरत्वमेव नतु वस्तु तादृशम् इति उच्यते. तद् अग्रे निराकरिष्यते. न द्वितीयः, सतु उपाधिकृतएव सम्भवति घटादिकृतइव आकाशस्य. प्रकृते तादृशोपाधिः कः? सोऽपि

अनादिः सादिः वा ? इति विचारणीयम्. ''अविद्यैव उपाधिः साच अनादिरेव'' इति पक्षस्तु असङ्गतः. तथाहि उभयोऽपि अनादित्वेन उपहितस्यापि अनादितया तादृशस्यैव च त्वन्मते कर्तृत्वेन अविरतं सर्गः स्याद् न जातु प्रलयः. श्रुतौ ब्रह्ममात्रस्यैव इच्छाविशिष्टस्य कारणत्वोक्त्या कारणान्तरानपेक्षणात्. स्मार्तमतम् अवलम्ब्य गुणापेक्षाकथनेतु गुणानां पौर्वापर्येण आविर्भावे हेतोः अवश्यवाच्यत्वे तदिच्छैव तादृशी वाच्या. तथासति 'तद्धेतोरेव' इति न्यायेन इच्छैव तथा अस्तु कृतं गुणैः. नच एवमपि त्वन्मते वक्तुं शक्यम्, उपहितस्य इच्छाक्रमे हेत्वपेक्षायां तस्य उपाध्यधीनतया इच्छायामपि तद्गुणाएव हेतुत्वेन वाच्याः. गुणानां क्रमे च एवं सति स्वभावएव हेतुः वाच्यः. तथाच तादृक्स्वभावविशिष्टाः गुणाः एव कारणानि सन्तु. कृतं तदधीनब्रह्मणेति अनीश्वरवादः प्रसज्येत. ''सदेव सौम्य! इदम् अग्रे आसीद्'' इति श्रुतिविरोधः च. 'एव'कारेण सतो ब्रह्मणो अन्यस्य व्यवच्छेदात्. नच कालवाचका-'ऽग्र'पदेन तस्यापि उक्तत्वाद् 'एव'कारो न अन्ययोगव्यवच्छेदकः किन्तु तदानीमपि ब्रह्म आसीदेव इति अयोगव्यवच्छेदकएव इति वाच्यं, बोधनार्थमेव तथा उक्तेः. अन्यथा ''सो अनुवीक्ष्य न अन्यद् आत्मनो अपश्यद्'' इति श्रुतिविरोधः. एतच्छ्रुत्यनुरोधेन 'अग्र'पदेन यदि कालस्यापि ब्रह्मत्वमेव मनुषे तदा 'ओम्'इति ब्रूमः. अतएव ''कालो अस्मि...'' इति भगवद्वाक्यं ''कालरूपो अवतीर्णः'' इत्याद्यपि. इदमेव उपक्रम्य ''सन्मूलाः, सौम्य!, इमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः'' इत्यादि श्रुतिभिः सतएव कर्तृत्वोक्तेश्च. किञ्च त्वन्मतेऽपि उपहितस्य उपाध्यधीनतया स्वातन्त्र्याभावात् कर्तृत्वानुपपत्तिः भवद्वा उपाधावेव स्याद् नतु उपहिते घटक्रियेव. एवम् अस्तु इति

चेद्, न, ''यतो वा इमानि'', ''सन्मूलाः, सौम्य!'' इति, ''आनन्दाद्धचेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते'' इत्यादि, ''अहं सर्वस्य प्रभवः'' इत्यादि, ''जन्माद्यस्य यतः'' इत्यादि श्रुतिस्मृतिन्यायव्याकोपात्. नच अयम् उपचारएव सर्वत्र इति वाच्यं, मुख्ये सम्भवति तथा कल्पनस्य अयुक्तत्वाद्, मुख्याबाधात् च. अतएव व्यासोऽपि इमम् अर्थम् असूत्रयत्. ''गौणश्चेद् न आत्मशब्दाद्'' इति. श्रुतौ 'आत्म'पदमपि उपचाराद् उपाधिपरमेव इति आशङ्कायां पुनः आह. ''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्'' इति. यद् 'आत्म'शब्देन उक्तं तन्निष्ठस्यैव श्रुतौ मोक्षोक्तेः न औपचारिकम् 'आत्म'पदं किन्तु शुद्धब्रह्मपरमेव इति अर्थः. किञ्च त्वन्मते उपहितस्य जीवत्वेन पुत्रादितुल्यतया तद्धेयत्वोपदेशवद् मुमुक्षुसाधनोपदेशेषु तस्यापि तथात्वं वदेद् नतु तदुपासनाम्. इतोऽपि हेतोः निर्गुणमेव ब्रह्म जगत्कारणम् इति आशयेन हेत्वन्तरम् आह सूत्रकारः ''हेयत्वावचनाच्च'' इति. किञ्च ''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'' इति निर्गुणब्रह्मजिज्ञासां प्रतिज्ञाय ''किंलक्षणं तद्'' इति आकाङ्क्षायां ''जन्माद्यस्य यतः'' इति अवदत्. तच्च सगुणनिरूपकम् इति वदन् व्यासस्य प्रतिज्ञाहान्युपक्रमविरोधौ अपश्यन् हृदयशून्यो भासि. किञ्च एवं ''सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति'', ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधोऽपि. अतो भेदपक्षस्तु असङ्गतएव (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ श्लोकत्रयाद् अग्रिमः 'इहहि विविधे'त्यादिः 'अतो भेदपक्षस्तु असङ्गतएव' इत्यन्तो द्वितीयः खण्डः खण्ड्यते :

[१]तत्र तावद् ''निखिलजनापवर्गाय...श्रवणादयः प्रतिपाद्यन्ते''

इति प्रतिज्ञा ''मुक्तेरपि अधिकं भक्तियोगम् ईश्वरो भक्तेभ्यो ददाति'' इति वक्ष्यमाणस्वसिद्धान्तेन विरुद्धा. लक्षणया तप्यमानान्तविशेषणेन वा 'निखिल'पदस्य अर्थसङ्कोचेतु तस्य वैयर्थ्येन अनुपादानमेव वरम्.

[२]किञ्च श्रवणादीनां निखिलजनापवर्गार्थत्वम् अपशूद्राधिकरणविरुद्धम्. श्रवणस्य ''श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः'' इति वाक्येन वेदवाक्येभ्यएव कर्तव्यतया शूद्रस्य तेषु अनधिकारात्. अतएव ''अधिकारीतु त्रैवर्णिकएव'' इति उक्तं प्रथमसूत्रव्याख्याने तव तातेन. वस्तुतस्तु त्रैवर्णिकस्याऽपि न सर्वस्य अधिकारः किन्तु ''शान्तो दान्तः...'' इत्यादिश्रुत्युपात्तस्यैव इति अन्यत्र विस्तरः इति त्वत्-तातोक्तमपि न किञ्चित्. टीकोक्तेषु श्रुत्यर्थेषु यद् हेयं तद् अग्रे स्वयमेव स्फुटीभविष्यति.

[३]पूर्वपक्षे ''नहि श्रुतिसिद्धाः (धर्माः निषिध्यन्ते)'' इति यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं ततो विरुद्धम् अग्रे ''श्रौतानामपि (अर्थानां श्रोतव्यादीनाम्)'' इत्यादिकथनम्. तत्र पूर्वप्रतिज्ञा असङ्गता. एवं ''पाकरक्ते घटे श्यामत्वस्येव'' इत्यत्र षष्ठी अनुपपन्ना.

[४]एवम् अङ्गीकाराद् इत्यत्र ''ल्यब्लोपे पञ्चमी'' इति उक्त्वा 'अङ्गीकृत्य' इति टीकाकृतो व्याख्यानम् अयुक्तम्. 'अङ्गीकारम् आश्रित्य' इत्यादिव्याख्यानस्यैव औचित्यात्. 'अपवादार्थम्' इत्यादेः पूर्वोक्तप्रकारेण मेलयित्वा कथनम् असङ्गतम् अस्य फलान्तररूपत्वात्. अतएव उभयत्र अनेनापि 'अर्थ'शब्दः प्रयुक्तः.

[५]*अथ सिद्धान्तगद्यारम्भे 'मिथ्यावादी' इत्यस्य को अर्थः? किं सर्वं मिथ्या वदति तच्छीलादिः इति? किंवा किञ्चिद् मिथ्या वदति इत्यादिः? उत जगद् मिथ्या वदति इत्यादि?. न तावद् आद्यो, ब्रह्मणो मिथ्यात्वानङ्गीकारेण निरनुयोज्यानुयोगात्. न द्वितीयः, त्वयि अतिप्रसङ्गात् स्वप्नादेः त्वन्मतेऽपि मिथ्यात्वात्. अन्यथोत्पत्तिबाधश्रुत्योः तत्र अनुपपत्तेः. अहंतादेरपि मायिकत्वाङ्गीकारेण तत्रापि मिथ्यात्वस्य त्वया वक्तव्यत्वात्. 'मायामात्रन्तु' इति सूत्रेण मायिकतया उक्तेः स्वप्ने मिथ्यात्वदर्शनात्. अतएव न तृतीयो, ''जगद् मिथ्या'' इति एतावन्मात्रार्थवाचकत्वे प्रमाणाभावेन तदर्थम् आदाय त्वयेव स्वप्नाहन्तादि मिथ्या इति अर्थम् आदाय परैरपि प्रयोक्तुं शक्यत्वेन त्वयि अतिप्रसङ्गात्. बाधितार्थवादित्वेन तथा प्रयोगस्तु अग्रिमनिर्णयाधीनः. स्वमनस्येव निर्णीय तथा प्रयोगेतु अतिप्रसङ्गो गालिमात्रप्रदाने पर्यवसानं च. तथाच ''ददतु-ददतु गालीः गालिमन्तो भवन्तः'' इति न्यायावतारः. एवं 'मायावादि'शब्दार्थोऽपि विकल्प्य दूषणीयः.*

[६]*किञ्च ''परास्य शक्तिः'' इत्यादिश्रुतिप्रामाण्येन सिद्धायाः त्वन्मते ईश्वराद् अभिन्नायाः शक्तेः त्वयापि अहन्तादिकं प्रति, स्वप्नं प्रति, आसुरज्ञानं प्रतिच हेतुत्वम् उच्यते. साच '''मायान्तु प्रकृतिम्'' इत्यादिश्रुत्युक्तमायायाः न भिन्नाः मानाभावाद् गौरवात् च इति त्वयि अतिप्रसङ्गः. किञ्च ''परास्य शक्तिः'' इत्यादिश्रुतिसिद्धायाः मायायाः त्वन्मते ईश्वराभिन्नत्वेन ईश्वरस्य जगद्धेतुत्वे मायायाः तद्धेतुत्वं सुतराम्. अतएव ''मायान्तु प्रकृतिम्'' इति श्रुतिः सङ्गता. तस्याश्च मायायाः त्वन्मते सत्यत्वमेवेति मायावादित्वं त्वय्येव सङ्गच्छते*

*न अस्मासु. अस्माभिः ब्रह्मातिरिक्तस्य सत्यत्वानङ्गीकारेण अस्मन्मते तस्याः असत्कल्पत्वात्. नहि "तमो द्रव्यं नास्ति" इति वदन् तार्किकः किं तमोवादी इति उच्यते? "अभावो नास्ति" इति वदन् प्रभाकरादिः वा अभाववादी? किन्तु ब्रह्मवादीत्वमेव अस्मासु सङ्गच्छते, तन्मात्रस्य सत्यत्वाभ्युपगमात्. *त्वन्तु ब्रह्मणो ग्रामीणतर-गोपीविटत्वाङ्गीकारेण विटवाद्येव!*

[७]प्रकृतम् अनुसरामः. विटवादिनः तावद् अयं सिद्धान्तः : पुष्टिमार्गवर्ति-सिद्धान्त-विरुद्धा याः युक्तयः ताः आसुरमोहनायैव इति. तथाच तावत्योक्त्यैव निर्वहे व्यर्थः परमतखण्डनप्रयासः. किञ्च सर्वभवनसमर्थे अस्मिन् विरुद्धमपि तथात्वसूचकत्वाद् भूषणमेव इति तत्सिद्धान्तः इति तथोक्त्यैव सर्वोपपत्तौ विरोधपरिहारश्रमो अपार्थकः. इदञ्च स्वमताज्ञानेन पूर्वापरानुसन्धानाभावेन च अयं प्रवर्तते इति ख्यापनाय उक्तम् अस्माभिः. नतु तथासिद्धान्ताश्रयणेन समाधातुं शक्यं, तादृशसिद्धान्ताङ्गीकारस्य दुष्टत्वाद् इति उक्तं वक्ष्यामश्च तत्र-तत्र.

[८]अथ तदुक्तयोः दुष्यन्ते तदुक्तदूषणानि च उद्धियन्ते. तत्र पारमार्थिकभेदपक्षो न नः सम्मतः. "अस्याः अर्थस्तु"

पा.टि.* "विद्ग्धगोपिकामनोमनोज्ञतल्पशायिनं नमामि"(श्रीकृष्णा.८)
"स्मरेत् प्रथमपुष्पिणीं रुधिरबिन्दुनीलाम्बराम्" (त्रिपुरसुन्द.अष्ट.६)
"अद्वैतवीथीपथिकैः उपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ॥
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधुविटेन ॥"

किमिदं श्रीशङ्कराचार्य-श्रीमधुसूदनाभ्यां ब्रह्मणो ग्रामीणता गोपिविटत्वम् अभ्युपगतं न वा? इत्थं तादृकप्रकारेण जल्पता सहस्राक्षेणापि दृष्टं न किम्?

इत्युपक्रम्य ''मनोमयत्वादिविषयवाक्योक्तधर्मविशिष्टं ब्रह्मएव अस्मिन् वाक्ये उच्यते'' इत्येतत् कथनन्तु असङ्गतम्. सूत्रात् तथाअर्थाभानात्. ''विवक्षितगुणोपपत्तेश्च'' इत्युत्तरसूत्रेण मनोमयत्वादिगुणानाम् ईश्वरे उपपत्तिकथनात् च. एवञ्च विवक्षितानां गुणानां सत्यसङ्कल्पत्वादीनां स्वरूपेण मनोमयत्वा-दीनाञ्च जीवाभेदेन उपपत्तेः इति ''विवक्षितगुण...'' इति सूत्रस्य अर्थो, नतु ''विवक्षिता लोकान्तरे तादृशरूपप्राप्तिः सा प्रकृतेऽपि उपपद्यते'' इत्यादिः त्वत्पित्रुक्तः तादृशरूपप्राप्तेः 'गुण'शब्देन ग्रहणे मानाभावात्. मनोमयत्वादिगुणानाम् ईश्वरः उपपत्त्यनुक्तौ तद्वाक्यस्य जीवपरत्व-शङ्कानपगमात् च इति सङ्क्षेपः.

[९]''त्वया अनङ्गीकाराद्'' इत्यत्र पञ्चमी असङ्गता. ''तेषां मते'' इति पदद्वयस्थाने 'तैः' इति वक्तुम् उचितम्. यथाच अविद्यायाः अनादित्वं हेतुत्वञ्च तद् अनादित्वेऽपि न अविरतं सृष्टिः नवा 'सदेव' इति 'एव'कारविरोधः. यथाच कर्मणाम् इच्छां प्रति हेतुत्वं यथाच कालस्य कर्मोद्बोधहेतुत्वेन. तस्य सृष्टेः प्राक् सत्वेऽपि न 'एव'कारविरोधो यथाच न ईश्वरस्य नैष्फल्यं स्वतन्त्रत्वस्य कर्तृत्वस्य च विधातो, यथाच ''कालो अस्मि'' इत्यादेः न त्वदुक्तार्थकत्वं यथाच त्वन्मते अविरत-सृष्ट्यनवस्था-वैषम्यादि-दोषः, तथा उक्तं तृतीयश्लोक-व्याख्यानावसरे.

[१०]माया-स्वरूपातिरिक्त-गुणापेक्षातु न उच्यते अस्माभिरिति तद्दोषोक्तिः निरनुयोज्यानुयोगः. 'तद्धेतोरेव' इति न्यायस्तु कुलालादौ व्यभिचारी. ''सन्मूलाः...'' इत्यादेस्तु सतः

प्रजाभ्रमाधिष्ठानतया उपपत्तिः उक्ता पूर्वभागे.

[११] *''नतु उपहिते घटक्रियाइव'' इतितु न युक्तम्, आकाशस्य विभुत्वेन वास्तवक्रियानाधारत्वेन तादृशक्रियायाः घटमात्रे सत्त्वेऽपि कल्पितक्रियायाः तादृशतलादेश्च यथा आकाशे सत्त्वं कल्पकदोषसहितस्य च आकाशस्य तत्र हेतुत्वं, क्रियादिकं प्रति विवर्तोपादानतायाः अविरोधात्, तथा अत्रापि सोपाधिकस्य तत्त्वोपपत्तेः. अस्मदेकदेशिमायामात्रहेतुत्ववादिमते यथा सर्ववाक्योपपत्तिः, अक्षरब्रह्महेतुत्ववादे यथा समानानुपपत्तिः, यथाच अस्मन्मते ''अथातो...'', ''गौणश्चेद्'' इत्यादेः सङ्गतिः, तथा उक्तं तृतीयश्लोकव्याख्यायाम्.*

[१२] *शुद्धब्रह्मातिरिक्तस्य निरूपणस्य वेदेषु अप्राधान्यम् इति ''सर्वे वेदाः'' इत्यादेः तात्पर्यञ्च ''अरूपवदेव हि'' इति सूत्रव्याख्यानावसरे चतुर्थश्लोकव्याख्यायां वर्णितम्. (इति द्वितीयखण्डखण्डनम्)*]

प्राभ. : अथ द्वितीयखण्डखण्डनाभासस्य अभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र आदौ *''निखिलजनापवर्गाय श्रवणादयो विधीयन्ते''* इति उक्त्वा *''मुक्तेरपि अधिकं भक्तियोगम् ईश्वरो ददाति भक्तेभ्यो'' इति स्वसिद्धान्तविरुद्धम्* इति दोषः आपादितः, सतु तत्समभिव्याहृत-'विविधवृजिनतापोपतप्यमान...'इत्याकारकविशेषणम् अनवलोक्यैव, भक्तानां तादृशताप-तप्यमानत्वाभावादेव वारणसम्भवेन सिद्धान्तविरोधशङ्कायाएव अभावात्. नच 'निखिल'पदं व्यर्थत्वाद् अनुपादेयम् इति वाच्यं, तथासति श्रवणादीनां तादृशसकलजनसाधारणापवर्गसाधनत्वानिश्चयेन जिज्ञासूनां निरङ्कुशप्रवृत्तिः तत्र न स्यात्.

[२]यत्तु *श्रवणादीनां निखिलजनापवर्गार्थत्वम् अपशूद्राधिकरणविरुद्धम्* इति उक्तं तदपि तुच्छम्. तथासति यागस्य स्वर्गकामस्वर्गार्थत्वमपि तदधिकरणविरुद्धं स्यात्. तत्रापि ''**स्वर्गकामो यजेद्**'' (आप.श्रौ.सू.१०।-२।१) इत्यादि श्रुत्या यागस्य निखिलस्वर्गकामस्वर्गार्थत्वं षष्ठे अध्याये प्रपञ्चितं, शूद्रस्यापि स्वर्गकामः सम्भवत्येव, यागानधिकारस्तु ''**श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधाद्**'' (ब्र.सू.१।३।३८) इत्यादि सूत्रेण तस्मिन्नेव अधिकरणे प्रतिपादितः. ''**अथ अस्य वेदम् उपशृणवतः त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम्**'' (द्रष्ट.ब्र.सू.शां.भा.१।३।३८) इत्यादिना श्रवणस्यैव निषेधाद् यागाधिकारस्य दूरतएव अपास्तत्वात्. यदिच ''**अथातो धर्मजिज्ञासा**'' (जैमि.सू.१।१।१) इति सूत्रोक्तस्वाध्यायाध्ययनस्य सर्वयागसहकारित्वन्यायेन अधीतस्वाध्यायस्यैव स्वर्गकामस्य 'तत्'पदेन ग्रहणम्. अतएव ''**फलार्थत्वात् कर्मणः, शास्त्रं सर्वाधिकारं स्याद्**'' (जैमि.सू.६।१।४) इति सूत्रे अन्धपङ्गुबधिरमूकादीनामपि स्वर्गकामसम्भवेन तेषामपि अधिकारम् आशङ्क्य अशक्तस्य न अस्ति अधिकारः इत्यादि प्रपञ्चितम् इति उच्यते, तदा अत्रापि विविधेत्यादिवाक्येनापि शूद्रादिभिन्नो अधीतवेदो मुमुक्षुरेव प्रतिपाद्यते. 'श्रवणादयः' इत्यत्र 'आदि'पदेन पुराणादीनामपि ग्रहणेतु दोषएव न सम्भवति.

[३]यत्तु *पूर्वपक्षे नहि श्रुतिसिद्धाः इति यत् पूर्वं प्रतिज्ञातं ततो विरुद्धम् अग्रे श्रौतानामपि इत्यादि कथनं तत्र पूर्वप्रतिज्ञा असङ्गता* इति उक्तं तद् असत्, पूर्वापरग्रन्थानवलोकनेन उक्तत्वाद्, नहि सिद्धातिनः इयं प्रतिज्ञा किन्तु पूर्वपक्षिणएव. तथाहि पूर्वं निर्विशेषं ब्रह्म सविशेषं वा इति विप्रतिपत्तौ निर्विशेषमेव इत्यादिना प्रतिज्ञातं, तत्साधकतया च निर्विशेषप्रतिपादकश्रुतीनां सविशेषश्रुत्युपजीव्यत्वं तद्बाधे च उपजीव्यविरोधो हेतुत्वेन उपन्यस्तः. ''**अस्थूलादि...**''वाक्यैः धर्मनिषेधाद् निर्धर्मिकमेव पर्यवस्यति इति उक्तम्. तत्र सिद्धान्तिना ''ननु...''

इत्यादिना यदि 'अस्थूलादि'वाक्यैः स्थौल्यादिनिषेधपुरःसरं निर्विशेषं निरूप्यते चेद्, तदा निषेधस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् प्रतियोगिनिरूपकश्रुतेः उपजीव्यत्वेन तद्बाधेऽपि उपजीव्यविरोधस्य तुल्यत्वात् तदनादरेण शून्यवादः आपतति इति उक्तम्. तत्र वादी सिद्धान्तिसम्मतः इति आह. नहि ''श्रुतिसिद्धाः धर्माः निषिध्यन्ते किन्तु अनुवादपूर्वं लौकिकाः स्थौल्यादयः'' इत्यादिना उपजीव्यविरोधनिर्णये पुनर्दोषे उद्भाविते स्वसम्मतरीत्या तद्दोषनिरासार्थम् उक्तवान् ''श्रौतानामपि अर्थानाम्'' इति. इतरथा पूर्वपक्षिमते सर्वत्र स्थौल्यादिधर्मप्रतिपादकश्रुतीनाम् अनुवादकत्वाद् ''नहि श्रुतिसिद्धाः'' इत्यादिकथनमेव असङ्गतं स्यात्. तस्माद् अज्ञानविजृम्भितएव अयं प्रलापः. एवम् अग्रेऽपि *श्यामत्वस्येव इत्यत्र षष्ठी अनुपपन्ना* इत्यादिकः *शब्दः प्रयुक्तः* इत्यन्तग्रन्थोऽपि उपेक्षणीयः, 'जीमूतस्येव' इत्यादिषु षष्ठ्याः उपलभ्यमानत्वात्.

[४](इह तुरीयाक्षेपांशो प्राभञ्जनकृद्भिः उपेक्षितः)

[५]यश्च सिद्धान्तग्रन्थारम्भे *मिथ्यावादी प्रष्टव्यः* इति उक्तेः रोषः, सोऽपि निरर्थको, नहि मिथ्यावादित्वं भवत्सु नास्ति इति वक्तुं शक्यम्, अन्यथा ''ब्रह्मप्रमातिरिक्ताबाध्यत्वे सति सत्त्वेन प्रतीत्यर्हं चिद्भिन्नं मिथ्या नवा'' इति विप्रतिपत्तौ सत्यां, ''विमतं मिथ्या दृश्यत्वाद् जडत्वात् परिच्छिन्नत्वाद्'' इत्यादिहेतुभिः मिथ्यात्वसाधनाग्रहो भवतां किं मूलकः ? नहि मिथ्या इति पक्षपरिग्रहं विना तादृशप्रतिज्ञाहेत्वादिप्रदर्शनं कथकसम्प्रदायसिद्धं भवति. तथाच द्वयोः वादिनोः मध्ये यः एवं वदति ''विमतं मिथ्यैव'' असौ मिथ्यावादी इति लोके व्यवह्रियते. यदिच मिथ्यावादित्वं भवतां न अभिमतं चेत्, तर्हि ''विमतं सत्यम्'' इति उक्त्वा अस्मन्मतानुसरणं कर्तव्यं तादृशः पक्षः त्यक्तव्यः. ननु तथापि *'मिथ्यावादी'इति पदस्य निरुक्तिः वक्तव्या : किं यः ''सर्वं*

मिथ्या'' *इति वदति असौ मिथ्यावादी? वा यत्किञ्चिद् ''मिथ्या वदति'' इति वा?* इति चेद्, उच्यते : सर्वं मिथ्या वदति इति ताच्छील्ये 'णिनि'प्रत्ययः. नच ब्रह्मणो मिथ्यात्वानङ्गीकाराद् निरनुयोज्यानुयोगः इति वाच्यं, ब्रह्मणोऽपि त्वन्मते मिथ्यात्वाद् अतएव ''**मायाख्यायाः कामधेनोः वत्सौ जीवेश्वरौ उभौ**'' (पञ्चद.६।२३६) ''**तद्वद् न ईशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे**'' (पञ्चद.३।४२) इत्यादिना ईश्वरस्यापि जीवसमत्वं त्वदीयैः प्रतिपादितम्. जगत्कर्तृत्वादिविशिष्टस्यापि मिथ्यात्वम्. किम् अधिकम् अखण्डाकारवृत्तिविषयस्यापि मिथ्यात्वमेव भवद्भिः स्वीकृतम्. अतो मिथ्यावादित्वं सुस्थिरम्. यथा ''कदाचिद् उष्णं भुजानोऽपि न उष्णभोजी'' इति प्रयोगः तथा स्वप्नादिकः मिथ्या इति वदत्सु अस्मासु न मिथ्यावादी इति प्रयोगः. एवं दैवात् कदाचित् शीतमपि भुक्तं चेत्, तदापि उष्णभोजिनो न उष्णभोजित्वहानिः, तथा किञ्चिद् निर्विशेषसत्यत्वेन अभ्युपगच्छतः तव न मिथ्यावादित्वहानिः. किञ्च श्रुतिस्मृतिषु सत्यत्वेन प्रतिपादितस्य अर्थक्रियाकारिणो जगतः सत्यस्य ''त्रैकालिकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वाश्रयत्वं'' वदतः कुतो न मिथ्यावादित्वम्? यथा सन्तमेव घटम् ''अत्र घटो नास्ति'' इत्यादिना (घटाभावं) ब्रुवन् मिथ्यावादी इति उच्यते. अपिच *न अप्रतीतिः तयोः बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः. नो चेत्, सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येत अयत्नतो नरः* इत्यादिना मिथ्यात्वनिश्चयस्य तद्भावनाया अपि मोक्षसाधनत्वेन प्रतिपादनात् कथं मिथ्यावादी इति कथनस्य गालिमात्रे पर्यवसायित्वम् उक्तम्. नहि मोक्षसाधनसम्पन्नतया प्रतिपादनं गालिप्रदानं सम्भवति किन्तु *आसीत् कश्चिद्...* इत्यादिना यत्तु त्वया प्रलपितं तदेव लोके गालिप्रदानत्वेन व्यवहियते. अतः तवैव ''ददतु-ददतु गालिः'' इति न्यायविषयत्वम्. एतेन *न तावद् आद्यः* इत्यादिकं निरस्तम्. एवं मायावादित्वमपि त्वयि सङ्गच्छते, सर्वग्रन्थेषु ''सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयभावरूपम् अज्ञानं सिद्धम्'' इत्यादिना अतिनिर्बन्धेन तस्याएव

प्रतिपादनात्. पूर्वग्रन्थेऽपि मायायाएव प्रतिपादितत्वाद् जगतः ईश्वरस्य च मायिकत्वेन वर्णनात् त्वदीयैरपि **''न निरूपयितुं शक्या प्रत्यक्षं भासते च या सा 'माया'इति इन्द्रजालादौ लोकाः सम्प्रतिपेदिरे''** (पञ्चद.६।१४१) इत्यादिना इन्द्रजालतुल्यत्वं प्रतिपादितम्. **''निर्बन्धः तत्त्वविद्यायाः इन्द्रजालत्वसंस्मृतौ''** (पञ्चद.७।१७५) इत्यादिना तत्त्वविद्याफलमपि इन्द्रजालतया ज्ञानमेव दर्शितम्. एवञ्च तादृशमायाप्रदर्शके यथा मायावित्वं लोके व्यवह्रियते, एवं तादृशमायाप्रतिपादके मायावादित्वमपि लोकैः व्यवह्रियते, इत्यत्र लोकएव नियामकः. नहि सामर्थ्ययुक्ते स्वसामर्थ्येन पर्वतोत्पाटनादिकार्यं कुर्वति हनुमदादौ केनचिद् मायावित्वं व्यवह्रतं, नापि तादृशशक्तिप्रतिपादके च मायावादित्वव्यवहारः.

[६]एवमेव ईश्वरस्य **''परास्य शक्तिः विविधैव दृश्यते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च''** (श्वेता.उप.६।८) इत्यादिश्रुतिप्रतिपादित- 'माया'पदवाच्यशक्तिस्वीकर्तृषु अस्मासु न मायावादित्वव्यवहारः. यद्वा, तत्तत्पदार्थाकार-विज्ञानापरपर्याय-वृत्तिस्वीकारेऽपि त्वयि न 'विज्ञानवादित्व-'व्यवहारः किन्तु बौद्धेष्वेव, यथावा शब्दज्ञानादीनां क्षणिकत्वस्वीकर्तृषु नैयायिकेषु न क्षणिकवादित्वं किन्तु सौत्रान्तिकादिष्वेव, तथैव तादृशशक्तिस्वीकारेऽपि न अस्मासु मायावादित्वं किन्तु त्वय्येव. एतेन *किञ्च...* इत्यादिकम् *न अस्मासु* इत्यन्तम् अपास्तम्. यत्तु *अस्माभिः ब्रह्मातिरिक्तस्य सत्यत्वानङ्गीकारेण अस्मन्मते तस्य असत्कल्पत्वाद्, नहि ''तमो द्रव्यं नास्ति'' इति वदतः तार्किकादिः 'तमोवादी' इति उच्यते, अभावो नास्ति इति वदन् प्रभाकरादिः वा 'अभाववादी'* इत्यादि उक्तं तद् मन्दं, मायायाः असत्त्वस्वीकारे तस्य जगद्धेतुत्वानुपपत्तिः **''कथम् असतः सत् जायेत''** (छान्दो.उप.६।२।२) इत्यादि श्रुतिविरोधात्. अतएव जगतो असत्त्वमपि श्रुतिविरुद्धम्. तार्किकादिदृष्टान्तस्तु विषमः नहि तार्किकैः तमसो अतिरिक्तत्वं स्वीक्रियते किन्तु परैः दशमद्रव्यत्वेन

स्वीकृतस्य खण्डनं तैः क्रियते. एवमेव सप्तपदार्थत्वेन वैशेषिकैः स्वीकृतस्य अभावस्य प्रभाकरेण अधिकरणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते. एवं परेण यदि माया स्वीकृता स्यात् त्वया च तस्या असत्त्वं प्रतिपादितं स्यात्, तदा तवापि मायावादित्वं न स्याद्. नतु एवं किन्तु सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीया भावरूपा च महता आयासेन महाविद्यानुमानैश्च साधिता. यथा तमोवादिभिः तमसो अतिरिक्तत्वं साधितम्. अतः त्वयि मायावादित्वं कथं न स्याद्? अस्माभिश्च तमसो भावात्मकत्वमिव अभावस्य अधिकरणात्मत्वमिव मायायाः भगवच्छक्त्यन्तर्गतत्वं तार्किकादिवत् साधितम्. तेषु 'तमोवादित्वा'ऽव्यवहारवद् अस्मासु न मायावादित्वव्यवहारः. ब्रह्मणो लीलादिवर्णनन्तु व्यासशुकाद्यैः यथा कृतं तथैव अस्माभिः अनूद्यते न अपूर्वम्. तत्र मायावादित्वं मिथ्यात्वादिवत् किञ्चित् कल्प्यते कल्प्यताम्. ग्रामीणत्वाद्यारोपस्तु असुरबुद्धीनामेव अतः तेषामेव मायावादित्वमिथ्यावादित्ववद् दुर्वादित्वमपि सङ्गच्छते.

[७]प्रकृतम् अनुसरामो : मिथ्यावादिनः तावद् अयं सिद्धान्तः, वादिप्रतिवादिगुरुशास्त्रवेदादीनां सर्वेषां मिथ्यात्वं मायिकत्वं चेति. तावत्कथनेनैव सकलवादिपराजयसम्भवे पुनः खण्डनादिप्रयासः उन्मत्तत्वद्योतकएव. यथा रज्जुसर्पं मिथ्यात्वेन जानतः तथैव वदतः तन्नाशार्थं च दण्डाद्याहारणादिकं लोके उन्मत्तत्वव्यवहारहेतुरेव. किञ्च मायायाः अघटनघटनापटीयस्त्वस्वीकारेण स्वमतखण्डनस्यापि सम्भावितत्वात् तदुद्धारार्थं यत्नोऽपि निरर्थकएव, तथाच स्वमतम् अज्ञात्वैव अयं ग्रन्थरचनादिप्रयासः स्वमतानभिज्ञत्वप्रकाशकएव. अस्माभिस्तु असुरयुक्तिमोहिताः लोकाः मा भूवन् अतो वैदिकः पन्थाः प्रदर्श्यते. अतएव तदुक्तयोः दुष्यन्ते.

[८]तत्र पारमार्थिकभेदो न नः सम्मतः इत्यादिविद्वन्मण्डनोक्तम् अनूद्य. *मनोमयत्वादिविषयवाक्योक्तधर्मविशिष्टब्रह्मैव अस्मिन् वाक्ये उच्यते*

इत्येतत् कथनम् असङ्गतं सूत्रात् तथार्थाभानाद् इत्यादि यद् उक्तवान् तदपि सूत्रार्थाज्ञानात्. तत्रहि वेदबोधितत्वाद् मनोमयः प्राणशरीरो भारूपत्वेन विज्ञानमयो जीवः प्राणधारणप्रयत्नवान् ब्रह्मत्वेन उपास्यः, **''स एष मे आत्मा''** (छान्दो.उप.३।१४।३-४) इति कथनाच्च वा 'सत्यसङ्कल्पा'दिपदोक्तधर्मवैशिष्ट्याद् अब्रह्म उपास्यम् इति सन्देहे, उपक्रमस्य असञ्जातविरोधित्वेन बलवत्वात् तत्र जीवस्यैव प्रतिपादनाद् मनोमयत्वेन जीवस्यैव प्रतिषिद्धत्वाच्च न इदं ब्रह्मवाक्यं किन्तु शाखान्तरोक्तविज्ञानमयस्य अत्र भारूपत्वेन प्रत्यभिज्ञानात् कार्ये जीवे कारणस्य ब्रह्मणः उपचारं विधाय सत्यसङ्कल्पादिधर्मवत्तया. वेदाभिमानिनी देवता जीवो वा अस्तु इति पूर्वपक्षे सिद्धान्तम् आह **''सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्''** (ब्र.सू.१।२।१) इति **''सर्वं खलु''** (छान्दो.उप.३।१४।१) इति पूर्ववाक्यैः यद् जगतो ब्रह्मत्वेन उपासनं तद् भगवतएव विराट्त्वेन उपासनं तत्फलञ्च अन्तःकरणशुद्धिः ब्रह्मत्वेन उपासनया शुद्धान्तःकरणस्य सर्ववेदान्तप्रसिद्धब्रह्मोपदेशएव युक्तो मननरूपो, नतु क्वचित् प्रसिद्धस्य जीवस्य उपासना. तस्मात् सर्वत्र प्रसिद्धब्रह्मोपदेशादिकं वाक्यं मनोमयत्वादिगुणकं ब्रह्मैव प्रतिपादयति. **''स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः, तं सत्यम् आनन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद् यतः आत्मपातः''** (भाग.पुरा.२।१।-३९) इत्यादिवाक्यानुरोधात्. ननु अत्र सूत्रे पक्षस्य अनुक्तत्वाद् हेत्वसङ्गतिः इति चेद्, मा एवं, सूत्रे पक्षानुक्तावपि प्रकरणबलेन तन्निर्णयस्य शक्यत्वात्. एवं विषयवाक्यमेव पक्षः **''सर्वं खलु...''** इति वाक्यं ब्रह्मप्रतिपादकं सर्ववाक्यसमर्पितसर्ववेदान्तप्रसिद्धब्रह्मोपदेशरूपत्वात्. यदेवं तदेवं, तदेव **''कं ब्रह्म''** (छान्दो.उप.४।१०।५) इत्यादिवाक्यवत्. ननु अस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वं न सम्भवति, फलस्य प्राकृततया जघन्यत्वाद्. यथासङ्कल्पम् अग्रिमदेहकथनाद् लोकान्तरभावितादृशदेहप्राप्त्यर्थं वेदाभिमानिदेवतायाः क्रतुमयः इत्यादिना साधकस्य उपक्रान्ततया जीवस्यैव उपासना युक्ता, देहस्य लोकान्तरे प्राप्यस्य प्राकृतत्वव्याप्यत्वात्.

ब्रह्मज्ञानस्य ''**तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति**'' (श्वेता.उप.६।१५) इत्यादिवाक्यैः मुक्तिफलत्वबोधनात् तादृशफलकथनम् असङ्गतं ब्रह्मवाक्यत्वकल्पने स्याद् अतः सूत्रकारः आह ''**विवक्षितगुणोपपत्तेश्च**'' (ब्र.सू.१।२।२) : 'विवक्षिताः'= वक्तुम् इष्टाः उपादेयत्वेन अभिप्रेताः वा, ये गुणाः लोकान्तरे सङ्कल्परूपदेहप्राप्तिरूपाः ये गुणाः ते ब्रह्मज्ञानपक्षेऽपि उपपद्यन्ते, भगवत्सारूप्य लाभाद्. नहि देहत्वं प्राकृतत्वव्याप्तं मानाभावात्. किञ्च ''यथाक्रतुः...'' इत्यादिना लोकान्तरप्राप्यत्वे सङ्कल्पानुरूपेण व्याप्तेः उक्तेः ''**क्रतुं कुर्वीत**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति उपदेशबोधितः क्रतुः अधमस्य प्राकृतदेहस्य प्राप्त्युपायो न युक्तः, परमशान्तस्य पूर्वोपासनाशुद्धान्तःकरणस्य अशुद्धसङ्कल्पवशात् तदभावे प्राकृतदेहायोगात् परमपुरुषार्थएव तस्य फलम्. तथाच सिद्धं मनोमयत्वादिधर्मकं ब्रह्मैव अस्मिन् वाक्ये प्रतिपाद्यते इति. एतेन *मनोमयत्वादिगुणानाम् ईश्वरे उपपत्त्यनुक्तौ तद्वाक्यस्य जीवपरत्वशङ्कानपगमात् च* इत्यादिकम् अपास्तं, तादृशशङ्कायाः सूत्रेणैव निरस्तत्वाद् इति बोध्यम्.

[९]*पञ्चमी असङ्गता वक्तुम् उचितम्* इत्यादिकन्तु बालभाषितं, तादृशपञ्चम्याः तादृशव्याख्यानस्य बहुग्रन्थेषु दृष्टत्वाद् *यथाच अविद्यायाः अनादित्वं हेतुत्वं च, तदनादित्वेऽपि नाविरतं सृष्टिः नवा सदैव इति 'एव'कारविरोधः. यथाच कर्मणां हेतुत्वं तथा उक्तं तृतीयश्लोकव्याख्यावसरे* इति यद् उक्तं तदपि न किञ्चिद्, यद्यपि त्वया उक्तं तत्-तत्-सर्वं तत्रैव सम्यक्तया खण्डितमिति ते दोषाः जागरूकाएवेति यदि स्मार्तमतम् अवलम्ब्य इति उक्तत्वाद्. यदि त्वया स्मार्तमतावलम्बः क्रियते तदा गुणानाम् इत्याद्युक्तो दोषः त्वदुपरि पतेदेवेति कथं निरनुयोगः ?

[१०]किञ्च मायास्वरूपातिरिक्तगुणापेक्षायाः त्वन्मते अनङ्गीकारेऽपि कर्मणाम् अपेक्षातु त्वयैव उक्ता. एवञ्च तेषां जडानां स्वयं कर्तुम्

असमर्थानाम् ईश्वरेच्छैव सहकारिणी वाच्या, तथाच ''**तद्धेतोः...**'' इति न्यायेन इच्छैव हेतुः अस्तु. किं कर्मभिः इति दोषस्तु दुरुद्धरएवेति कृतेऽपि अपन्हवे न दोषपरिहारः. नच ''**तद्धेतोरेव...**'' इति न्यायः कुलालाद्यैः व्यभिचारी इति वाच्यं, ''**तद्धेतोः...**'' इति न्यायस्य ''कारणम् आदाय वा यस्य'' इति अन्यथासिद्धिद्योतकत्वाद्. यथा रूपस्य घटं प्रति हेतुत्वं स्वतो न सम्भवति किन्तु दण्डम् आदायैव अतः दण्डस्यैव 'घटं'प्रति हेतुत्वसम्भवे तद्रूपस्य अन्यथासिद्धत्वम्; एवं, गुणानां स्वकार्यजनने असमर्थानां स्ववैषम्यार्थम् ईश्वरेच्छापेक्षणे स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशून्यतया कारणत्वं न स्यात् किन्तु इच्छायाएव कारणत्वं तेषाम् अन्यथासिद्धत्वम् इति तात्पर्यम्. तत्र कुलालादौ व्यभिचारप्रदर्शनं तत्तु अर्थानभिज्ञतयैव. नहि कुलालेन घटे जननीये स्वहेतुभूतपित्रादिकम् अपेक्षते, येन ''**तद्धेतोरेव...**'' इति न्यायस्य व्यभिचारः तत्र स्यात्. एवञ्च स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकशालित्वेन कुलालस्य हेतुत्वं युक्तमेव इति. *सन्मूलाः इत्यादेस्तु सतः प्रजाभ्रमाधिष्ठानतया उपपत्तिः उक्ता पूर्वभागे* इति यद् उक्तं तदपि तादृशभ्रमासम्भवेन तत्रैव निरस्तम्. किञ्च तादृशभ्रमस्वीकारे ''**सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**'' (छान्दो.उप.६।८।४) इत्यादिश्रुतेः असङ्गतिः. नहि शुक्तिरजतस्य शुक्तिप्रतिष्ठितत्वं तथासति त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वकथनम् असङ्गतं स्याद् इति दिक्.

[११]*यत्तु नतु उपहिते घटक्रियैव इतितु न युक्तम्, आकाशस्य विभुत्वेन वास्तवक्रियानाधारत्वेन तादृशक्रियायाः घटमात्रे सत्त्वेऽपि कल्पितक्रियायाः तादृशतूलादेश्च यथा आकाशे सत्त्वम्* इत्यादिना यद् उक्तं तदपि मन्दम्, आकाशकल्पितक्रियायाः सत्त्वाकारेण घटक्रियाएव इति दृष्टान्तस्य अयुक्तत्वप्रतिपादने ''**घटसंवृतम् आकाशं नीयमाने यथा घटे, घटो नीयेत न आकाशं तद्वद् आत्मा नभोपमः**'' (ब्र.बि.१३)

इत्याद्यर्थकः गौडपादवचनविरोधापत्तेः*. तैः आकाशस्य स्पष्टतया क्रियासामान्यानाधारत्वप्रतिपादनात्. यदिच कल्पितस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वात् तत्सत्त्वेऽपि क्रियानाधारत्वमेव आकाशस्य इति न तादृशवचनविरोधः इति उच्यते, तदा घटे एव क्रियायाः स्वीकृतत्वेन न युक्तम् इति कथनं बालिशत्वद्योतकमेव. एवं सोपाधिकस्य हेतुत्वे उपाधेरेव हेतुत्वपर्यवसानाद् जगद्धेतुत्वं प्रतिपादकश्रुतिविरोधो दुरुद्धरएव, "**जन्माद्यस्य यतः**" (ब्र.सू.१।१।२) इत्यादिसूत्रविरोधश्च स्याद्, उपाधेः अनादित्वसादित्वविकल्पदोषाः.

[१२]अधिकञ्च चतुर्थश्लोकव्याख्यायां यत् त्वया उक्तं तत् तत्रैव दूषितमिति द्वितीयखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्.

(खण्डः३ अध्यारोपापवादविचारः)

[*सहस्रा. : [विद्व.] द्वितीयस्तु स्याद्, न स्याद्, विरोधात्, इति चेद्, मैवम्, "अस्थूला..." दिवाक्यैः जड-जीव-धर्माएव ब्रह्मणि निषिध्यन्ते, न श्रुतिसिद्धाः जगत्कर्तृत्वादयः. तथा सति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य" इति न्यायेन प्रतिपादनवैयर्थ्यापातात्. किञ्च, ब्रह्मनिरूपकमहावाक्ये त्वन्मते सृष्टिनिरूपकाणि वाक्यानि असङ्गतानि स्युः, तदनिरूपकत्वात्. ननु अस्ति सङ्गतिः अध्यारोपापवादलक्षणा. तथाहि शुद्धब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेन तज्ज्ञापनाय जगज्जननम् उक्त्वा, तत्कर्तृत्व-भोक्तृत्वे प्रतिपाद्य तद्द्वारा सोपाधिके ब्रह्मणि बुद्धौ सिद्धायां, 'शाखारुन्धती'न्यायेन पूर्वोक्तम् अपोह्य, कर्तृत्वाद्यपेतं ब्रह्म पश्चाद् बोध्यते इति चेद्, न एवं वक्तुं युक्तं, जगदप्रतीतिप्रसङ्गात्. तथाहि,*

---

* दृष्ट. "मरणे संभवे चैव गत्यामनयोरपि
स्थितौ सर्वशरीरे आकाशेनाविलक्षणः ॥ (गौड.पा.का.३।९)

नहि जगत्प्रतीतिः श्रुतिसिद्धा, ''येन पूर्वं बोधयति, पश्चाद् निषेधति'' इति उच्येत किन्तु लोकसिद्धा. तथाच तत्र कर्त्रपेक्षायां कर्तारमेव उपदिशति इति वक्तुं युक्तं, नतु लोकसिद्धमेव जगद् अनूद्य, तत्र कर्तृत्वं बोधयित्वा पश्चाद् निषेधति इति. तथा सति कार्यस्य प्रतीतिसिद्धत्वेन कर्त्रन्तरस्य अभावाच्च जगतएव असम्भवेन अनुवादो बाधितविषयः स्यात्. स्वारूढशाखाच्छेदनवद् 'माता वन्ध्या' इति वाक्यवत् च. सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः कथम् एवं वदेत्? सर्वतो बलवती हि अन्यथानुपपत्तिः. ननु उपलब्धमात्रेण न वस्तुसत्त्वं वक्तुं शक्यं, स्वप्नादिषु तथा प्रसङ्गात्. तथाच निषेधिकायाः श्रुतेः प्रपञ्चासत्त्वमेव अभिप्रेतम् इति चेत्, तर्हि प्रतीतम् उपपादयतु ''देवानां प्रियः'' न तावद् वासनया इति वक्तुं शक्यं, तस्याः अनुभव-जन्यत्वेन जगतश्च असत्त्वेन पूर्वम् अनुभवासम्भवात्. नच अनादित्वेन तदुपपत्तिः सर्वेषाम् अनुभवानां वासना-जनकत्वानियमेन कदाचित् कस्यचिद् अर्थस्य अप्रतीति-प्रसङ्गात्. नियमे वा, सर्वदा तदुद्बोधानियमेनापि तथा प्रसङ्गः. उद्बोधकञ्च न दृष्टम्, अन्योन्याश्रयप्रसङ्गात्. नापि अदृष्टं, दृष्टसामग्री-सम्पादनद्वाराएव तस्य कारणत्वात् ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्'' इति तत्त्वसूत्रविरोधात् च (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

[१]अथ ''द्वितीयस्तु स्याद्'' इत्यादिः ''विरोधात् चेद्'' इत्यन्तः तृतीयः खण्डः खण्ड्यते :

तत्र ''जडवर्गस्य जीवस्य च धर्माणां ब्रह्मणि निषेधो न सम्भवति'' इति उक्तं ''विष्णौ जीवग...'' (सहस्रा.१।६)

इति श्लोके. ''ब्रह्मणि विशेषान् अनिरूप्य तत्र तन्निषेधे विशेषाणां मिथ्यात्वं न स्याद्'' इत्यपि तत्रैव उक्तम्. ''उपासनार्थमपि क्वचिद् विशेषाणाम् अनुवादःइति ब्रह्मनिरूपक-महावाक्य-प्रकरणेऽपि सृष्टिनिरूपकवाक्यानां न असङ्गतिः'' इतिच तत्रैव उक्तम्.

[२]''तथाहि...'' इत्यादिना अध्यारोपापवादः स्वरूपकथनन्तु अज्ञानात्. ''अस्थूलम् अनणुः'' इत्यादि उक्त्वा उक्तस्य ''एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने'' इति वचनस्य गतिस्तु चतुर्थ-पञ्चम-श्लोकयोः उक्तेति तद्विरोधो न. अतो निर्विशेषवाक्यानां तद्विरोधेन दौर्बल्यापादनं सुवर्णसूत्राख्य-तट्टीकोक्तं न किञ्चत्.

[३]यद्यपि सविशेष-वाक्य-मात्र-दर्शनेन जगदुत्पत्तिवर्णने कर्तुः अपेक्षया तदुपदेशः तात्पर्यविषयः इति वक्तुं युज्येत, तथापि निर्विशेषवाक्यदर्शनेन तदपि अनुवादकोटिगतमेव. अनुवादस्यतु बाधितविषयत्वम् इष्टमेव. स्वारुढशाखाच्छेदनादिदृष्टान्तस्तु विषमः. ''अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'', ''यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्ने अनुपश्यति'' इत्यादौ व्यभिचारी च. बाधितत्वेन ज्ञातस्यापि ईश्वरेण निर्माणन्तु ऐन्द्रजालिकवत्. एतेन तट्टीकोक्तं ''सर्वज्ञस्य मायिकपदार्थनिर्माणम् असङ्गतम्'' इति निरस्तम्. श्रुतीनां सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादकत्वन्तु ''अथ रथान्'' इत्यादौ व्यभिचारि. तात्पर्यविषय-सर्वार्थतत्त्व-प्रतिपादकत्वन्तु इष्यते. तात्पर्यविषयस्तु निर्विशेषं ब्रह्मैव.

[४]प्रतीतिविषयेतु इयं व्यवस्था. सद्विलक्षणस्य जगतः

स्वप्नवत् प्रतीतिः.

[५]*हेतुभूतवासनायाः सत्यविषयकानुभवजन्यत्वे गौरवाद् अनुभवजन्यत्वमेव अङ्गीक्रियते. यावद्भिः संस्कारैः स्मृतिरूपम् अध्यासरूपं वा कार्यम् उत्पाद्यते तावताम् अनुभवेन उत्पत्तिः जीवादृष्टेन च उद्बोधः. अदृष्टस्य दृष्टसामग्रीसम्पादनद्वारा कार्यहेतुत्वनियमस्तु अदृष्टस्य हेतुत्वम् अनङ्गीकुर्वतः ते असङ्गतः. सुषुप्त्युत्तरे स्वप्ने जागरणे च अदृष्टमात्रस्य हेतुत्वं वदन्त्या ''पुनश्च जन्मान्तर-कर्मयोगात् सएव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः'' इति श्रुत्या विरुद्धश्च. अदृष्टेन स्वकार्योत्पत्तये या दृष्टसामग्री सम्पाद्यते सापि तत्कार्यमेवेति तत्रापि दृष्टसामग्र्यपेक्षायां मूलच्छेदकारी अनवस्था आपद्येत, अनपेक्षणेतु नियमभङ्गःइति अप्रमाणिकोऽयं नियमः. ''सति सम्भवे'' इति वा नियमशरीरे निवेशनीयम्.*

[६]*''वैधर्म्याच्च'' इति सूत्रविरोधस्तु 'ईशानः सृजति' इत्यादिश्लोकव्याख्यायाम् उद्धृतः (इति तृतीय-खण्ड-खण्डनम्)*]

प्राभ. : [१]अथ *द्वितीयस्तु स्याद् न स्याद् विरोधात् च* इत्यादि तृतीयखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

तत्र जडजीवधर्माणां ब्रह्मणि निषेधः प्रतिपादितो विष्णौ 'जीवगतकर्तृता'इति श्लोकखण्डनावसरे ब्रह्मणि विशेषाः न निरूप्यन्ते. अतन्निषेधे विशेषाणां मिथ्यात्वं न स्याद् इत्यपि तत्रैव निरस्तम् इष्टापत्तिपराहतञ्च, वेदस्य प्रतारकत्वापत्तिश्च स्यात्. नच मिथ्यात्मनां

विशेषाणां मिथ्यात्वेन ग्राहकतया न प्रतारकत्वम् इति वाच्यं, मिथ्यात्वेन अकथनात्. नहि इमे विशेषाः मिथ्या एवं कुत्रापि वेदे प्रतिपाद्यते नापि तात्पर्येण, तथा सर्ववेदान्तानां ब्रह्मणि तात्पर्यस्य उक्तत्वाद् 'उपक्रमोपसंहारा'दिषड्विधतात्पर्यनिश्चायकलिङ्गानां ब्रह्मविषयत्वात्. *उपासनार्थं क्वचिद् विशेषानुवादः* इत्यपि न किञ्चित्. ब्रह्मधर्माणाम् अन्यत्र अप्रसिद्धानां वेदैकसमधिगम्यानां प्रमाणान्तराप्राप्ततयानुवादासम्भवात्. एतेन *तत्र जडवर्गस्य* इत्यादिकं निरस्तम्.

[२]यत्तु *तथाहि...इत्यादिना अध्यारोपापवादः स्वरूपकथनन्तु अज्ञानाद्* इति उक्तम्. तदज्ञानं त्वन्निष्ठमेव, नहि अनुवादकस्य परोक्तम् अनुवदतः तदुक्तार्थस्य सम्यक्त्वे असम्यक्त्वे वा दोषो अस्ति किन्तु वक्तुरेव, अन्यथा भ्रान्तिज्ञस्यापि भ्रान्तत्वापत्तेः. ''**अस्थूलम् अनणुः**'' (बृह.उप.३।८।८) इत्यादि उक्त्वा ''**एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने**'' (बृह.उप.३।८।९) इत्याद्युक्तेः विरुद्धधर्मविशिष्टं ब्रह्मैव तत्र-तत्र प्रतिपाद्यते. त्वदुक्तगतिश्च पञ्चमचतुर्थश्लोकनिरासकाले पूर्वभागएव निरस्ता. अनुवादस्य बाधितविषयत्वम् इष्टं चेद् ''अग्निः हिमस्य भेषजम्'' इत्याद्यनुवादेऽपि अप्रामाण्यशङ्का स्यात्. जगदनुवादस्य बाधितविषयत्वे जगदन्तर्गतवेदस्य बाधितत्वाद् अनुवादस्य बाधसम्पादकस्य अनुवादो वेदस्य स्वारुढशाखाच्छेदनतुल्यैव इति. एतेन *स्वारुढशाखाच्छेदनादिदृष्टान्तस्तु विषमः* इति निरस्तम्.

[३]''**अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते**'' (बृह.उप.४।३।१०) इत्यादौ व्यभिचारश्च, तत्र हेत्वसम्भवात्. ''**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्**'' (ब्र.सू.२।२।२९) इत्यादिना प्रतिपादितस्वप्नविलक्षणजगन्निषेधप्रतिपादकत्वस्यैव हेतुत्वात्. *दृष्टान्तस्तु व्यभिचारि* इत्यपि असङ्गतं, दृष्टान्तस्य व्यभिचारित्वेऽपि हेतोः अव्यभिचारित्वेन क्षतेः अभावात्. नहि दृष्टान्तस्य

व्यभिचारित्वे हेतोः दुष्टत्वं सम्भवति येन तत्प्रदर्शनं सङ्गतं स्यात्. ऐन्द्रजालिकेन यथा सत्यद्रव्यलिप्सया बाधितवस्तुनिर्माणं क्रियते तथा ईश्वरस्य प्रयोजनाभावात्, त्वन्मते सत्यप्रयोजनस्यापि अभावाद् जगन्निर्माणं न सम्भवति. तथाच ''ऐन्द्रजालिकवद्''इति दृष्टान्तो असङ्गतः. स्वप्नादिव्यभिचारश्च ''वैधर्म्याद्''इत्यादिना प्रतिपादितसर्वार्थतत्त्वप्रतिपादकत्वरूपहेत्वभावादेव न सम्भवति इति उक्तप्रायम्. *तात्पर्यविषयन्तु निर्विशेषं ब्रह्मैव* इति असङ्गतं, तात्पर्यं कस्यचिच्छब्दस्य वाच्यमेव सम्भवति, यथा 'सैन्धव'पदस्य वाच्याश्वघोटकादौ प्रकरणात् तात्पर्यज्ञानं, यथावा 'तीर'पदवाच्ये तीरादौ 'गङ्गा'पदस्य. ब्रह्मणः त्वन्मते अवाच्यतया तत्र तात्पर्यं न सम्भवति, वाच्यत्वे निर्विशेषत्वहानिः स्यात्.

[४]यत्तु *प्रतीतिविषयेतु इयं व्यवस्था सद्विलक्षणस्य जगतः स्वप्नवत् प्रतीतिः* इति उक्तं. तदपि मन्दं, स्वाप्नप्रतीतेः वासनाजन्यत्वेन जाग्रतप्रतीतेरपि वासनाजन्यत्वे विनापि चक्षुःसंयोगादिकं घटादिप्रतीत्यापत्तिः तादृशं स्मृतित्वञ्च स्यात्. चक्षुरादीनामपि तत्र सहकारित्वकल्पनाद् न दोषः इति चेत्, प्रत्यभिज्ञात्वापत्तिः तथा सति ''सोऽयं घटः'' इत्येव ज्ञानं स्याद् नतु ''अयं घटः'' इति. नच दोषात् प्रमुष्टतत्ताकं ज्ञानं जायते इति वाच्यम्, अत्र दोषस्य मूलाविद्यारूपस्यैव त्वया वक्तव्यत्वेन तस्य च ''सोऽयं देवदत्तः'' इत्यत्रापि सत्त्वात् तत्रापि देवदत्तः इत्येव ज्ञानं स्यात्. तस्माद् 'घटादि'प्रत्ययादौ वासनायाः हेतुत्वासम्भवेन स्वप्नादिदृष्टान्तो असङ्गतएव.

[५]यदपि *हेतुभूतवासनायाः सत्यविषयकानुभवजन्यत्वगौरवाद् अनुभवजन्यत्वमेव अङ्गीक्रियते* इत्यादि उक्तम्. तत् तुच्छं, संस्कारं प्रति अनुभवत्वेन कारणत्वे उपेक्षात्मकानुभवादपि संस्कारोत्पत्तिः स्यात्. अतः उपेक्षान्यानुभवस्यैव कारणत्वम् अवसेयम्. एवमपि संशयात्मकानुभवादपि

संस्कारोत्पत्तिभिया संशयान्योपेक्षान्यानुभवत्वेनैव हेतुत्वं वक्तव्यम्. नच संशयस्य अनुभवत्वाभावादेव संशयात् संस्कारानुपपत्तौ संशयान्यत्वनिवेशो व्यर्थः इति वाच्यं, तर्हि असत्यविषयकस्यापि अनुभवत्वासम्भवेन भ्रमसङ्ग्रहार्थम् अनुभवजन्यत्वमेव अङ्गीक्रियते इति कथनं तव असङ्गतं स्यात्. तस्माद् भ्रमप्रमासाधारणमेव अनुभवत्वं त्वत्सम्मतम् इति संशयान्यत्वनिवेशः आवश्यकः. एवञ्च संशयान्यत्वघटकस्य संशयत्वस्य स्वघटितधर्मावच्छिन्नप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यतावच्छेदकीभूतायाः स्वनिरूपितविरोधविषयता तन्निरूपितप्रकारतासामानाधिकरण्यसम्बन्धेन तत्प्रकारताविशिष्टप्रकारतारूपस्य निवेशे गौरवाद् लाघवेन भ्रमान्यानुभवत्वे-नैव संस्कारं प्रति हेतुत्वाद् न प्रतीतिः त्वन्मते बाधितार्थस्य सम्भवति इति अन्यत्र विस्तरः. अत्र *यावद्भिः संस्कारैः* इत्यादिना *जगत्प्रतीतिः वासनया वासनोद्बोधादृष्टेन* इति प्रतिपादितं तद् न विचारसहं, सृष्टेः पूर्वम् अदृष्टस्थित्यसम्भवाद् अन्तःकरणस्य तदुपाधिकस्य जीवस्य वा तदानीं त्वन्मते अभावाद्. मायायाः तत्स्वीकारे तस्य अनादित्वस्वीकारे च **''एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप.६।२।२) इत्यादि श्रुतिविरोधः. अदृष्टस्य दृष्टसामग्रीद्वारैव कार्यहेतुत्वं त्वया स्वीकरणीयम् इति अभिप्रायः. तेन *अदृष्टेत्यादिकम्* असङ्गतम्.

[६]**''वैधर्म्यात् च...''** (ब्र.सू.२।२।२९) इत्यादिसूत्रविरोधोद्धारस्तु त्वत्कृतः तत्रैव दूषितः (इति तृतीयखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्श-नम्).

(खण्ड:४ क. अविद्याकृतं सर्वम् इति विचार:, ख. जीवस्वरूप-विचारोपक्रमे बिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम्)

[*सहस्रा. : [विद्व.] ननु जीवाविद्यैव जगत्प्रतीतौ हेतु:. तथाहि, जीव-ब्रह्मणो: अभेद-बोधक-श्रुत्या भेदस्यच तत्रैव ज्ञान-निवर्त्यत्वोक्त्या, भेदस्य अतात्त्विकत्वम्, अज्ञान-कृतत्वं च निरूपितम्. यत: परमार्थतो भिन्नस्य अभेदासम्भव:, ज्ञानमपि अज्ञानस्यैव निवर्तकम्. तथाच अनादि: अविद्यैव अज्ञानरूपा "अहम् अज्ञ:" इति अनुभवसिद्धा भावरूपा तदवच्छेदिका मन्तव्या, जीव-ब्रह्म-विभागस्य अनादित्वाद्, "बन्धो अस्य अविद्यया अनादि:" इति वचनात्. तथाच विचित्र-परिणाम-शीलया अविद्ययैव दोषरूपया विचित्रं जगत् प्रतीयते. युक्तञ्च एतत्, कार्यस्य तुच्छत्वेन तत्कारणेनापि तादृशेनैव भवितव्यं, कारण-सजातीयत्वात् कार्यस्य. यथाच मुखसम्बन्धमात्रेण दर्पणादिकं बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भेदनिमित्तं, तथा चिद्रूपब्रह्मसम्बन्धमात्रेण तद्भेदनिमित्तं सा. तत्कृत-तदध्यास-वशात् स्वस्मिन् अज्ञत्वं, कर्तृत्व-भोक्तृत्वे मन्यमानो जीवो विधि-नियोज्यादि-भावंमनुते. तत: शमदमादिभि: गुरूपसत्ति-तदुपदेश-श्रवण-मनन-निदिध्यासनैश्च अविद्याधिष्ठानरूप-स्वात्मनो अद्वैत-कूटस्थ-चिदेकरसत्व-लक्षण-स्वरूपज्ञानेन अज्ञाननिवृत्त्या तत्कार्यरूपप्रपञ्चस्यापि निवृते: "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतिनिरूपितो मोक्ष: सम्पद्यते; रज्जुस्वरूपज्ञानेन प्राचीनसर्पानुभव-तत्कृतभय-निवृत्त्या स्वास्थ्यमिव. ननु ब्रह्मण: सर्वज्ञस्य अविद्यासम्बन्धो अशक्यवचन:. अज्ञत्वापादकत्वाद्. नच जीवाश्रयैव सा इति वाच्यम्, ऐक्याङ्गीकारात् तयो:. एतेन जीवस्यापि अज्ञत्वम् अनुपपन्नं वेदितव्यम् इति चेद्, न; जपाकुसुमारुण-स्फटिक-स्तम्भश्रेणि-गतपुरुष-प्रतिबिम्बस्य*

अरुणत्ववद्, जीवस्य अज्ञत्वावभासोपपत्तेः, तद्बिम्बस्य उज्वलतेव ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वोपपत्तेः, अविद्याश्रयत्वेन न अभेदानुपपत्तिः इति.

एवं प्राप्ते ब्रूमः. पूर्वं जीवस्वरूपं विचारणीयं, यस्य सा शक्तिः. तत्र न तावद् ब्रह्मप्रतिबिम्बो जीवइति पक्षो युक्तिसहः. तथाहि, ब्रह्मणो नीरूपत्वेन प्रतिबिम्बाश्रयस्य अज्ञानस्य च अस्वच्छत्वेन क्व कस्य प्रतिबिम्बः स्यात्? रूपवतएव प्रतिबिम्बनियमात्. दृष्टानुसारिणीहि कल्पना उचिता. अन्यथा वायुदारुणोरपि बिम्बत्व-प्रतिबिम्बाश्रयत्व-प्रसङ्गात्. ननु दर्पणादौ आकाशप्रतिबिम्बो दृश्यते, न तावद्देशीयप्रभामण्डलस्यैव रूपवत्त्वेन तत्र प्रतिबिम्बप्रतीतेः. किञ्च यत्र यद् अस्ति तत्र तद् न प्रतिबिम्बते, दर्पणरेखावत्. तथाच सर्वगतस्य ब्रह्मणो अविद्यायामपि सर्वगतायां सत्त्वेन कथं प्रतिबिम्बः स्यात्? नच ''संयोगसम्बन्धेन तत्र वर्तमानत्वम् अप्रतिबिम्बे प्रयोजकम्, एतयोः च न संयोगो, विभुत्वाद् अतो न अनुपपतिः'' इति वाच्यं, संयुक्तस्यापि प्रभामण्डलस्य तथा प्रतीतेः. नच ''यदंशे संयोगः तदंशे न तथा'' इति वाच्यं, बिसिनीसूत्रमात्रान्तरिताङ्गुलीतलभागस्थप्रभायाःअपि दर्पणे प्रतिबिम्बात्. किञ्च, ''द्वा सुपर्णा सयुजा'', ''गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे'', ''गुहां प्रविष्टौ आत्मनौ हि तद्दर्शनाद्'' इत्यादि-श्रुतिन्याय-निर्णीता जीव-परमात्मनोः एकत्र स्थितिः, बिम्बप्रतिबिम्ब-पक्षे न सङ्गच्छते तयोः लोके तथा अदर्शनात् (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ ननु 'जीवाविद्यैव' इत्यादिः ''तयोः लोके तथा अदर्शनाद्'' इत्यन्तः चतुर्थः खण्डः खण्डचते :

तत्र यद्यपि अस्मन्मतोपपादनप्रयासो मूलटीकयोः अस्मन्मता-ज्ञानपूर्वकत्वेन न नो रोचते तथापि विस्तरभयात् न तद्दूषणाय प्रयत्यते.

[१]मायायाः स्वच्छत्वं, रूपरहितस्य प्रतिबिम्बः, यत्र यद् अस्ति तत्रापि तत्प्रतिबिम्बश्च, "मायायां प्रतिबिम्बते" (सहस्रा.१।८) इति श्लोकव्याख्यायां प्रत्यपादि. इति इयं कल्पना दृष्टानुसारिण्येव.

[२]किञ्च त्वदुक्तन्याये 'कल्पना'शब्देन श्रौतार्थज्ञानस्यापि ग्रहणे स्वर्गादिः अलीकः स्यात्. तज्ज्ञानस्य दृष्टानुसारित्वाभा-वात्. अर्थापत्तेः व्यतिरेक्यनुमितेः वा ग्रहणे न अत्र तन्न्यायावतार-शंकापि, श्रौत-प्रतिबिम्ब-प्रमायाः कल्पनात्वा-भावात्.

[३]किञ्च प्रभायाः रूपमात्रत्वेन गुणत्वं मन्यमानस्य ते तत्प्रतिबिम्बस्वीकारे कुतो न रूपवत एव प्रतिबिम्बः इति नियमविरोधः. सकिरणायाः प्रभायाः प्रतिबिम्बस्वीकारेतु न मानम्. किञ्च एवं गमनमपि आलोकस्य सकिरणस्यैव स्याद् इति त्वया सिद्धान्तपरतया मन्यमानेन "गुणाद्वाऽऽलोकवद्" इति सूत्रेण विरोधः स्यात्. "द्वा सुपर्णा", "गुहां प्रविष्टौ परमे", इत्यादिश्रुतेः "गुहां प्रविष्टौ आत्मनौ हि" इत्यस्य सूत्रस्य च अविरोधो "मायायां प्रतिबिम्बते" (सहस्रा.१।८) इति श्लोकव्याख्यायाम् उक्तः. एवं टीकोक्तस्य "रूपं रूपम्" इत्यादिश्रुतिव्याख्यानस्य दूषणमपि तत्रैव उक्तम्.

[४]किञ्च "गुहां प्रविष्टौ" इत्यत्र 'छायातपौ' इति उक्तत्वेन सा श्रुतिः प्रतिबिम्बत्व-वादिन्येव "छाया स्याद् आतपाभावे

प्रतिबिम्बार्कयोषित:'' *इति मेदिनीकोशेन* *'छाया'शब्दस्य* *प्रतिबिम्बपरत्वज्ञानात्.*

[५]*मायाया: ब्रह्माश्रितत्वे जीवाश्रितत्वे वा ब्रह्मणो यथा न अज्ञत्वं तथा उक्तं तृतीयश्लोकव्याख्यायाम् (इति चतुर्थखण्ड-खण्डनम्)*].

प्राभ. : *अथ ननु जीवाविद्यैव* इत्यादे: *तयो: लोके अदर्शनाद्* इत्यन्तचतुर्थखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र मायाया: त्रिगुणात्मकत्वात् स्वच्छत्वं न सम्भवति, तमस: कलुषत्वस्य त्वदीयै: वर्णनाद्, रजसोऽपि निर्मलत्वाभावाद्, ब्रह्मणश्च नीरूपत्वाद् निर्विशेषत्वाच्च प्रतिबिम्बासम्भव:. ''सर्वव्यापिनश्च प्रतिबिम्बो न सम्भवति'' इति सर्वम् उक्तं प्राक्. *मायायां प्रतिबिम्बते* (सहस्रा.१।८) इति श्लोकखण्डनावसरे गगनस्य प्रतिबिम्बेऽपि यद् वक्तव्यं तदपि तत्रैव प्रतिपादितम्.

[२]यत्तु *किञ्च* इत्यादिना *'कल्पना'शब्देन श्रौतार्थज्ञानस्यापि ग्रहणे* इत्यादिना उक्तं तदपि त्वदुक्तार्थस्य श्रौतत्वे सति स्याद्. नहि त्वदुक्तरीत्या निर्विशेषस्य प्रतिबिम्ब: श्रुतौ प्रपञ्चितइति त्वत्कल्पनाहेतुदर्शनमूलैव. साच दृष्टान्तं विना न स्वार्थसाधिकेति दृष्टान्ते प्रतिबिम्बो रूपवत:, सएव च उभयवादिसिद्ध: ब्रह्मण: च रूपाभावनिर्विशेषत्वाभ्यां प्रतिबिम्बाभावानुमानेन तादृशहेतो: सत्प्रतिपक्षितत्वम् इति अभिप्रायेण तत्कथनम् इति. अधिकन्तु पूर्वमेव प्रपञ्चिम्.

[३]जीवब्रह्मणो: अभेदोऽपि न सम्भवति ''**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया: समानं वृक्षं परिषस्वजाते**'' (मुण्ड.उप.३।१।१) इति श्रुतिविरोधात्. नच तादृशश्रुतावपि अभेदएव तात्पर्यविषय: इति वक्तुं

शक्यते उपक्रमोपसंहारविरोधात्. भेदेनैव उपक्रमः पुनरपि ''**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति**'' (मुण्ड.उप.३।१।३) इति उक्तम्. तत्रापि साम्यस्य भेदघटितत्वाद् भेदएव प्रतिपादितः. एवञ्च यदि बिम्बप्रतिबिम्बरूपौ जीवेशौ तादृशश्रुतेः अभिप्रेतौ चेत्, तदा ब्रह्मज्ञानेन जीवस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनं विरुद्धम्. नहि त्वन्मते मुक्तस्यापि प्रतिबिम्बरूपता येन साम्यं स्याद्. नच 'साम्य'पदेन अभेदएव विवक्षितः इति वाच्यं, साम्यस्य भेदघटितत्वात्. अतएव ''तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्त्वं सादृश्यम्'' इति प्रवादोऽपि सङ्गच्छते. किञ्च तद्गतभूयो धर्मवत्त्वांशोऽपि त्वन्मते दुर्घटः ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वेन तद्गतभूयोधर्मस्यैव अप्रिसिद्धेः. मोक्षदशायां जीवस्यापि निर्विशेषब्रह्मस्वरूपत्वाङ्गीकारेण भूयोधर्मवत्त्वस्य तदानीम् असम्भवात्.

[४]एवम् ''**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**'' (कठोप.१।३।१) इत्यादिश्रुतिविरोधश्च. तत्रापि कर्मफलभोगस्य कूटस्थे त्वदभिमते असत्त्वात्. नच ''छत्रिणो यान्ति'' इतिवद् एकस्य पातृत्वेऽपि अजहत्स्वार्थलक्षणया द्वावेव पिबन्तौ इति उच्यते इति वाच्यं, वेदे लक्षणायाः अन्याय्यत्वाद्. एवं ''**गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनाद्**''(ब्र.सू.१।२।११) इति सूत्रविरोधः अस्मन्मते न अयं दोषः. ''गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ = जीवब्रह्मरूपौ, 'गुहा' अत्र तद्हृदयाकाशः, तत्र प्रविष्टौ = जीवपरमात्मनावेव, कस्माद् वेदे तथैव दर्शनात्. ''**अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**'' (छान्दो.उप.६।३।२) इत्यादिश्रुतौ उभयोः प्रवेशश्रवणाद् ऋतं पिबन्तौ इति श्रुतेरपि अयम् अर्थः : ''**ऋतं सत्यं परं ब्रह्म**'' (महाना.उप.१२।१) इति वाक्याद् ऋतं ब्रह्मैव तथाच स्वरूपामृतपातारौ सुकृतमपि ब्रह्मैव. ''**तस्मात् तत् 'सुकृतम्' उच्यते**'' (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः तस्य लोकः अक्षरब्रह्म. तत्र अक्षरात्मकभगवल्लोकस्थानां परमपरार्धोपरि जीवब्रह्मणोः

परिदृश्यमानत्वात् तान् प्रति एवं कथनं परोक्षवादः. छाया अतिसारूप्यं गतस्य जीवस्यापि तथात्वात् छायारूपत्वं ब्रह्मप्रकटानन्दत्वाद् आतपः. एवमेव ''**द्वासुपर्णा...**'' इत्यादावपि अस्मन्मते न विरोधः. त्वन्मते जीवस्वरूपनाशस्यैव मोक्षपदार्थतया विरोधो दुर्वारएव. एवं ''**जुष्टं यदा पश्यति अन्यम् ईशम् अस्य महिमानम्**'' (श्वेता.उप.४।७) इति श्रुतिविरोधोऽपि.

[५]एवं मायायाः ब्रह्माश्रितत्वे ब्रह्मणो अज्ञत्वापत्तिरूपो विद्वन्मण्डनोक्तः दोषोऽपि दुष्परिहरएव. त्वदुक्तञ्च पूर्वभागएव खण्डितम् (इति चतुर्थखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वदर्शनम्).

(खण्डः५ मायिकसिद्धान्तरीत्या न वैधप्रवृत्तिः सम्भवति इति)

[*सहस्रा. : [विद्व.] अपरञ्च. अविद्यायां ब्रह्म-प्रतिबिम्बो जीवः इति मोक्षश्च अविद्यानाशः इति वदतः तव मते जीव-स्वरूप-नाशएव मोक्षः इति सम्पद्यते. तथाच ''आत्महानम् अपुरुषार्थः'' इति मोक्षस्य अपुरुषार्थत्वम् आपद्येत. जीवस्य अलीकत्वञ्च स्यात्. तथा सति कोऽपि पारलौकिक-प्रयत्नं न कुर्यात्. तथाहि, मुमुक्षुः हि मोक्षस्वरूपं, बद्धत्वेन स्वस्वरूपं च ज्ञात्वा तत्साधने यतिष्यते. तथाच उक्तोभय-स्वरूपज्ञाने ''सर्वं मिथ्या'' इति ज्ञात्वा ''प्रवृत्तिश्च अविद्याध्यास-कृतैव ऐहिकी पारलौकिकी अपि'' इति ज्ञात्वा च ''वरम् ऐहिक्येव नतु पारलौकिकी, स्वरूपहानि-हेतुत्वाद्'' इति सर्वाप्रवृत्तौ निवृत्ति-मार्गएव उच्छिद्येत. तूष्णींवा तिष्ठेत् सर्वोऽपि निषिद्ध-विहितयोः च अविशेषात् कुतोऽपि न निवर्तेतएवेति सन्मार्गमात्रोच्छेदनाय ईदृशं मतं प्रवर्तयन् व्यवहारमात्रे वेदमपि प्रमाणत्वेन उररीकुर्वन् प्रच्छन्न-बौद्धो असि. वेदमपि स्वाज्ञान-कल्पितं ब्रुवन् अतिधृष्टो असि.*

ननु अखिल-प्रपञ्चस्यैव तथात्वात् तन्मध्यपातित्वेन वेदेऽपि तथात्वं ब्रवीमि. बाढं ब्रवीषि, निरङ्कुशत्वात् ते तुण्डस्य, नतु युक्तियुक्तं ब्रवीषि. तथाहि नहि प्रतिबिम्बिताम्रतरु-कदम्ब-फलादानाय प्रसारित-बाहुः प्रतिबिम्बत्वं जानन् दृष्टचरः कश्चित्. एवं वेदे तथात्वं जानन् तदुक्त-स्वर्गापवर्गादि-फलकयाग-संन्यासादिषु बह्वायास-साध्येषु सर्वबन्धु-परित्यागेन सर्वसुख-वैमुख्येन च को वा प्रवर्तेत ?

ननु स्वप्ने स्वाप्निकफलार्थं प्रवृत्तिः दृष्टचरी, सत्यं दृष्टचरी. तदा "तत् सत्यमेव" इति विदुषो नतु "स्वप्नम् इमं पश्यामि, न पारमार्थिकम्" इति स्वप्नएव विदुषः इति गृहाणः. ननु विशेषदर्शनस्य स्वसजातीयस्यैव भ्रमस्य निवर्तकत्वात्, प्रकृतेच प्रापञ्चिकभ्रमस्य अपरोक्षरूपत्वात् शाब्दं ज्ञानं न तन्निवर्तन-समर्थमिति प्रवृत्तिः उपपद्यते इति चेद्, न एतत् सारम्. प्रतिबिम्बत्वेन अनुमितासत्त्वानामपि तरूणां चाक्षुष-प्रतीतिवत् शाब्द-ज्ञानानन्तरमपि प्रपञ्च-प्रतीतिः आस्तां नाम नतु जातु प्रवृत्तिः. अन्यथा तत्फलार्थापि प्रवृत्तिः स्यात्. प्राग्ज्ञातस्य च यागब्रह्म-ज्ञानयोः स्वर्गमुक्ति-फलकत्वज्ञानस्य पश्चाद् जातेन तन्मिथ्यात्व-ज्ञानेन बाधे बाधकाभावः, उभयोरपि शाब्दत्वात्.

ननु द्वैत-प्रतीतिरेव अनर्थरूपा तन्निवृत्तिश्च अपरोक्ष-ब्रह्म-ज्ञानं विना न भवतीति तदर्थं प्रवृत्तिः इति चेद्, अत्र मिथ्यावादी प्रष्टव्यः तदनर्थहेतुत्वैतत्-कार्यकारण-भावावगतिः तव कुतः ? इति, श्रुतितः इति यदि ब्रूयात् तदा स वक्तव्यो "निःश्वसितम् अस्य वेदाः", "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदान् च प्रहिणोति तस्मै", "वेदो नारायणः

साक्षात् स्वयम्भूः इति शुश्रुमः'' ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव च अहम्'' इत्यादि-स्वस्मृति-विरुद्धं यद् अज्ञानकल्पितत्वं स्वस्य लौकिक-वाक्यावैशिष्ट्यापादकं कथं श्रुतिः वक्तुम् अर्हति इति स्वयमेव विचारय.

किञ्च पूर्वं वेदानां पारमार्थिक-सत्त्वं ज्ञात्वा तदौदासीन्येन वा तच्छ्रवणे प्रवृत्तः त्वदुक्तरीत्या च श्रुतेः तदुक्त-साधनानां च अज्ञान-कल्पितत्वं श्रुत्वा ''स्वाप्निक-भोजनेन परमार्थतः तृप्तिवत् असत्तुल्यैः गुरुवाक्यैः कथं परमार्थ-सद्रूपं ब्रह्म फलिष्यति'' इति शङ्कया अवधारणेन वा न कश्चित् प्रवर्तेत.

ननु ''यतएव अवधारणं ततएव प्रवृत्तिरपि'' इति चेद्, मैवं, पूर्वं तथा अवधारणेऽपि तादृशानामेव तदुक्तसाधनानाम् अतादृशब्रह्मफलकत्वं श्रुत्वा, उक्त-दृष्टान्त-न्यायेन बाधितार्थत्वं जानन् ''एकतरबाधोऽपि अशक्यः'' श्रुतित्वाविशेषाद् इत्यपि जानन्, तदर्थे सन्दिहानः तन्निर्णयार्थं प्रवृत्तो ''निःश्वसितम्...'' इति, ''यो ब्रह्माणम्'' इति ''नामरूपे व्याकरवाणि'' इति, ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्'' इति, ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'', ''तत् सत्यम् इति आचक्षते'', ''कथम् असतः सद् जायेत'' इति, ''वेदो नारायणः'', ''वेदैश्च सर्वैः अहमेव'', ''अहं सर्वस्य प्रभवः'', ''तेने ब्रह्म हृदा'', ''आनन्दमात्र-करपाद-मुखोदरादिः'' ''जन्माद्यस्य यतः'' , ''आनन्दमयो अभ्यासाद्'' इत्यादि-श्रुतिस्मृतिन्याय-सहस्रैः बाधितत्वावधारणात् त्वदुक्तरीत्या न विचारकस्य प्रवृत्तिः सम्भवति.

सम्प्रतितु विचारकाणामपि आसुर-सर्गोत्पन्नत्वेन भगवन्माया-मोहितानां न बाध-ज्ञानं पूर्वोक्तम् इति तथैव प्रवृत्तिः. अतएव, ''ज्ञानिनापि चेतांसि देवी भगवती हि सा, बलाद् आकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति'', इति मार्कण्डेयेन उक्तम्. यतः तथैव हरीच्छा. तद् उक्तं पाद्मादौ ''द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु, स्वागमैः कल्पितैः त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु, माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिः एषा उत्तरोत्तरा'' इत्यादि. फलञ्च तेषाम् अन्धन्तमएव, ''माम् अप्राप्यैव'' इति वचनाद् इति अलम् अतिप्रसङ्गेन (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'अपरञ्च...' इत्यादिः 'अलम् अतिप्रसङ्गेन' इत्यन्तः पञ्चमः खण्डः खण्डयते :

[१]यथाच जीव-स्वरूप-नाशो न मोक्षो, यथाच जीवस्य न अलीकत्वं तथा अष्टमश्लोकव्याख्यायाम् उक्तम्. प्रत्युत त्वन्मते मुक्तौ जीव-स्वरूप-नाशः इति उक्तं सप्तमश्लोकव्याख्यायाम्.

[२]ब्रह्मातिरिक्तं ''सर्वं मिथ्या'' इति निश्चयस्तु श्रवणादेः परम्. तदानीन्तु न कापि प्रवृत्तिः इष्यते, अतएव सनकादयः संन्यासेऽपि न प्रावर्तन्त. याज्ञवल्क्यादीनान्तु श्रौतादि-कर्मसु अप्रवृत्तिरूपएव संन्यासो जीवन्मुक्ति-सुखानुभवाय विक्षेपजिहासया इति अवेहि. तस्मात् संन्यासे कर्मान्तरे वा ज्ञानात् प्रागेव प्रवृत्तिः. तदानींहि ''वेदाः स्वर्गादयश्च कल्पिताः'' इति ज्ञानं नास्तीति तत्र प्रवर्तते. शास्त्रीयं कल्पितत्वज्ञानन्तु

असम्भावनादि-दोषात् सन्दिग्धमिवेति न अनादिकालिकां कर्मादिश्रद्धां परोक्षमपि बाधितुम् ईष्टे. श्रवणादिभिः असम्भावनादिनिवृत्त्या सन्देहनिवृत्तौतु तदपि तां बाधितुम् इष्टएव. तथाच श्रुतिः ''यत्रहि द्वैतमिव भवति तद् इतरः इतरं पश्यति'' इत्याद्या ''यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्'' इत्याद्या च. अधिकन्तु अस्मत्कृत-दण्डधारण-व्यवस्थायां द्रष्टव्यम्.

[३]किञ्च लिपौ सत्यपि कल्पितवर्णत्व-ज्ञाने अकल्पितार्थ-ज्ञानाय यथा तत्र प्रवृत्तिः, सत्यपि कल्पितत्वज्ञाने दर्पणादिस्थमुखादिषु तद्दर्शने च यथा प्रवृत्तिः, तथा संन्यासैहिकामुष्मिक-साधनेष्वपीति न शास्त्रीयमार्गोच्छेदो बाधितानुवृत्त्या व्यवहारस्य आचार्यैः साधितत्वात्. 'नहि प्रतिबिम्बित' इत्यत्र दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोः वैषम्यं, दृष्टान्ते कल्पिते प्रवृत्त्यदर्शनेन दार्ष्टान्तिके कल्पितेन प्रवृत्त्यभावस्य कथनात्. प्रतिबिम्बताम्रतरुफलादानेतु न प्रवृत्तिः अध्यासानुवृत्ता-वपि अभिमतसाधकत्वाज्ञानात्, पुरोवर्तिनि तत्साधकत्व-ज्ञानस्यैव प्रवृत्तिं प्रति हेतुत्वात्. कस्य बाधितहेतोः साधकताज्ञानं किं प्रति च तदिति तु प्रमाणबलाद् व्यवस्थाप्यं, नतु दृष्टान्तमात्रेण अतिप्रसङ्गात्. प्रत्युत त्वन्मते एव सर्वमार्गोच्छेदः इति उक्तं ''सर्वात्मा...'' (सहस्रा. १।१७) इत्यस्य व्याख्यायाम्.

[४]मुक्तेः अपारलौकिकतायाः ''न तस्य प्राणाः'' इत्यादि-श्रुतिसिद्धत्वेन अस्मन्मतोपपादनावसरे तद्यत्नस्य पारलौकिकत्वोक्तिः चिन्त्या. वेदस्तु न व्यवहारमात्र-बोधकः किन्तु साक्षात्परम्परया वा ब्रह्मबोधकएव इति उक्तं ''सर्वे

वेदाः यत् पदम्'' इत्यादि-श्रुतिस्मृति-तात्पर्यवर्णनावसरे चतुर्थश्लोकव्याख्यायाम्. प्रत्युत पुष्टिमार्गवर्तिनः ते मतेएव प्रमाणमार्गपरत्वेन अभिमतस्य वेदादेः व्यवहारमात्र-परत्वम्.

[५]वेदस्य अज्ञान-कल्पितत्वे महिमापगम-कथनन्तु तन्महिम-स्वरूपाज्ञानमूलकमेव. तन्महिमाहि अबाधिततात्पर्य-विषयार्थकत्वम्. इदञ्च अज्ञानकल्पितत्वे न अपैति मानाभावात्. तथा ईश्वरनिःश्वसितत्वं तथा ब्रह्मणे दत्तत्वञ्च. अतएव न लौकिकवाक्यावैशिष्ट्यम्. असत्त्वन्तु कल्पितस्य न आश्रीयते. अनिर्वचनीयस्यतु हेतुत्वम् अस्तीव इति उक्तं प्राक्. अतः श्रुतीनां कल्पितत्वेऽपि न हेतुत्वाभावः. ततो अनिर्वचनीयत्वाव-धारणेऽपि तत्र गुरुवाक्यादौ च प्रवृत्तिः स्वप्नसूचित-समृद्धाविव तत्र विश्वासात्, फलस्य अविसंवादित्वात्. अत्र सन्देहो द्विविध-श्रुतिभिरेव. तासाम् एकतरविधया निर्धारण-कथनन्तु निर्धारणरीत्यज्ञानात् श्रुतित्वाविशेषाद् इत्यस्य विस्मरणात् च.

[६]तद्रीतिस्तु उपक्रमादिभिः स्वार्थे तात्पर्यवत्त्व-ज्ञानाज्ञानाभ्यां बलवत्त्वाबलवत्त्वज्ञानम्. ''निःश्वसितं...'', ''यो ब्रह्माणम्'' इत्यादेस्तु गतिः उक्ता. एवञ्च अशास्त्ररीत्या प्रवर्तमानः त्वद्-गुरुरेव असुरः इति प्रथमश्लोकोदाहृतकौर्मवाक्यैः निश्चनु. अतो मार्कण्डेयपुराण-वाक्यं तद्विषयकमेव. इदमपि ''यक्षानु-रोधो बलिः'' इति न्यायेन उक्तम्. वस्तुतस्तु ''ज्ञानिनाम्...'' इति श्लोके 'ज्ञानि'पद-'मोह'पदयोः प्रकरणानुरोधाद् अर्थान्तरप-रत्वमेवेति तत्प्रकरणं दृष्ट्वा अवधारय.

[७]किञ्च इदानीन्तनत्वेन त्वदभिमतेभ्यो भगवत्पादादिभ्यः

प्राचीनैः कृतेषु भागवतादिष्वपि त्वया आसुरमोहनाद्यर्थतया वर्णितस्य जगन्मिथ्यात्वादि-कथनस्य दर्शनात् तत्कर्तृणां व्यासादीनामपि असुरत्वं स्यात्. किञ्च, पाद्मे बङ्गदेशज-कायस्थविशेष-कृतः प्रक्षेपो अस्ति इति विद्वद्गोष्ठीगम्यम् इति उक्तम्. अतो न विद्वदादरणीयम्.*

*[८]किञ्च वक्ष्यमाणत्वद्रीत्या आसृष्टेः आच संहारं कर्तव्यस्य ईशेन प्राक्सङ्कल्पितत्वेन किमिदं नियोजनं तद्विस्मृतिमूलकम् ? "नियोगं करिष्यामि" इत्यपि तदैव सङ्कल्पितम् आसीद् इति चेद्, व्यर्थः स सङ्कल्पः इदानीन्तनेन उपपत्तेः. "सर्वान् संसारे मज्जयिष्यामि" इति पूर्वसामान्य-सङ्कल्पेन उपपत्तौ अयञ्च सङ्कल्पो व्यर्थः. सुव्याख्याता च बङ्गजकायस्थेन हरेः दयालुता, त्वयाच तच्चरणसेवया लब्धो अयं श्लोको विप्रशापादेव * .*

[९]किञ्च शिवस्य न अमानुषेषु भावः इति इदम् असङ्गतम्. किञ्च, भगवत्पादमुनेः द्वापरे न अवतारः किन्तु द्वैपायनस्यैवेति तत्परो अयं श्लोकः स्यात्. तथाच सुव्याख्याता व्यासभक्तिः. किञ्च, श्रीकृष्णो द्वापरे अभूद् इति बहुसम्मतम्. सच शिवस्य अंशः इति पुराणे बलदेव-कृष्णयोः तदीय-सितकृष्ण-

---

*पा.टि.द्रष्ट. "'**त्वञ्च रुद्र! महाबाहो! मोहशास्त्राणि कारय**' (**वारा.पुरा.७०।३६**), '**अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज! प्रकाशं कुरु च आत्मानम् अप्रकाशं च मां कुरु इति**' (**पद्मपुरा.६।७१।१०८-१०९**)" (मा.ब्र.सू.भा.१।१।१) इति समानार्थके वचनं नूनं बङ्गदेशजकायस्थविशेषेण प्रक्षिप्तं उत कर्णाद्देशीयपूर्णप्रज्ञैः तत्पूर्वमेव उद्धृतत्वात्. "**वेदबाह्यां विद्याः सुरवैरिणां वञ्चनाय च उपदिदेशेति पौराणिकाः कथयन्ति**" (वि.स.ना.शां.भा.-८७) तथोक्तं शांकरभाष्येऽपि.

केशावतारत्व-कथनाद् अवगम्यते. ''सितश्च कृष्णश्च कश्च तेषाम् ईशौ'' इतितु कदर्थकल्पना बहुषु पुराणेषु तादृश-शब्दोल्लेखस्य निःस्वारस्यकत्वापत्तेः. विष्णोः ईशद्वय-सत्त्वे मानाभावाच्च. अधिकन्तु विस्तर-भयाद् न उल्लिख्यते. शिवावतारत्वं कृष्णस्य कृष्णजन्मखण्डेऽपि स्थितम्. श्रीकृष्णएव च गोवत्सादि-रूपो अभूद् इति ''मानुषादिषु...'' इत्यादि-पदं सङ्गतम्.

[१०]एवञ्च त्वदभिमतातिरिक्तायाः तल्लीलायाः त्वया आसुरमोह-फलकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वेन उद्धव-संवादगत-श्लोकादिषु भागवतस्थेषु त्वया मोहार्थतायाः उक्तत्वेन श्लोकस्य अनागमत्वे मानाभावेन च 'श्रीकृष्णपरमेव' इदं वाक्यं स्याद् इति सुव्याख्याता हरि-भक्तिः. ततो अन्धन्तमश्च तवैव इति उक्तम्. (इति पञ्चमखण्डखण्डनम्)].

प्राभ. : *अपरञ्च* इत्यादिः *अलम् अतिप्रसङ्गेन* इत्यन्तस्य पञ्चमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]त्वन्मते जीवस्वरूपनाशःएव मोक्षः पर्यवस्यति. कुतः ? ''**चैतन्यं यद् अधिष्ठानं, लिङ्गदेहश्च यः पुनः, चिच्छाया लिङ्गदेहः स्यात्, तत्संघो 'जीवः'उच्यते**'' (पञ्चद.४।११) इति जीवस्वरूपं त्वदीयैः प्रतिपादितम्. तत्र मोक्षस्य अविद्यानाशजन्यत्वाद् अविद्यानाशे तत्कार्याणां लिङ्गदेहचिच्छायादीनां नाशेन संघस्य नाशाद्; अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः इति मते च, अविद्यानाशात् तत्प्रतिबिम्बितस्यापि नाशाद्, जीवस्य अलीकत्वं स्यात्. त्वदुक्तसमाधानन्तु पूर्वभागे अष्टमश्लोकखण्डनावसरे एव दूषितम् अस्मन्मते च जीवस्वरूपस्य नित्यत्वात् तच्छङ्कैव न अवतरति.

एतेन *प्रत्युत त्वन्मते* इत्यादिकम् अपास्तम्.

[२]यत्तु *सर्वं मिथ्या इति निश्चयस्तु श्रवणादेः परं तदानीन्तु न क्वापि प्रवृत्तिः इष्यते अतएव जनकादयः संन्यासेऽपि न प्रावर्तन्त* इति उक्तं तत् तुच्छं, जनकादीनां राज्यसम्पादनकार्येषु प्रवृत्तेः दर्शनाद् *न क्वापि* इत्यस्य असङ्गतत्वात्. संन्यासादौतु फलाभावाद् न प्रवृत्तिः. किञ्च 'सर्वं मिथ्या' इति ज्ञानस्य प्रवृत्तिसामान्यप्रतिबन्धकत्वे ज्ञानित्वेन अभिमतानां कृतश्रवणमननादीनां शुकादीनां परिक्षदुपदेशादौ प्रवृत्तिः विरुद्धा स्यात्. याज्ञवल्क्यादीनामपि गोप्रतिग्रहादौ तदर्थं शास्त्रार्थादौ वेदप्रतिपादिता प्रवृत्तिः श्रूयते, बृहदारण्यकादौ सापि विरुद्धा स्यात्. किञ्च संन्यासग्रहणजन्यापूर्वस्य ज्ञानहेतुत्वं यत् त्वन्मते प्रतिपादितं तदपि जनकादेः विनैव संन्यासं ज्ञानोत्पत्तिं स्वीकुर्वता त्वया त्यक्तं स्यात्. तथाच तत्र व्यभिचारेण कारणत्वानुपपत्त्या संन्यासस्य आवश्यकत्वमपि न स्यात्. वस्तुतस्तु कर्मफलत्यागः एव संन्यासः. अतएव **''न कर्माणाम् अनारम्भाद् नैष्कर्म्यं पुरुषो अश्नुते, नच संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति''** (भग.गीता.३।४) इत्यादि-भगवद्वाक्यमपि सङ्गच्छते. **''न आश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद् हि सः''** (याज्ञ.स्मृ. ३।६५) इति याज्ञवल्क्यवाक्यात् केवलाश्रमग्रहणस्य धर्महेतुत्वाभावाद् आधुनिकानां संन्यासाश्रममात्रग्राहिणाम्, अभितः (इत)स्ततो जीविकार्थं धावमानानां न धर्मसिद्धिः नापि मोक्षः इति निश्चीयते. यत्तु *सर्वं मिथ्या* इति ज्ञानस्य श्रवणादिभिः असम्भावनादिनिवृत्तिसहकृतस्य श्रवणादिकप्रवृत्तिसामान्यं प्रतिबन्धकत्वोपष्टम्भकतया **''यत्रहि द्वैतमिव भवति तद् इतरः इतरं पश्यति. यत्र तु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्''** (बृह.उप.२।४।१४) इत्यादिवाक्यम् उपन्यस्तं, तदपि अज्ञानात् तादृशश्रुतेः सुषुप्तिविषयत्वात्. अतएव **''स्वाप्ययसम्पत्योः अन्यतरापेक्षम् आविष्कृतंहि''** (ब्र.सू.४।४।१६)

इति सूत्रभाष्ये सुषुप्ति-परममुक्त्योः अन्यतरापेक्षया इदं विशेषविज्ञानाभावश्रवणं, 'हि' = यतः प्रकरणाद् एवम् आविष्कृतं सुषुप्तिप्रकरणे तद्वाक्यम् (द्रष्ट.ब्र.सू.शां.भा.४।४।१६) इत्यादि उक्तम्. किञ्च तद्वाक्यस्य ज्ञानिविषयत्वे याज्ञवल्क्यादेः आचार्यत्वं न स्यात्. यदि शिष्यादिज्ञानं तस्य अस्ति तदातु ज्ञानाभावो, यदि नास्ति तदा उपदेशासम्भवः — इति उभयतः पाशः स्यात्. तस्मात् स्वमताज्ञानविजृम्भितमेव इदम्.

[३]*किञ्च* इत्यादिना दृष्टान्तो यः प्रदर्शितः सोऽपि विषमः. तत्र लिपौ मिथ्यात्वज्ञानाभावात् तज्ज्ञानजन्यार्थज्ञानस्यापि सत्यत्वात् तद्विषयः. भूतार्थस्यापि मिथ्यात्वाभावाद् दार्ष्टान्तिके च संन्यासादीनां तत्फलानाम् ऐहिकामुष्मिकादीनां साधनानाञ्च मिथ्यात्वात्. एवञ्च शास्त्रीयमार्गोच्छेदो दुरुद्धरएव. किञ्च सर्वस्य मिथ्यात्वे वेदस्यापि मिथ्यात्वात् तत्प्रतिपाद्यस्यापि मिथ्यात्वमेव स्यात्. नहि प्रतिबिम्बित-रसालफलस्य सत्यत्वं तदर्थञ्च प्रेक्षावतां(/प्रज्ञावतां) प्रवृत्तिरपि स्याद्, मिथ्यात्वस्य उभयत्र अविशिष्टत्वाद्. एकस्य अभिमतसाधकत्वम् अपरस्य न इत्यत्र विनिगमकाभावाद्, एतेन *प्रतिबिम्बिताम्रफल...*इत्यादिकं निरस्तम्. अस्मन्मते च वेदगुरुशास्त्रादीनां सत्यत्वाद् अबाधितार्थबोधकत्वात् सर्वस्मिन् मिथ्यात्वबुद्धेः अभावाच्च त्वदुक्तस्य पूर्वं दूषितत्वाच्च न शास्त्रीयमार्गोच्छेदः.

[४]यत्तु *मुक्तेः अपारलौकिकतया पारलौकिकत्वोक्तिः चिन्त्या* इति उक्तं, तत्र उच्यते : मुक्तिः त्वन्मते अनर्थनिवृत्तिः **''तरति शोकम् आत्मविद्''** (छान्दो.उप.७।१।३) इत्यादिश्रुत्या तस्याएव ब्रह्मज्ञानफलत्वेन प्रतिपादनात्. साच ब्रह्मण्येव वाच्या ध्वंसस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात् प्रतियोगिनो अविद्याकार्यशोकस्य तत्रैव कल्पितत्वाङ्गीकारात्. एवञ्च ब्रह्मणोऽपि 'लोक'शब्दवाच्याद् ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकः

इत्यादिना प्रतिपादितत्वात्, तस्यच एतल्लोककार्यरूपात् परत्वात् 'परलोक'पदबोध्यत्वेन, तत्र विद्यमानानर्थनिवृत्तिरूपमुक्तेः कथं न पारलौकिकत्वम् इति. वेदस्य व्यवहारमात्रबोधकत्वन्तु न पूर्वम् उक्तमिति वेदस्तु न व्यवहारमात्रबोधकः इति निषेधो अयुक्तः. व्यावहारिकं प्रामाण्यन्तु यत् त्वया स्वीक्रियते तत् पूर्वोक्तदोषग्रस्तमेव. किञ्च त्वदुक्तयुक्तिभिः वेदार्थो न विचारयितुं शक्यते. उक्तञ्च यतः "**'अलौकिकोहि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते, तपसा वेदयुक्त्यातु प्रसादात् परमात्मनः' इति. तस्माद् ब्रह्म यादृशं वेदेषु अवगतं तादृशमेव मन्तव्यं, स्वबुद्ध्या अन्यथा कल्पनेतु 'यो अन्यथा सन्तम् आत्मानम् अन्यथा प्रतिपद्यते किं तेन न कृतं पापं चोरेण आत्मापहारिणा'**" (ब्र.सू.अणुभा.१।१।१, महाभा.१।६८।२६), "**असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा वृताः तान् ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति, ये के च आत्महनो जनाः**" (ईशा.उप.३) इत्याद्युक्तदोषः स्यात्. वेदस्य अज्ञानकल्पितत्वस्वीकारेतु "**स्वयंभूः एषो भगवान् वेदो गीतः त्वया पुरा ब्रह्माद्याः ऋषिपर्यन्ताः वक्तारोः अस्य न कारकाः**" (), "**अनादिनिधना नित्या वाग् उत्सृष्टा स्वयम्भुवा**" (महाभा.१२।२३८।९३) इत्यादिना वचनविरोधः.

"नच *वेदस्य अज्ञानकल्पितत्वेऽपि अबाधिततात्पर्यविषयार्थकत्वाद् न तन्महिमापगमः* इति वाच्यं, शब्दस्य महिमातु आप्तोक्तत्वाद् नित्यत्वाद् वा भवति. यतो भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सादि-दोषवद्-'उक्त'शब्दे अप्रामाण्य-ग्रहसम्भवेन महिमापगमो जायते. आप्तोक्ते नित्ये वा तदसम्भवात्. तत्रच अप्रामाण्यशङ्कासम्भवेन शिष्टानादरणीयत्वाद् न महिमा. त्वन्मते च अज्ञानकल्पितत्वात् कल्पितपुरुषोक्तत्वात् च अप्रामाण्याशङ्काकल-ङ्कितत्वसम्भवेन अबाधितार्थविषयकत्वेऽपि न दोषपरिहारः. एतेन *इदञ्च अज्ञानकल्पितत्वे न अपैति मानाभावाद्* इति प्रलपितम् अपास्तम्. *असत्त्वन्तु*

कल्पितस्य न आश्रीयते इत्यपि उन्मत्तप्रलपितं, कल्पितत्वस्य मिथ्यात्व-व्याप्यत्वस्वीकारेण, मिथ्यात्वस्य च त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व-रूपत्वात्, तस्य सत्त्वे तादृशव्याप्तिभङ्गापत्तेः. कल्पिते मिथ्यात्वं नच सिद्धचेत्. किञ्च श्रुतीनां मिथ्यात्वे नियतपूर्वसत्त्वरूपहेतुत्वमपि न स्यात्. त्वदुक्तञ्च सम्यक्तया दूषितं प्रागेव. तस्मात् त्वदुक्तरीत्या विचारः कर्तुं न शक्यते. ''**अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**'' (छान्दो.उप.६।३।२), ''**एतत् सत्यम्**'' (मुण्ड.उप.१।२।-१), ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादि श्रुतिशतैः प्रपञ्चस्य सत्यत्वनिश्चयेन प्रपञ्चे अज्ञानकल्पितत्वस्य निश्चेतुम् अशक्यत्वात्. ''**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**'' (नार.पञ्चरा.) इत्यादि श्रुतेः ब्रह्मणः साकारत्वनिश्चयात् च. नच *उपक्रमादिभिः तादृशश्रुतीनां न स्वार्थे तात्पर्यम्* इति वाच्यम्, उपक्रमस्य ब्रह्मविषयकत्वेन निर्विशेषत्वमिथ्यात्वयोः श्रुतितात्पर्याविषयत्वेन तयोरपि त्वदभिमतयोः असिद्धापत्तेः. तस्मात् तपसा भगवत्कृपया वा वेदप्रतिपाद्यं ब्रह्म ज्ञातुं शक्यम्. अतएव ''**भृगुः वै वारुणिः वरुणं पितरम् उपससार. अधीहि, भगवो !, ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.३।१) इति उपक्रम्य तैत्तिरीयोपनिषदि ''**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.३।२) इति तपसएव हेतुत्वम् उक्तम्. शुष्कतर्कस्तु ''**तर्काप्रतिष्ठानाद्**'' (ब्र.सू.२।१।-११) इत्यादिना निन्दितः. यत्तु *श्रुतीनां बलवत्त्वाबलवत्त्वम्* उक्तं तत् तुच्छम्, उभयोरपि वेदत्वेन प्रामाणिकत्वाद् एकतरनिर्धारणस्य अशक्यत्वात् ''**सर्वे वेदाः यत् पदम् आमनन्ति**'' (कठोप.१।२।१५) इत्यादिना सर्वेषां वेदानां साक्षात् परम्परया ब्रह्मपरत्वात्. नच *विरुद्धवाक्यश्रवणाद् विरोधनिरासार्थं विचारः कर्तव्यः* इति वाच्यम्, अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाद् विरोधस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्.

स्याद् एतद् : *''दशमः त्वम् असि'' इत्यादौ शब्दादपि दशमो 'अहम्'इति अस्मद्रीत्या विचारे दृष्टमेव अज्ञाननिवृत्तिरूपम् आत्मसाक्षात्काररू-*

पञ्च फलम् इति चेद्, मैवम्. उक्तवाक्यदृष्टान्तेन विचारद्वारा आत्मसाक्षात्कारः कस्य आपाद्यते? किं देहविशिष्टस्य आत्मवेदिनो? देहात्मवेदिनो वा? विविक्तात्मवेदिनो वा? न आद्यो, व्यामुग्धादिषु परेण बोध्यमानस्य "दशमः त्वम् असि" * इति वाक्येन तद्विशिष्टस्य बाह्यस्यैव देहादेः आत्मत्वसिद्ध्या तादृग्ज्ञानस्य आत्मविषयकत्वाभावात्. अतएव न द्वितीयोऽपि नापि तृतीयः, तस्य आत्मविस्मृत्यभावेन तत्र शब्दस्य अकारणत्वात् नहि समीपवर्तिभिः इन्द्रियैः अग्राह्यात्मा तद्ग्राह्येण शब्दप्रमाणेन ग्राहयितुं शक्यते. अथ दर्शनाव्यवधानेन श्रवणस्य विधानात् शक्यते इति उच्यते, तदा मननानिदिध्यासनवैयर्थ्यम्. तथाच दृष्टान्तवैषम्याद् मननानिदिध्यासनविरोधात् च आत्मसाक्षात्कारस्य न श्रवणफलत्वं विचारफलत्वं सम्भवति. अथ मुख्याधिकारिणः शब्दाद् अपरोक्षं भवति नतु मन्दादेरिति तादृशेषु मननाद्युपयोगात् तत्तद्विचारानर्थक्यम् इति चेद्, न, शब्दजन्ये ज्ञाने अधिकारिभेदः तदा कल्पनीयः (यदा) तत्कल्पने विधिसार्थकता स्याद्, नतु एवं मन्दस्य पदशक्त्यादिज्ञानशून्यतया मननादौ सामर्थ्याभावात्. मध्यमस्य पदपदार्थसंसर्गज्ञानवत्त्वेन आकाङ्क्षा-योग्यतादिवशाद् दशमादिवद् अपरोक्षज्ञानं मननादिकं विनैव भविष्यतीति मननाद्यनुपयोगाद् मननादिविधिवैयर्थ्यं दुर्वारमेव. नच पदार्थसंसर्गज्ञानसत्त्वे-ऽपि विपरीतभावनादिदोषदूषितस्य तात्पर्यनिश्चयाभावात् शब्दाद्

---

* पा.टि. : नच अत्र निरध्यस्तात्मभानं 'दशमस्त्वम्'इति वाक्येन न विवक्षितं किमुत दशमसंख्यारूपद्वैतविशिष्टं स्वात्मभानमेवेति किं केन सम्बध्यते? अज्ञाननिवृत्तिरपि न मूलाज्ञानस्य किन्तु घटज्ञानरहितस्य घटसत्ताबोधकशाब्दज्ञान-जन्यघटाज्ञानस्येव इति वाच्यं, तादृज्ज्ञानेन घटप्रत्यक्षानङ्गीकाराद् इहतु सविकल्पस्यापि आत्मनो अपरोक्षज्ञानस्य अभिप्रेतत्वादेव एवंविधा विकल्पोपपत्तिः. यदितु फलव्याप्यज्ञानस्य अत्र स्वात्मनि अनभिमतत्वेन वृत्तिव्याप्यज्ञानरूपमेव अपरोक्षं ज्ञानं प्रतिपाद्यते चेत् तद् अग्रे निराकरणीयम् (सम्पा.)

अपरोक्षज्ञानासम्भवात् तादृशमध्यमाधिकारिणि विधिसार्थकत्वसम्भवाद् न वैयर्थ्यम् इति वाच्यम्, ''**अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि**'' (श्लो.वार्ति.१।१।२।६) इति सिद्धान्तस्वीकर्त्रा त्वया शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य अकारणत्वस्य स्वीकर्तव्यतया असम्भावनादीनां त्वन्मते अकिञ्चित्करत्वात्. किञ्च शब्दाद् अपरोक्षज्ञानोत्पत्तिस्वीकारेऽपि न तन्मात्रात् तदुत्पत्तिः स्वीकर्तव्या अन्यथा अन्धस्यापि ''दशमः त्वम् असि'' इति शब्दजन्यं प्रत्यक्षात्मकं ज्ञानं स्यात्. तथाच तादृशज्ञाने शब्दस्य मनःसहकारित्वं वक्तव्यम्. एवञ्च शब्दस्य प्रमाणान्तरत्वं न स्यात्, तदेव हि प्रमाणान्तरं यद् असाधारणं प्रमाणान्तरासहकारि-सहकार्यासाध्यमनोबहिर्गोचरां प्रमां जनयति. तत्र आलोके चाक्षुषप्रमा असाधारणसहकार्यासाध्यमनसो बहिर्गोचरप्रमाजनकत्वाद् आलोकस्य प्रमाणान्तरत्वापत्तिभिया 'प्रमाणान्तरासहकारित्व'स्य अवश्यं निवेशनीयतया तेन विशेषणेन यथा आलोकस्य चक्षुःसहकारित्वेन न प्रमाणान्तरत्वं तथैव शब्दस्यापि प्रमाणान्तरस्य चक्षुषःसहकारित्वात् प्रमाणान्तरत्वं न स्याद् इति अलं पल्लवितेन.

[६]''**ज्ञानिनामपि चेतांसि**'' (मार्क.पुरा.८१।४२) इति श्लोके 'ज्ञानि'पद'मोह'पदयोः अर्थान्तरपरत्वं यद् उक्तं, तदपि प्रमादात्. तत्र 'ज्ञानि'पदस्य असाधारणज्ञानविशिष्टवाचकत्वाद् अन्यथा 'अपि'कारस्य असङ्गतिः.

[७]*किञ्च...* इत्यादिकन्तु निन्दाघटितत्वाद् उपेक्षितम्.

[८-९-१०] ✻ पादटिप्पण्याम्.

(इति पञ्चमखण्ड-खण्डनाभासस्य अभासत्वप्रदर्शनम्).

✻ पा.टि. [८] ''**एष उ एव साधु कर्म कारयति यम् ऊर्ध्वम् उन्निनीषति एष उ एव असाधु कर्म कारयति यम् अधो निनीषति**'' (कौषी.उप.३।८)

इति वचनतात् च कारयितुः परमात्मनो हरेः यथा कारयितृत्वसंकल्पः तथा कर्तुः जीवात्मनः कर्तृत्वाभावे भगवतः कारयितृत्वानुपपत्तेः. ततः आसृष्टं आच संहारं भगवतो यथा सृष्टिनियामकः कारयितृत्वरूपः सङ्कल्पः तथा जीवात्मनां कर्तृत्वानुकूलसंकल्पवत्त्वं चिदंशत्वेनेति उभयोः संकल्पयोः श्रौतत्वात् तत्र च दयालुतायाः अपि भगवतः उपपन्नत्वादेव, श्रीशंकराचार्यैरपि **''अविनयम् अपनय विष्णोः दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णां भूतदयां विस्तारय''** (षट्प.स्त्रो.१) इत्येवमादौ स्तोत्रेषु भगवतः दयालुतायाः प्रार्थितत्वम्. तस्यच दर्शनाशक्तिः सहम्राक्षत्वेऽपि स्फुटीकरोति.

पा.टि.[९] कृष्णस्य शिवांशत्वोक्तिस्तु गीताद्यनेकशास्त्रविरुद्धत्वाद् अल्पमति-भाषितमेव यथा स्फुटीकृतं मधुसूदनसरस्वतीभिः **''शैवा सौराश्च गाणेशाः वैष्णवाः शक्तिपूजकाः भवन्ति यन्मयाः सर्वे सो अहम् अस्मि परः शिवः. प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यम् अद्भुतं न शक्नुवन्ति ये सोढुं ते मूढाः निरयं गताः''** (भग.गीता.मधुसू.१५।२०।३-४) इति स्वमताज्ञानमूलोक्तिरेव एषा.

पा.टि.[१०] भगवद्गीतायां **''मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''** (भग.गीता.१५।१५) इति श्लोकस्य व्याख्यायां श्रीशंकराचार्यैरपि मोहजनकत्वं **''सर्वस्य प्राणिजातस्य अहम् आत्मा सन् हृदि बुद्धौ संनिविष्टो अतो मत्तः आत्मनः सर्वप्राणिनां स्मृतिः ज्ञानं तदपोहनं च''** (भग.गीता.शां.भा.१५।१-५) इति मोहकत्वं किं न न अङ्गीकृतम्! इति स्वारूढशाखोच्छेदनदक्षो अयं मस्करी.

(खण्ड:६ प्रकारान्तरेण बिम्बप्रतिबिम्बभावखण्डनम्)

[सहस्रा. : विद्वः अपरञ्च, लोकेहि द्रष्टुरेव दर्पणादि-दोष-सम्बन्धात् प्रतिबिम्ब-दर्शनं दृश्यते. तथाच परमात्मनि अविद्या-सम्बन्धानङ्गीकाराद् जीववद्-द्रष्टृत्वं तस्य न स्यात्. तथा सति श्रुतिः द्रष्टृत्वनियामकत्व-बोधिका बाधित-विषया स्यात्. एतदनुरोधेन द्रष्टृत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्त-न्यायेन अविद्या-सम्बन्धित्वे जीव-तुल्यतापत्तिरिति महद् व्याख्यान-कौशलं प्रच्छन्ननास्तिकस्य. किञ्च, एवं ''गुहां प्रविष्टौ'' इति श्रुत्यर्थबाधः. जीवाज्ञान-कल्पितत्वाद् गुहायाः परमात्मनः तददर्शितत्वेन सहप्रवेशानुपपत्तेः, जीवन्मुक्त्यनुपपत्तिश्च. तथाहि अन्तःकरणे अविद्यायां वा त्वया प्रतिबिम्बो वाच्यः. अन्तःकरणपक्षे जीवन्मुक्तस्य तत्सत्त्वे संसारित्वमेव स्यात्. तदसत्त्वे परमुक्तिरेवेति क्व जीवन्मुक्तिः ? अविद्यापक्षस्तु सुतराम् असङ्गतः. तस्य अपरोक्षब्रह्मज्ञानवत्त्वेन अज्ञानस्य निवृत्त्या तत्प्रतिबिम्बरूप-जीव-रूपस्यापि निवृत्तत्वाद् जीवन्मुक्तस्य देहः स्पन्दितुमपि असमर्थः स्यात्. नच प्रारब्धमात्रशेषा सा(अविद्या) तदा अस्तीति सर्वम् उपपद्यते, इति वाच्यं, ब्रह्म-साक्षात्कारैक-नाश्यायाः तस्याः तस्मिन् सति वक्तुम् अशक्यत्वात् प्रतिबन्धकाभावात्. तेन अनिवृत्तौ कदापि अनिवृत्तिप्रसङ्गश्च. भोगैकनाश्यं तद् इति चेद्, तर्हि अविद्या-तत्कार्यातिरिक्तं तद् इति किं वक्तुम् उद्यतो असि ? नहि रज्जुज्ञानानन्तरं केनापि अंशेन तस्मिन् सर्पज्ञानं तत्कृत-भयादिकं वा(च) अनुवर्तते. अनुवर्तते कम्पादिः इति चेद्, अनुवर्ततां नाम पूर्वकारणजः स्वरूप-सत्कम्पो नतु तेन अन्यत् किञ्चित् कर्तुं शक्यम्. एवं प्रारब्धेनापि देहविद्यमानतैव सम्पादयितुं शक्या नतु भोगादिरपि अध्यासाभावात्, सुषुप्तौ तथोपलम्भात्.

अपरञ्च सर्पज्ञानजनितः कम्पो वेगाख्यसंस्कारवशाद् अनुवर्तते. प्रकृतेच अज्ञानकार्ये प्रारब्धे संस्काराभावाद् ज्ञाननाश्यत्वावश्यम्भावाच्च. ज्ञाने सति कथं तदनुवृत्तिः भवेत्? प्रवचनानुपपत्तिश्च. जीवन्मुक्ति-निरूपक-श्रुति-स्मृति-पुराण-विरोधात् सा नास्ति इति न वक्तुं शक्यम्. तस्मात् प्रतिबिम्बो जीवः इति पक्षः असङ्गतः (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'अपरञ्च लोकेहि' इत्यारभ्य 'इति पक्षो असङ्गतः' इत्यन्तः षष्ठः खण्डः खण्डयते :

[१]तत्र द्रष्टृत्व-नियामकत्वे न शुद्धस्य किन्तु शबलस्येति कर्तृत्ववत् तदुपपत्तिः, माया-सम्बन्धस्य अवच्छेदरीत्या प्रतिबिम्बरीत्या वा सत्त्वात्. अतएव "मायायां प्रतिबिम्बते" इत्येतद्-व्याख्यानावसरे निर्णीतार्था "जीवेशौ आभासेन करोति माया च अविद्या च स्वयमेव भवति" इति श्रुतिः "कार्योपाधिः अयं जीवः कारणोपाधिः ईश्वरः" इति स्मृतिश्च सङ्गता. आवरणस्य तत्र अभावाद् ईश्वरस्य न अज्ञत्वम्. एतावन्तमेव मायाविद्ययोः भेदं वदन्ति यद् मायायाः न आवरकत्वादि अविद्यायास्तु तदपीति ईश्वरे जीवाद् वैलक्षण्यस्य उपपत्तिः. प्रकारान्तरन्तु उक्तं प्राक्. एवञ्च गुहाद्रष्टृत्वेन तत्प्रवेशो व्याख्यातः. जीवकल्पितद्रष्टृत्वादेः प्रवेशस्य च स्वप्नस्येव श्रुतौ अनुवादे दोषाभावात् च. यत्तु टीकाकृता "चितो रूपाभावेन प्रतिबिम्बासम्भवाद् न मायायां प्रतिबिम्बः ईश्वरः" इति उक्तं, तद् न, अरूप-वस्तु-प्रतिबिम्बस्य उक्तत्वाद् उक्तश्रुति-विरोधात् च. विभुत्वादितु जीववत् पराभेदेन बोध्यम्.

ईशशरीरादिकन्तु परकल्पितं स्वोपाधि-विक्षेप-शक्ति-कल्पितं वेति न कापि हानिः. जीवन्मुक्तेः व्यवस्थातु तृतीयश्लोकव्याख्यायाम् उक्ता. "नतु तेन अन्यत् किञ्चित्" इतितु न युक्तं, भयाद् ज्वरादेः दर्शनात्.

[२]*भोगार्थं शरीर-सम्पादनाय स्वीकृत-प्रारब्धस्य भोगादातृतातु वक्तुमेव न युज्यते. अज्ञानकार्यस्य देहस्य स्वीकारे तादृशस्य भोगस्य अङ्गीकारे कः प्रतिबन्धकः ? सुषुप्तौ भोगाभावस्तु देहाद्यभावात्. तात्कालिकभोगार्हकर्माभावात् च. "सुषुप्तिकाले सकले विलीने" इति श्रुतेः. "पुनश्च जन्मान्तर-कर्मयोगात् सएव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः" इति तच्छ्रुतिशेषेण स्वापादावेव कर्मजन्यतायाः बोधनात् च. प्रकारान्तरन्तु उक्तं प्राग् इति उपरम्यते. एवञ्च प्रवचनमपि सङ्गतम्. (इति षष्ठखण्ड-खण्डनम्)*]

प्राभ. : अथ *अपरञ्च लोकेहि* इत्यारभ्य *इति पक्षो असङ्गतः* इत्यन्तस्य षष्ठखण्डखण्डनभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]*तत्र द्रष्टृत्वनियामकत्वं न शुद्धस्य किन्तु शबलस्येति कर्तृत्ववत् तदुपपत्तिः मायासम्बन्धस्य अवच्छेदरीत्या प्रतिबिम्बरीत्या वा स्याद्* इत्यादि यद् उक्तं तद् असङ्गतं, शबलस्य द्रष्टृत्वे मायासम्बन्धोऽपि तस्यैव वक्तव्यः. सा माया एका अनेका वा ? न अन्त्यः(कल्पो) "**अजाम् एकाम्**" (श्वेता.उप.४।५) इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः. न आद्यो मायासम्बन्धं विना शबलत्वानुपपत्त्या मायासम्बन्धश्च शबलत्वाधीनःइति आत्माश्रयप्रसङ्गात्. किञ्च निर्गुणस्य मायासम्बन्धास्वीकारे शबलं पदार्थान्तरमेव स्वीकरणीयम्. एवञ्च अद्वैतहानिः. यदिच शुद्धस्य मायासम्बन्धः तदा

मायाया: अनादित्वात् शबलं ब्रह्म अनादि इति उक्तं स्यात्. निर्विशेषन्तु मायानाशे सम्भावितं तथाच सिद्धवद् निर्गुणप्रतिपादनं विरुद्धं स्वमतहानिश्च. अपिच **''सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीत्''** (छान्दो.उप.६।२।१), **''तद् ऐक्षद्''** (छान्दो.उप.६।२।३), **''आत्मा वा इदम् एकएव अग्रे आसीत्''** (ऐत.उप.१।१।१), **''स ईक्षाँचक्रे''** (प्रश्नोप.६।३) इत्यादिश्रुतिषु सर्वत्र द्रष्टृत्वप्रतिपादनात् शबलमेव प्रतिपाद्यम् इति त्वया वाच्यम्. तथाच निर्गुणप्रतिपादकश्रुते: अभावाद् निर्विशेषे मानाभावएव स्यात्. नच **''निष्कलं/निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्''** (श्वेता.उप.६।१९) इति श्रुतिप्रमाणम् इति वाच्यं, तत्रापि **''एतस्माद् जायते प्राणो मन: सर्वेन्द्रियाणि च खं वायु: ज्योति: आपो पृथिवी विश्वस्य धारिणी''** (मुण्ड.उप.२।१।३) इति जगत्कर्तृत्वस्य अग्रे प्रतिपादनात् तस्य च कर्तृत्ववद् उपपत्ति: इति वदता त्वया शबलधर्मत्वमेव स्वीकृतम्. एवञ्च तादृशश्रुतीनां निर्गुणपरत्वे कर्तृत्वं विरुद्धं निर्गुणस्यैव कर्तृत्वे अपसिद्धान्त:. सम्बन्धोऽपि न सम्भवति प्रतिबिम्बवादस्य पूर्वं दूषितत्वाद्. अवच्छेदवादोऽपि न सम्भवति सम्बन्धं विना अवच्छिन्नत्वस्यैव असम्भवेन मायावच्छिन्न: ईश: इति परिभाषाया: असम्भवाद्, 'अविच्छिन्न'पदानिरुक्तेश्च तार्किकादिवत् स्वरूपसम्बन्धरूपस्य अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपस्य वा अवच्छेदकत्वस्य त्वन्मते मायायां वक्तुम् अशक्यत्वाद्. अधिकम् अन्यत्र अनुसन्धेयम्. *मायाया: एकत्वेऽपि जीवे तत्कृतम् आवरणम् अस्ति, न ईश्वरे* इति यद् उक्तं तदपि न किञ्चित्. उपाधे: एकत्वे फलवैलक्षण्यस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. उपहितोपाध्यो: भेदे ''मायाजीवेशौ आभासेन'' इत्यादि त्वदुक्तम् असङ्गतम्. अधिकञ्च निरूपितम् अधस्तात्. यत्तु *जीवकल्पितद्रष्टृत्वादे: प्रवेशस्य च स्वप्नस्येव श्रुतानुवादे दोषाभावात् च* इति उक्तं तद् अत्यन्तम् असङ्गतम्. **''तद् ऐक्षत्''** (छान्दो.उप.६।२।३), **''सा इयं देवता ऐक्षत''** (छान्दो.उप.६।-३।२), **''तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशद्''** (तैत्ति.उप.२।६)

इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्यद्रष्टृत्वस्य प्रवेशस्य च तत्काले कल्पकस्य जीवस्य अभावात् तत्प्रकरणे जीवकल्पितत्वबोधकपदाभावात् च. तादृशश्रुतिबाधो दुरुद्धरएव. एतेन *शरीरादिकन्तु परकल्पितम्* इत्यपि अपास्तं तथासति ब्रह्मापि पराज्ञानकल्पितम् इति कथं न ब्रूयाद्? जीवन्मुक्तिरपि न सम्भवति. तत्रापि ये दोषाः ते तृतीयश्लोकखण्डने दर्शिताःइति किं पिष्टपेषणेन?

[२]यदपि *भोगार्थं स्वीकृतप्रारब्धस्य भोगदातृता न युज्यते* इत्यादि उक्तं तदपि मन्दं तादृशस्वीकारस्यैव युक्तिविरुद्धत्वात्. ज्ञानेन अविद्यानाशे प्रारब्धस्य अविद्याकार्यस्य स्थातुम् अशक्यत्वात्. "**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते अर्जुन!**" (भग.गीता.४।३७) इति स्मृतेः. सुषुप्तौ भोगाभावाद् इति यद् उक्तं तदपि प्रत्यक्षविरोधाद् उपेक्ष्यम्. "सुषुप्तिकाले सकले विलीने" इत्यादिश्रुतेश्च 'सकल'पदस्य सुषुप्तपुरुषभिन्नलीनत्वेन सङ्कोच्यत्वाद् इन्द्रियलयमेव सा श्रुतिः प्रतिपादयति न शरीरलयम् इति. एतेन तदुपष्टम्भकतया श्रुतिप्रदर्शनं निरस्तम् (इति षष्ठखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्ड:७ जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम्-१)

[*सहस्रा. : [विद्व.]स्याद् एतद्, न वयं प्रतिबिम्बं जीवं ब्रूमः किन्तु अङ्गुल्यादिसम्पर्कात् चन्द्रादि-द्वैताभासवद् अविद्यातो ब्रह्मापि अनेकवद् अवभासमानं द्वित्रादि-संख्या-योगि 'जीव'पदवाच्यम् इति, न एतद् विद्वदादरणीयम्. तथाहि अविद्या-सम्बन्धाद् ब्रह्मणो अनेकवद् अवभासः कस्य? इति विचारणीयम्. न तावद् ब्रह्मणः, तत्र भ्रमायोगाद्. नापि जीवस्य तादृशावभास-विषयत्वात्. नहि दोषवशाद् गृहीतचन्द्राणामेव स्वानेकत्वावभासः सम्भवति, चन्द्रस्य वा. तेषाम्*

अलीकत्वात्. द्रष्टरि सत्येव तेषां भानात् च. दोषासम्बन्धादेव न तस्य. किञ्च एवं जीवात्मनियामकत्वस्य परमात्मनि असम्भवः. तथाच "यः आत्मानम् अन्तरो यमयति" इत्यादि-श्रुतिः बाधित-विषया स्यात्. अपरञ्च, अविद्या-ब्रह्मणोः कः सम्बन्धः ? न तावत् संयोगः. तयोः विभुत्वेन तदनङ्गीकारात्. नापि अध्यासः, तस्यापि अभावात्. नापि स्वरूप-लक्षणो मुक्तात्मन्यपि तत्सम्भवेन संसारित्वापादकत्वप्रसङ्गात्. आस्तां वा यः कश्चित् सम्बन्धः. सोऽपि अनादिः वाच्यः. तथाच ब्रह्माविद्या तत्सम्बन्धानाम् अनादित्वेन जीवविभागस्यापि अनादित्वाद् अविद्यासम्बन्ध-जीवविभागयोः कार्यकारण-भावासङ्गतिः, एककालीनत्वात्.(एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'स्याद् एतद्, न वयम्' इत्यादिः 'एककालीनत्वाद्' इत्यन्तः सप्तमः खण्डः खण्डयते :

[१]यद्यपि प्रतिबिम्बवादेन उपपत्तौ द्विचन्द्रदृष्टान्तेन जीवे भेदादि-साधनाय प्रकारान्तरं न अपेक्षितं तथापि जीवस्य प्रतिबिम्बत्वावच्छिन्नत्वे अनङ्गीकुर्वद्भिः अस्मदीयैः तत्पक्षस्य लिखितत्वात् तद्दूषणोद्धारः क्रियते : तत्र तावद् अनेन दृष्टान्तेन एकस्मिन् भेद-प्रतीत्यसम्भवो नास्ति इत्येव उपपाद्यते, नतु तादृशत्वमेव ईश-जीवयोः.

[२]एवञ्च नियामकत्वद्रष्टृत्वादि स्वाप्न-दृष्टान्तेन उपपाद्यते. स्वप्ने देवदत्तस्य एकस्यैव नियन्तृत्व-द्रष्टृत्वादेः दर्शनात्. सार्वज्ञ्यादितु शबलस्य नतु शुद्धस्य. ब्रह्मणि मायाकृतस्य आवरणस्य अभावेऽपि तत्कृतस्य विक्षेपस्य उपपादितत्वाद् अनेकावभासोपपत्तिः.

[३]तादृशावभासविषयस्यापि जीवस्य तादृशावभासे किं प्रतिबन्धकम्? किम् अध्यासात् प्राग् असत्त्वम् उत जडत्वं विषय-विषयि-भाव-विरोधो वा? न आद्यो, अनादित्वाद् जीवभ्रमस्य. न द्वितीयो अनङ्गीकारात्. न तृतीयो मानाभावाद् ''अहम् अस्मि'' इति प्रतीतिविरोधात् च. उदाहरणेन तत्साधनन्तु उक्त-बहुविध-श्रुति-बाधितम् उपाधिमत् च. तथाहि ''जीवो न जीवावभासवान्, तदवभासविषयत्वाद्, यो यदवभास-विषयः स न तदवभासवान्, यथा द्वितीयः चन्द्रः'' इत्यत्र जडत्वम् उपाधिः चन्द्रादौ तत्सत्त्वाद् जीवे तदसत्त्वात् च. जीवेतरेशेऽपि तदसत्त्वेन न पक्षेतरत्वसमत्वम्. दृष्टान्ते द्वित्वेन दर्शनन्तु न चन्द्रात्मनः किन्तु तन्मण्डलस्येति तत्र अस्ति जडत्वम्. इदञ्च ईश-जीवयोः द्वित्ववत् चन्द्रादेरिव पदार्थान्तरत्वम् आश्रित्य उक्तम्. एकस्मिन् भेदप्रतीतिमात्रे सः दृष्टान्तः इति उक्तम्. तत्रतु 'तथाहि' इत्यादिविकल्पपूर्वकदोषानवसरएव. जीवस्य तदवभासे सर्वोपपत्तेः ''विभुद्वयस्य संयोगो न अस्ति'' इति निर्मूलम्. एकदेशावच्छेदेन विद्यमानयोः कालाकाशयोः असम्बन्धे मानाभावात् सम्बन्धान्तरस्य असम्भवात् च. कर्मजत्वनियमस्तु जन्यसंयोगविषयकः तत्रैव सम्भवात्. विभागोऽपि नित्यः तयोः स्याद् इतितु न शङ्क्यं, तस्य संयोगनाशकैकस्वरूपत्वेन विरोधेन संयोगवति अङ्गीकर्तुम् अशक्यत्वात्. अध्यासोऽपि जीवस्य अनादिः भवत्येव. सएव ईशाविद्ययोः सम्बन्धः. सएव च ''बन्धो अस्य'' इत्यनेन उच्यते. स्वरूपन्तु अविद्यायाएव ब्रह्मणि अविद्यासम्बन्धः इति अविद्या-नाशे मुक्तात्मनो न संसारिता. तन्नाशेऽपि न अन्येषां मुक्तिः मायायाः बहुत्वात्, ''परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते'', ''इन्द्रो मायाभिः'' इत्यादि-श्रुतेः.

[४]*मायायाः एकत्वपक्षे मुक्तात्मनः तद्विनाशेऽपि इतरेषां दृष्टचा विद्यमानत्वात् च. यथाहि शुक्तौ रजतं पश्यतां दशानां पुरुषाणां मध्ये एकस्य शुक्ति-साक्षात्कारेण तद्रजत-नाशेऽपि इतरेषां दृष्टचा तद् अस्त्येव, एवं ज्ञानीतरदृष्टचा मायासत्त्वे न बाधकम्. वस्तुतो नाशेऽपि कल्पित-सत्त्वस्य अनपायात्. एतेन मायानाशे सर्वमुक्तिः स्याद् इति तट्टीकाकारोक्तिः प्रत्युक्ता. एवञ्च "परा अस्य शक्तिः" इति श्रुत्युक्तस्य ईश्वरशक्तित्वस्यापि मायायां न विरोधः, एकमुक्त्या ज्ञानेन विनाशेऽपि स्थायित्वात्. ईश-शक्तेः अनाशे मानाभावात् च. (इति-सप्तम-खण्ड-खण्डनम्)*]

प्राभ. : अथ *स्याद् एतत् तन्न वयम्* इत्यादेः सप्तखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]प्रतिबिम्बवादस्य दूषितत्वाद् *यद्यपि...* इत्यादिः असङ्गतः. *तथापि* इत्यादिना *दृष्टान्तेन भेदप्रतीत्यसम्भवो नास्ति इत्येव उपपाद्यते* (इत्यन्तः). तदपि तदा स्याद् यदि तादृशदृष्टान्तेन प्रकृते भेदप्रतीत्यसम्भवो न स्यात्. सएव तु तदवस्थो, अत्र भेदप्रतीतेः उपपादयितुम् अशक्यत्वाद्. द्विचन्द्रदर्शनस्थले दोषदूषितचक्षुद्रष्टादृश्यः चन्द्रः च पूर्वं सिद्धः(इति) तत्र भेदप्रतीतिः सम्भवति. प्रकृते दोषविशिष्टस्य द्रष्टुः अभावाद् भेदप्रतीतिः न सम्भवति इति आक्षेपस्य वज्रलेपत्वाद् वृथैव इदं ग्रन्थगौरवम्.

[२]यदपि *नियामकत्वं द्रष्टृत्वादि स्वप्नद्रष्टान्तेन उपपाद्यते, स्वप्ने देवदत्तस्य एकस्यैव नियन्तृत्वद्रष्टृत्वादेः दर्शनाद्* इति उक्तं तद् न रमणीयं, दृष्टान्तस्य उभयवादि-सम्मतस्यैव अभिमतार्थसाधकत्वेन अस्मन्मते स्वप्ने यदि एकस्य द्रष्टृत्वं नियामकत्वं च सिद्धं स्यात् (तदा) तद्दृष्टान्तेन

प्रकृतेरपि तत् स्यात्, तदेवतु न स्वप्ने ईश्वरेण जीवव्यामोहार्थं सृष्टिः क्रियते, यथा इन्द्रजालिकेन नटेन सामाजिकव्यामोहनकौतुकार्थं मायिकसृष्टिः क्रियते, तथा एवञ्च द्रष्टा जीवो नियन्ता च परमेश्वरः—इति स्वप्नेऽपि न एकस्मिन् द्रष्टृत्वनियन्तृत्वे अस्मत्सम्मते. तद्दृष्टान्तेन प्रकृतेऽपि एकस्मिन् न स्याताम्. अतएव **''मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वाद्''** (ब्र.सू.३।२।३) इति सूत्रेण स्वप्नस्य भगवता मायामात्रत्वम् उक्तं तन्नियामकत्वमपि भगवतएव युज्यते तस्यैव मायेशत्वात्. अष्टमस्कन्धे श्रीमद्भागवते **''नटवद् मूढो मायाभिः मायेशान् नो जिगीषसि''** (भाग.पुरा.८।११।४). प्रथमस्कन्धे च **''अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां च तदुपाश्रयां, यया सम्मोहितो जीवः आत्मानं त्रिगुणात्मकं, परोऽपि मनुते अनर्थं तत्कृतं च अभिपद्यते''** (भाग.पुरा.१।७।४-५). तस्माद् विश्वस्य व्यामोहिका शक्तिः माया, तदेकोपादानकएव स्वप्नःइति तत्रापि न एकस्य द्रष्टृत्वनियन्तृमिति दृष्टान्तासिद्धच्या दार्ष्टान्तिकासिद्धिः. ब्रह्मणि मायासम्बन्धे असङ्गत्वहानिः तत्कृतविक्षेपाङ्गीकारे निर्विकारत्वहानिः. जीवे तत्कृतावरणस्वीकारे जीवस्य ब्रह्मभिन्नत्वेन *ब्रह्मणि मायाकृतस्य आवरणस्य अभावप्रतिपादनम्* असङ्गतम्. एतेन *ब्रह्मणि मायाकृतस्य आवरणस्य अभावेऽपि* इत्यादिकं निरस्तम्. ब्रह्मणि अनेकावभासस्य असम्भवेन तदवभासविषये अनेकावभासप्रतिपादनन्तु खपुष्पसौरभप्रतिपादनतुल्यम्. किञ्च अनेकावभासस्वीकारे स्वप्ने दृश्यमानानां पुरुषाणामपि त्वन्मते अनेकावभासापत्तिः. यत्तु विषयविषयिभावविरोधप्रतिपादके *''जीवो न जीवाभासवान्, तदभावविषयत्वाद्''* इति अनुमाने जडत्वोपाधिप्रदर्शनं तद् न सम्यक्, उपाधेः साधनाव्यापकत्वासम्भवात्. यथा चन्द्रे जडत्वम् उपाध्यंशम् आदाय स्वीकृतं, तथैव उपाधिसम्बन्धस्य जीवेऽपि अवर्जनीयत्वेन तत्रापि उपाध्यंशम् आदाय जडत्वसत्त्वेन तस्य साधनाव्यापाकत्वाभावात्. चन्द्रावभासाभाववति तच्चैतन्यांशे जडत्वस्य असत्त्वेन साध्याव्यापकत्वात् च. नच *न द्वित्वेन चन्द्रात्मनोः दर्शनं*

किन्तु तन्मण्डलस्य इति वाच्यं, सङ्घातस्यैव प्रत्यक्षेण ग्रहणाद् एकतराग्रहणे हेत्वभावात्. एकस्मिन् भेदप्रतीतेः प्रकृते असम्भवाद् *इदञ्च* इत्यादिकम् असङ्गतम्. *विभुद्वयसंयोगो नास्ति इति निर्मूलम्* इति यद् उक्तं तदेव निर्मूलम्, **''अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः स संयोगः''** (न्या.मु.कारि.११५) इति संयोगलक्षणम्. साच उभयकर्मणा एकतरकर्मणा वा भवति. विभ्वोः पूर्वम् अप्राप्तत्वाभावात्, पुनःप्राप्तिहेतोः कर्मणश्च तत्र अभावात् कथं संयोगः तयोः स्यात्? नच *जन्यसंयोगस्यैव इदं लक्षणं तस्यैव कर्मजन्यत्वं न नित्यसंयोगस्य* इति वाच्यं, त्वन्मते कालाकाशयोरपि अनित्यत्वेन तत्संयोगे नित्यत्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् अन्यथा द्वैतहानिः स्यात्. (ननु) **''आभूतसम्प्लवं स्थानम् अमृतत्वं (तद्) उच्यते/विभाव्यते''** (विष्णुपुरा.२।८।९५) इति वाक्यात् प्रलयावधिस्थायित्वमेव नित्यत्वं विवक्षितम् इति चेद् उदयाचलास्ताचलयोः विभागोऽपि नित्यः स्यात्. नच संयोगनाशको गुणो विभागः इति तल्लक्षणात् तस्यच संयोगनाशकत्वाभावात् कथं विभागत्वम् इति वाच्यं, जन्यविभागस्यैव तल्लक्षणं नतु नित्यस्येति न तत्र संयोगनाशकत्वनियमः इत्यस्यापि वक्तुं शक्यत्वात्. किञ्च लक्षणानाम् इतरभेदानुमापकतया संयोगस्य नित्यत्वे तत्र लक्षणासत्त्वाद् भागासिद्धिः स्यात्. यत्तु *अध्यासोऽपि जीवस्य अनादिः भवत्येव. सएव ईशाविद्ययोः सम्बन्धः* इति उक्तं, तदपि तुच्छम् उन्मत्तप्रलपिततुल्यं च. जीवस्य अध्यासः इत्यनेन जीवाध्यासः इति उक्त्वा पुनः ईशमाययोः सम्बन्धः इति उक्तिः न सम्भवति. नहि घटनिष्ठसंयोगः पटभूतलयोः सम्बन्धः इति वदन् आदरणीयवचनो भवति. सम्बन्धस्य सम्बन्धिवृत्तित्वनियमात्. नच जीवेशयोः भेदाभावाद् जीववृत्त्यध्यासः ईशवृत्तिरपीति भवति अविद्येशयोः तत्सम्बन्धः इति वाच्यं, तस्य जीवेशवृत्तितायाः बहुशो निरस्तत्वाद् जीवे अविद्यासम्बन्धासम्भवात्. ब्रह्मणि अविद्यासम्बन्धस्वीकारे निर्विकारत्वहानिः अज्ञत्वञ्च. शबले तत्स्वीकारे च अन्योन्याश्रयःइति न किञ्चिद् एतत्. मुक्तात्मनः

त्वन्मते ब्रह्मस्वरूपत्वेन ब्रह्मणि अविद्यासम्बन्धस्य स्वीकारे कथं न मुक्तात्मनः संसारिता. यत्तु *मायायाः बहुत्वस्वीकारे स्वप्नप्रतिपादितान् दोषान् निरीक्ष्य तत्पक्षं त्यक्त्वा मायायाः एकत्वपक्षे मुक्तात्मनः तद्विनाशयोः इतरेषां दृष्ट्या विद्यमानत्वात् च* इत्यादिना एकत्वपक्षाश्रयणं कृतं तत्र विचार्यते : 'मुक्तात्म'पदेन शुद्धं ब्रह्म विवक्षितं जीवन्मुक्ताः वा? न आद्यो, ब्रह्मणि अविद्यायाः विद्यमानत्वाद् अन्यथा सर्वजीवमोक्षप्रसङ्गः. ब्रह्मणि अविद्यासम्बन्धं विना जीवभावस्यैव त्वन्मते अभावाद्. नापि द्वितीयो, जीवन्मुक्तेरपि अविद्यालेशस्य प्रारब्धकर्महेतुभूतस्य त्वदीयैः अस्वीकृतत्वात्. तत्रापि अविद्यानाशस्य असम्भवात्. तथाच मुक्तात्मनः तन्नाशोऽपि इति असङ्गतम्.

[४]किञ्च *एकाविद्यापक्षे शुक्तौ रजतं पश्यतां पुरुषाणां मध्ये एकस्य शुक्तिसाक्षात्कारेण तद्रजतनाशे इतरेषां दृष्ट्या तद् अस्त्येव* इत्यादिदृष्टान्तो न युज्यते, दशपुरुषभ्रमविषयं नैकं रजतं किन्तु रजतदशकम्. अतएव शुक्तिरजतस्य स्वप्नगजादिवद् अनन्यवेद्यत्वम् उपपद्यते. उक्तं चापि अप्पयदीक्षितेन **''यदीयाज्ञानोपादानकं यत् तत् तस्यैव प्रत्यक्षं न जीवान्तरस्यैवेति अनन्यवेद्यत्वं रजतस्य''** (सि.ले.सं.२।३५) इति. यद् रजतं यद् पुरुषीयाज्ञानकल्पितं तद् रजतं तस्यैव पुरुषस्य प्रत्यक्षम् इति तदर्थम्. एवञ्च अनेकाविद्यापक्षएव अयं दृष्टान्तः सम्यग् उपपद्यते तत्र पुरुषभेदेन सृष्टेः भिन्नत्वाद् नतु एकाविद्यापक्षे तद्दृष्टान्तस्य विषमत्वात्. *एकाविद्यापक्षे मुक्तात्मनः तदभावेऽपि इत्यादिकथनमपि* अयुक्तं, तस्मिन् पक्षे ब्रह्मणएव अविद्यया जीवभावः, कौन्तेयस्य राधेयत्ववत्. तथाच तत्पक्षे मुक्तस्यापि स्वप्नमुक्ततुल्यत्वे वामदेवशुकादिनामपि अमुक्तत्वस्वीकारेण तत्कथनस्य असङ्गतत्वात्. तस्मात् स्वमताज्ञानविजृम्भितमेव इदं सर्वम् इति संक्षेपः (इति सप्तमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्ड:८ जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य
आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम्-२)

[*सहस्रा. : विद्व.ननु श्रुतिबोधितः कार्य-कारण-भावः तर्हि तन्निर्वाहाय जीव-विभागस्य अर्वाचीनताम् ऊरीकुरु. ''बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः'' इति वाक्यात् सोऽपि अनादिरेव मन्तव्यः इति चेद्, मा एवं, नहि सर्वात्मना तत्र सादित्वनिषेधः किन्तु घट-पटादि-साधारण-तन्निषेधः यथा देवेषु मरण-निषेधो 'अमर'-नाम्ना. अन्यथा 'अविद्यया' इति करणत्वबोधकं तृतीयान्तं न वदेत्. तच्च बन्धलक्षण-कार्यात् पूर्व-कालीनत्वं विना अस्याः न निर्वहति. ननु बन्धनैकस्वभावायाः तस्याः जीवस्य च अनादित्वे कञ्चित् कालं न बन्धः इत्यत्र को हेतुः ?, तदा जीव-स्वरूपं कीदृशम् ? इत्यपि विचारणीयम्. 'मुक्तम्' इतितु न वक्तुं शक्यं, साधनाभावाद् अग्रे बन्धात् च. नवा बद्धम् तस्य भावित्वात्. एतदुभयातिरिक्तावस्था च अप्रसिद्धेति न एवं वक्तुं युक्तम् इति चेद्, नैतत् साधु, ''श्रिया पुष्ट्या'' इति वाक्ये मुख्यासु द्वादश-शक्तिषु गणनाद् अविद्यायाः भगवच्छक्तित्वेन तदिच्छाधीनत्वात्. तथाच यद्बन्धे तदिच्छा तमेव सा बध्नाति न अन्यम्. अतएव शुकसनकादीनां सर्वदा मुक्ततएव तेषु तथा इच्छाभावात्. अतएव श्रुतिरपि ''एषः ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषति, एषः उ एव असाधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यो अधोनिनीषति'' इति तदिच्छाधीनत्वमेव आहः जीव-स्वरूपं च अग्रे वक्ष्यामः (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).*

अथ 'ननु श्रुति-बोधितः' इत्यारभ्य 'अग्रे वक्ष्यामः' इत्यन्तो अष्टमः खण्डः खण्ड्यते :

[१]तत्र ''बन्धो अस्य अविद्यया'' इति वाक्यस्य तृतीय-श्लोक-व्याख्यायाम् अर्थः उक्तः. ''श्रिया पुष्टया'' इत्यादिश्लोके पाठमात्रेण न अविद्यायाः जीव-शक्तित्वम् अपलपितुं युक्तम्.

[२]''जीवेशौ आभासेन करोति माया च अविद्या च स्वयमेव भवति'' इति श्रुतिविरोधात्. भगवदाराधकत्वेऽपि अविद्यायाः न जीवः शक्तित्वविरोधः. एवम् ईश्वराधीन-प्रवृत्ति-निवृत्तिकत्वेऽपि तदजन्यत्वाद् न अनादित्वविरोधो भृत्यस्य राजाधीन-प्रवृत्यादिमत्त्वेऽपि राजाजन्यत्वस्य दृष्टत्वात्.

[३]तच्छक्तित्वेऽपि तदधीनोत्पत्तिकत्वं मायायाः न युज्यते वक्तुं मानाभावात्.

[४]ग्राहकतर्काभावाद् वह्निशक्तेः तदधीनोत्पत्तिकत्वाभावाच्च व्याप्तिग्रहाभावे अनुमानाप्रवृत्तेः. तृतीयश्लोकोक्तम् अनादित्व-मपि स्मरणीयम्. पूर्वम् अबद्धस्य भगवदिच्छया बन्धोक्तावपि तत्रत्यमेव स्मरणीयम्.

[५]किञ्च शुकादीनां नित्यमुक्तत्वे* न मानम्. किञ्च एवं मुक्ति-ज्ञानयोः कार्य-कारण-भावो जन्य-मुक्तिविषयकत्वेन सङ्कोच्य इति गौरवम्.

---

* पा.टि. ''तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः'',''तद् वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुः तव अस्ति स्त्रीपुंभिदा नतु सुतस्य विविक्तदृष्टेः'' (भाग.पुरा.१।१।४-५), ''शुकम् अध्यापयामास निवृत्तिनिरतं मुनिम्'' (भाग.पुरा.१।७।९) (सम्पा.).

[६]*किञ्च संसारस्य सादित्वे तुरुष्कादिवत् त्वयापि वचनं किञ्चिन् मानं वाच्यं, तच्च न वेदादिस्थं, तत्र अनुपलम्भात्. तुरुष्कग्रन्थस्थन्तु तवैव श्रद्धा-विषयतार्हम्. विप्र-शाप-जन्यस्य चेतसि तमःप्रवेशस्य दुरुच्छेदत्वात्. ''प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति'' इति वचनात्.*

[७]*''एष ह्येव साधु'' इति श्रुतेः बन्धस्य ईश्वरेच्छाधीनतायां प्रमाणतया उपन्यासस्तु कौशलं ते ख्यापयति. श्रुत्यर्थस्तु उक्तः. जीव-स्वरूपं त्वदभिमतम् अग्रे खण्डयिष्यामः इति अलम्.* ✻ *(इति अष्टम-खण्ड-खण्डनम्)*]

प्राभ. : अथ *ननु श्रुतिबोधितः* इत्यारभ्य *अग्रे वक्ष्यामः* इत्यन्तः अष्टमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र **''बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः''** (भाग.पुरा.११।११।४) इति वाक्याद् जीव-ब्रह्म-विभागस्य अनादित्वं न सम्भवति तत्र तृतीयाविरोधात्. तथाहि अविद्यायाः कारणत्वं बोध्यते, तच्च पूर्ववर्तित्वघटितम्. तथाच बन्धस्य अनादित्वे पूर्ववर्तित्वानुपपत्त्या तृतीयाविरोधः स्यात्. तस्माद् यथा **''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः**

✻ पा.टि. ईदृग्गालिप्रदानस्य **''धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेन हेतुः ईश्वरो व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन ''एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते. एष उ ह्येव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते''** (ब्र.सू.शां.भा.३।२।४१) **''कथं पुनः अवगम्यते सापेक्षः ईश्वरो नीचमध्यमोत्तमं संसारं निर्मिमीते? इति तथाहि दर्शयति श्रुतिः ''एष उ ह्येव साधु...निनीषते''** (ब्र.सू.शां.भा.२।१।३४) इत्येवं प्रतिपादनपर-स्वगुरुगामित्वस्य आविष्करणात्.

सुकृतं भवति'' (आप.श्रौ.सू.८।१।१) इति वाक्यस्य 'अक्षय्य'पदस्य यथा प्रलयपर्यन्तस्थायिपरत्वं, तथा अत्र 'अनादि'पदस्यापि चिरंतनपरत्वमेव युक्तम्. नच जीवब्रह्मविभागो अनादिः अयं बुद्धिकृतः इति वाच्यं, तस्य अनादित्वे बुद्धिकृतत्वे प्रमाणाभावात्. नहि तत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं जीवभावस्य कल्पितत्वेन तत्प्रत्यक्षस्यापि स्वाप्निक-मायिक-पुरुष-प्रत्यक्षवत् प्रामाण्यायोगात्. अतएव **नानुमानादिरपि**. श्रुतयस्तु तत्र विस्फुलिङ्गवद् व्युच्चरणं वदन्त्यो ब्रह्मण्यपि अयञ्च अभिदधत्यो जीव-ब्रह्म-विभागस्य सादित्वमेव बोधयन्ति. नच **''न कर्माविभागाद् इति चेद् न अनादित्वाद्''** (ब्र.सू.१।३।३५) इति सूत्रेण कर्मानादित्वबोधनेन विभागानादित्वमपि **''पुण्यः पुण्येन कर्मणा''** (बृह.उप.४।४।५) इति तद्विषयश्रुत्या बोधितमेव इति वाच्यं, श्रुतौ सत्कर्मणा सद्देहभवनमात्रबोधनेन विभागानादित्वस्य अबोधनात्. नच तत्र संसारानादित्वव्याख्यानं युज्यते. तथासति ईश्वरस्य अनीशत्वं, **''सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद्''** (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुतिविरोधश्च संसारहेतुभूतायाः अविद्यायाः जीवानाञ्च सत्त्वात्. नच सा असती इति वक्तुं युक्तम्. तथासति तया संसाराभावापत्तिः नापि सदसद्विलक्षणा तथासति ब्रह्मानतिरेकः तस्याः स्यात्. ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणतायाः **''अनादिमत्परं ब्रह्म न सद् न असद् उच्यते''** (भग.गीता.१३।१२) इत्यादिना गीतायां भगवता प्रतिपादितत्वात्. तस्माद् अनादित्वम् अप्रमाणिकमेव. नच विभागस्य सादित्वम् अनादित्वं वा आस्तां, परन्तु, विस्मृतकण्ठमणिन्यायेन विस्मृतस्वस्वरूपं ब्रह्मैव जीवः इति जीवातिरिक्तं ब्रह्म न अस्ति इति वाच्यं, **''यः सर्वज्ञः सर्वविद्''** (मुण्ड.उप.१।१।९) इत्यादिश्रुतिविरोधात्. एवञ्च भगवदधीनो भगवदिच्छया तिरोहितज्ञानानन्दो जीवः इति.

[२]**''जीवेशौ आभासेन करोति माया च अविद्या स्वयमेव**

भवति'' (नृ.उ.ता.उप.९) इति श्रुतेः अविद्यायाः जीवशक्तित्वम् इति यत् तेन उक्तं तद् न सम्भवति, नहि कारणीभूता शक्तिः कार्यस्य सम्भवति. अन्यथा दाहहेतु-वह्निनिष्ठ-शक्तेरपि दाहशक्तित्वं स्यात्. यथा दाहानुकूलशक्तेः वह्निशक्तित्वम्, एवं जीवानुकूलशक्तेः ब्रह्मशक्तित्वमेव इति. *एतेन भगवदाराधकत्वेऽपि अविद्यायाः न जीवशक्तित्वविरोधः* इत्यादिकं निरस्तम्.

[३]यत्तु *तच्छक्तित्वेऽपि तदधीनोत्पत्तिकत्वं मायायां नास्ति* इति उक्त्वा *मानाभावाद्* इति उक्तं तदपि तुच्छम्, **''इदं सर्वम् असृजत''** (तैत्ति.उप.२।६) इति तैत्तिरीयश्रुतेरेव प्रमाणत्वात्. तत्रत्यभाष्ये **''इदं सर्वं (जगत्) देशतः कालतो नाम्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वत्र(सर्वावस्थैः) अनुभूयमानम् असृजत''** (तैत्ति.उप.शां.-भा.२।६) इति व्याख्यातम्. तथाच मायायाअपि अनुभूयमानतया कथं न तदधीनत्वम्.

[४]*ग्राहकतर्काभावाद्* इत्यपि न सद्, विपक्षे वेदाप्रामाण्यापत्तेरेव बाधकत्वेन तस्यैव अनुकूलतर्कत्वात्.

[५]शुकादीनां मुक्तत्वेतु पुराणादिवाक्यमेव प्रमाणम्.

[६]*किञ्च* इत्यादिना संसारस्य सादित्वे यवनतुल्यत्वापादनं यत् तदपि निराकारनिर्गुणब्रह्मस्वरूपवादिनामपि तदंशे तुल्यत्वात् स्वमतानालोकनविजृम्भितमेव. किञ्च किञ्चिद् अंशम् आदाय तुल्यत्वप्रतिपादने सर्वेषां सर्वतुल्यत्वापत्तिः.

[७]गालिप्रदानादिकन्तु आसुरधर्मत्वात् त्वय्येव शोभते. इति अलम् असदावेशेन. (इति अष्टमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्ड:९ जीवस्य आभासता तन्निरासम् उपक्रम्य
आभासकसम्बन्धतदनादित्वादिखण्डनम्-३)

[*सहस्रा. : विद्व. अन्यच्च, अविद्यासम्बन्ध-मात्रेण जीवभावं वदतः शुद्धब्रह्मण्येव च तत्सम्बन्धं वदतः तव मते जीवभावानापत्तौ हेत्वभावाद् निरवयवत्वाच्च अंशभेदेन तथात्वस्य वक्तुम् अशक्यत्वाच्च सर्वज्ञत्वादि-विशिष्ट-परमात्माऽसिद्धया सर्वश्रुत्युपप्लवः. किञ्च जीव-परमात्मनोः अनादिसिद्धं भेदं वदन् पारमार्थिकं कुतो न ब्रूषे? यतः श्रुतिः अनयोः अभेदं बोधयति. सच परमार्थतो भिन्नयोः न सम्भवतीति अवास्तवो भेदो अत्र वाच्यः. तादृशश्च भेदो बिम्बप्रतिबिम्बयोः आभासतदाश्रययोः च दृष्टचरो लोके इति तथा अत्रापि ब्रवीमि. अतएव महावाक्ये भागत्यागलक्ष-णापि. बाढं ब्रवीषि परं पूर्वापरालोचनरहितः. तथाहि स्याद् एतद्, एवं यदि "तत् त्वम् असि" इति एतन्मात्रं महावाक्यं स्याद्, नतु एवं किन्तु सम्पूर्णः प्रपाठकः. तत्र उपक्रमेऽपि "उत तम् आदेशम् अप्राक्षो येन अश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतम् अविज्ञातं विज्ञातम्" इति एकज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्. तद् एकमेव चेत् सर्वं भवेत् तदा उपपद्यते. यथा सुवर्णखण्डाः सुवर्णकार्यं च सर्वं सुवर्णमिति सुवर्णज्ञानेन तज्ज्ञानं भवति. अतो ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानं वक्तुं सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वं "सदेव, सौम्य!," इत्यारभ्य निरूपितम्. तत्र "ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" इति जडस्य सर्वस्यापि तदात्मकत्वम् उक्तम्. ततो जडस्य विनाशित्वदर्शनेन अब्रह्मत्वशङ्का-निरासाय आह "तत् सत्यम्" इति. तेन आविर्भाव-तिरोभावावेव श्रुत्यभिमतौ नाशोत्पत्ति-प्रतीतिः भ्रान्तेः. तथाच विष्णु-पुराणे प्रथमे अंशे "तद् एतद् अक्षयं नित्यं जगद्, मुनिवर!, अखिलम्*

आविर्भाव-तिरोभाव-जन्म-नाश-विकल्पवत्'' इति (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'अन्यच्च अविद्या' इत्यादिः 'नाशोत्पत्ति-प्रतीतिः भ्रान्तेः' इत्यन्तो नवमः खण्डः खण्डयते :

[१]तत्र ''मायायां प्रतिबिम्बते'' (सह.१।८) इत्यत्र ''मायायाः परिच्छिन्नत्वादि तत्र ब्रह्म-प्रतिबिम्बश्च'' प्रत्यपादि. तथाच कथं सर्वस्य ब्रह्मणो जीवभावः ? उपाध्यतिरिक्तस्य तत्सम्बन्धाभावेन जीवभावे प्रयोजकाभावात्. ततः सुस्थितं सार्वज्ञ्यम् इति उक्तं प्राक्. ''पादोऽस्य विश्वा'' इत्याद्याः श्रुतयः स्मृति-सूत्रे च उक्ते.

''तद् एकमेव चेद्'', इत्यादितु निरनुयोज्यानुयोगः सर्वस्य एकतायाः अस्माभिः स्वीकृतत्वात्. छान्दोग्यस्थं प्राथमिकं मृद्दृष्टान्तं परित्यज्य द्वितीयं सुवर्ण-दृष्टान्तं वदतः तव या आशा सुवर्णाविकारित्व-विषया सातु तत्रत्य 'विकार'शब्देन निरस्तेति चतुर्थश्लोक-व्याख्यायाम् उक्तम् अस्माभिः.

[२]''ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र ''एतदात्मा यस्य सर्वस्य स एतदात्मा'' इति बहुव्रीहिः, यथा ''पीतम् अम्बरं यस्य विष्णोः स पीताम्बरो विष्णुः'' इत्यत्र समभिव्याहृत-विष्णु-पदार्थस्य अन्यपदार्थत्वबोधनाय विग्रहे 'विष्णु'पदं यस्य इति षष्ठ्यन्तसमानविभक्तिकं केचित् प्रयुञ्जते, नतु विष्णु-पदार्थत्वेन तदन्तर्भावेन समासः. एवम् अत्रापि समभिव्याहृत-'सर्व'पदार्थस्य अन्यपदार्थत्व-बोधनायैव 'यस्य' इति षष्ठ्यन्त-समानविभक्तिकं 'सर्वस्य' इति पदं विग्रहे बोध्यम्. तेन न 'सर्वम्' इत्यस्य वैयर्थ्यम्. सर्वनाम्नो विशिष्य बोधकतायाः

'सन्निकृष्ट'पदेन पर्यवसानात्. यथा 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यत्र 'सा अस्य देवता' इति सर्वनामार्थे विहितस्य तद्धितस्य 'आमिक्षा'पदेन विषय-विशेषो बोध्यते. तद् आहुः भाट्टाः ''आमिक्षां देवतायुक्तां वदति एषोहि तद्धितः, 'आमिक्षा'पदसान्निध्यात् तस्यैव विषयार्पणम्''. 'एतदात्म'शब्दाद् भावे 'ष्यञ्'. तेन ''एषः आत्मा इदं सर्वम्'' इति अर्थो युक्तः. नतु मयूरव्यंसकादित्वात् समासे भावे ष्यञि एषः आत्मा तन्मयम् इति अर्थः उचितः. 'आत्म'शब्दस्य 'मयड्'-अर्थकत्वे 'एतदात्म'शब्दस्य मयूरव्यंसकादिषु पाठे च मानाभावाद्, भावार्थक'ष्यञ'र्थस्य अन्वयानुपपत्तेश्च. एतेन तट्टीकाकारस्य बहुव्रीहौ 'सर्व'शब्दवैयर्थ्यभ्रमो मयूरव्यंसकादिसमासादिश्रमश्च प्रत्युक्तः. अत्रच 'सर्व'शब्देन जडस्यैव ग्रहणम् इत्यत्र न मानं, तेन 'सर्व'शब्देन चिदचित् च गृह्यते. ''तत् सत्यम्'' इत्यत्र ''तत् त्वम् असि'' इत्यत्रेव 'तच्'छब्देन कारणं गृहचते, प्रकरणाद्, नतु कार्यं मानाभावात्. अन्यथा ''स आत्मा'' इत्यत्रापि कार्यस्यैव 'तच्'छब्देन ग्रहणे ''तत् त्वम् असि'' इत्यत्रापि तस्यैव ग्रहणं स्यात्, कारणप्रकरणस्य विच्छेदात्. एवञ्च ''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'', ''हेयत्वावचनाच्च'' इति सूत्रविरोधः. ब्रह्मणः सर्वकार्यात्मकत्वेन तद्वद् असत्त्वशङ्का प्रसक्ता सा ''तत् सत्यम्'' इत्यनेन निवारिता. सर्पादि-नानाभावभानेन तत्तदात्मिकायाः रज्ज्वाः यथा न स्वीयरज्जुरूप-परित्यागः, एवं तत्तदात्मकत्वेऽपि सतो न सद्रूप-परित्यागः इति भावः. एवञ्च जगतो मिथ्यात्वं सूपपन्नम्.

'सर्व'पदार्थस्य सत्यतायां तात्पर्येतु तस्य सन्निकृष्टतया सन्निकृष्ट-परामर्शकम् 'इदं'पदं प्रयुञ्जीत नतु 'तत्'पदम्. ''स आत्मा'' इति वाक्यन्तु ''तत् त्वम् असि'' इत्यत्र

असम्भावनानिवृत्त्यै. यतः ''स आत्मा (अतः) तत् त्वम् असि'' इति फलितार्थः. 'आत्म'शब्दश्च निरुपपदः प्रत्यगात्मनि रूढः. तस्माद् एतद्वचनविश्वासेन जगतो नित्यतया आविर्भाव-तिरोभावावेव इति कल्पना भ्रान्तिरेव. ''तस्य भावः तत्त्वम्'' इति व्याचक्षाणः तट्टीकाकारो अतिभ्रान्तो भावप्रत्ययार्थानन्वयात्. मध्यम-पुरुषार्थान्वयार्थं 'त्वं'पदाध्याहारे गौरवात् च (इति नवम-खण्ड-खण्डनम्)].

प्राभ. : अथ *अन्यच्च* इत्यादेः नवमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]*तत्र मायायां प्रतिबिम्बते* इत्यादिश्लोके *मायायाः परिच्छिन्नत्वादि तत्र ब्रह्मप्रतिबिम्बश्च प्रत्यपादि* इत्यादि उक्तं तद् न युक्तं, मायायाः परिच्छिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणो विभुत्वात् तस्य परिच्छिन्ने प्रतीत्यसम्भवात्. यथा जलगर्भिसिकता स्वान्तर्गतजले न प्रतिबिम्बते तद्वद्, गगनदृष्टान्तस्तु पूर्वमेव निरस्तः. **''पादोऽस्य विश्वा भूतानि''** (ऋक्.संहि.१०।९०।३) इति श्रुतिस्तु ब्रह्मणः एकदेशे सृष्टिः इति प्रतिपादयति, नतु ब्रह्मणो मायासम्बन्धः एकदेशे अस्ति इति तस्य अर्थः, तत्र 'माया'वाचकपदाभावात्. किञ्च प्रतिबिम्बपक्षे अविचारितरमणीये कथञ्चिद् दोषोद्धारेऽपि ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति. कौन्तेयस्यैव राधेयत्ववद् अविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवत्वम् इति पक्षे त्वत्सम्मते सर्वज्ञत्वविशिष्टपरमात्मनो असिद्धौ **''यः सर्वज्ञः सर्वविद्''** (मुण्ड.उप.१।१।९) इत्यादिश्रुत्युपप्लवो दुरुद्धरएव इति. किञ्च तादृशमते ईश्वरस्यापि स्वप्नकल्पितेश्वरतुल्यतया जीवानामपि स्वप्नदृष्टनिर्जीवपुरुषतुल्यतया सर्वनाशएव स्यात्. बिम्बप्रतिबिम्बभावम् आदाय भेदस्य अपारमार्थिकत्वसाधनन्तु षष्ठप्रपाठकस्थ-मृदादिदृष्टान्तविरुद्धम्. नहि मृद्घटादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावेन किञ्चिद्, अवच्छिन्नत्वेन वा औपाधिको भेदः सम्मतो, येन त्वत्पक्षे तेषां

दृष्टान्तता स्यात्. यथा मृत्सुवर्णादीनाम् अवस्थाविशेषो घटकुण्डलादिः तद्वद् ब्रह्मणो अवस्थाविशेषएव संसारो जीवादिरूपः इति पक्षे तेषां दृष्टान्तत्वं युज्यते. तस्माद् न बिम्बप्रतिबिम्बादिपक्षाः श्रुतिसम्मताः. चतुर्थश्लोकव्याख्यायां च यत् किञ्चित् त्वया उदितं तत् सर्वन्तु तत्रैव दूषितं किं पुनः पिष्टपेषणेन.

[२]यत्तु ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यत्र ''एतद् आत्मा यस्य सर्वस्य स एतदात्मा'' इति बहुव्रीहिसमासं प्रदर्श्य समभिव्याहृत'सर्व'पदार्थस्य अन्यार्थताबोधनायैव 'यस्य' इति 'षष्ठ्यन्त'पदसमानविभक्तिकं 'सर्वस्य'इति पदं, तेन न सर्वम् इत्यस्य वैयर्थ्यम् इति उक्तं, तदपि ''आघ्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे:'' इति श्लोकप्रवादविषयसममेव. तत्र टीकाकारस्य अयं प्रश्नः : एषः आत्मा यस्य स एतदात्मा, तस्य भावः ऐतदात्म्यं, यद्येवं समासः तदा 'सर्व'पदस्य कथम् अन्वयः? इति वक्तव्यम्. यदि एतदात्मा यस्य सर्वस्य स सर्वः इत्यत्र समासघटकान्तपदलक्ष्यतावच्छेदकसमर्पकतया ''**वैश्वदेव्यामीक्षा**'' (तैत्ति.ब्रा.१।७।१०।१) इति वाक्यघटका''ऽऽमीक्षा'-पदवत् 'सर्व'पदमपि उपयुज्यते इति उच्यते चेत्, स्याद् एवं, यदि एतदेव वाक्यं स्याद्. वर्ततेतु 'ऐतदात्म्यम्' इति. तत्र 'सर्व'पदस्य अनन्वितार्थकतया वैय्यर्थं दुर्वारमेव. नहि ''पीतम् अम्बरं यस्य विष्णोः स पीताम्बरो विष्णुः'' इत्यत्र भावे 'त्व'प्रत्यये कृते पीताम्बरत्वं विष्णुः इत्यत्र 'विष्णु'पदस्य अन्वययोग्यता, समासोत्तरभावप्रत्ययस्य सम्बन्धबोधकत्वाद्. अतएव उक्तं ''**कृत्तद्धितसमासेभ्यो मतभेदनिबन्धनं 'त्व'-'तलोः'अर्थकथनं टीकायां हरिणा कृतं, ''त्व'-'तलोः'इति भावप्रत्ययमात्रोपलक्षणम्**'' (वैया.भूष.४९) इति भूषणकारेण. तथाच समानविभक्तिकपदोपस्थाप्ययोः अभेदान्वयस्यैव व्युत्पन्नत्वेन यथा 'पीताम्बरत्व'पदबोध्यसम्बन्धाभेदस्य विष्णौ बाधितत्वात् तादृशवाक्यस्य अप्रामाण्यम्. तथा ''ऐतदात्म्यं सर्वम्'' इत्यस्य अप्रमाणिकत्वापत्तिः

त्वन्मते स्यात् तत्परिहारं ''वैश्वदेव्यामिक्षा''इति न्यायेन कुर्वन् उपेक्ष्यएव. अस्मन्मते च, ''एषः आत्मा 'एतदात्मा' तस्य भावः 'ऐतदात्म्यम्' एतत्सम्बन्धः'' इति यावत्. सम्बन्धस्तु अवस्थाविशेषरूपएव सच सर्वस्मिन् अबाधितएव शुद्धस्य ब्रह्मणएव लीलया जगद्रूपेण अङ्गीकारात्. एतेन *भावार्थकप्रत्ययार्थस्य अन्वयानुपपत्तिः* इति परास्तम्. त्वन्मते भावार्थकप्रत्ययार्थान्वयानुपपत्तिः उक्तैव. ''तत् सत्यम्'' इत्यत्र 'तच्'छब्देन पूर्वोक्तं यत् तेजोऽबऽन्नादि तस्य सत्यत्वं प्रतिपाद्यते. नच 'तच्'छब्देन कारणमेव गृह्यते प्रकरणाद् नतु कार्यं मानाभावाद् इति वाच्यम्, एवं सति **''तेजः ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति तद् अपो असृजत''** (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यत्रापि 'तच्'छब्देन ब्रह्मणएव परामर्शापत्तेः. किञ्च 'तच्'छब्दस्य प्रक्रान्तवाचित्वमेव इति नियमो नास्ति किन्तु बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षित-धर्मावच्छिन्नवाचकत्वम्. अतएव अनुगतधर्मावच्छिन्नवाचकत्वाद् न नानार्थकत्वम्. किञ्च 'तच्'छब्देन कारणस्य परामर्शे तस्य सत्यत्वं **''सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे आसीद्''** (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिघटक'सच्'छब्देनैव ज्ञातम्. पुनः ''तत् सत्यम्'' इत्यादिना तस्यैव परामर्शं 'तच्'छब्देन कृत्वा तस्य सत्यत्वप्रतिपादने पौनरुक्त्यापत्तिः. कार्यस्य सत्यत्वेतु वैनाशिकार्द्धवैनाशिकमायावादिनो विप्रतिपन्नाः तन्मतनिरासार्थं ''तत् सत्यम्'' इत्यनेन तस्य सत्यत्वप्रतिपादनं सार्थकम्. नच एवमपि पूर्वोक्त'सर्व'शब्देन जडस्यैव ग्रहणे किं मानम्? चिदचित्समुदायस्यैव कुतो न ग्रहणम् इति वाच्यम्, 'इदं'शब्दस्य मानत्वाद्. अन्यथा ''ऐतदात्म्यं सर्वम्'' इत्येव ब्रूयात्. 'इदं'शब्दस्य प्रत्यक्षबुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नवाचकत्वात्. चेतनस्य प्रत्यक्षबुद्धिविषयत्वाभावात्. जडजातस्यैव इदम् इति बुद्धिविषयत्वाद्. अतएव तस्य प्रत्यक्त्वमपि सङ्गच्छते. तस्मात् 'सर्व'शब्देन सङ्कुचितवृत्तिना जडमेव प्रतिपाद्यते नतु चेतनमपि, तस्य 'तत्त्वमसि' इत्यनेन प्रतिपाद्यत्वात्.

यच्च *''स आत्मा'' इत्यत्रापि कार्यस्य 'तच्'छब्देन ग्रहणे ''तत् त्वम् असि'' इत्यत्रापि तस्यैव ग्रहणं स्यात्, कारणप्रकरणस्य विच्छेदाद्* इति उक्तं तदपि स्वमतम् अनवलोक्यैव त्वन्मतेऽपि **''तद् अपो असृजत''** (छान्दो.उप.६।२।३) इत्यादौ 'तच्'छब्दे कार्यस्य ग्रहणेन प्रकरणविच्छेदात् ''तत् सत्यं'' ''तत् त्वम् असि'' इत्यादौ कार्यस्यैव ग्रहणं कुतो न स्यात्? यदिच 'तच्'छब्दस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नवाचकत्वाद् न दोषः इति उच्यते. तदा तुल्यं प्रकृतेऽपि.

ननु 'तदा'दिसर्वनाम्नां बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नवाचकत्वेऽपि 'हर्या'दिपदवद् नानार्थकत्वं स्यात्. साक्षात्-परम्परया अवच्छेदकैक्यएव शक्तेः ऐक्यनियमाद्. अन्यथा नानार्थमात्रोच्छेदः प्रसङ्गः इति चेद्, न, 'तच्'छब्दो बुद्धिप्रकारावच्छिन्नं बोधयतु इत्याकारकभगवत्सङ्केतेन घटत्वपटत्वादिधर्माणाम् अनुगतेन बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वेनैव विषयीकृतत्वात् तस्य न नानार्थकत्वम्. 'हर्या'दिपदेषुतु गोत्वेन्द्रत्वविष्णुत्वादीनां सङ्केतेन स्वरूपतएव अवगाहनाद् नानार्थकत्वोपपत्तिः. एवञ्च 'यत्'पदशक्तौ अनुगतधर्मेण शक्यतावच्छेदकानां न भानं, 'तत्'पदस्यैव नानार्थकत्वम्. अधिकम् अन्यत्र विस्तरेण उक्तम्.

प्रकृतम् अनुसरामः. एवञ्च प्रकरणविच्छेदेऽपि 'तच्'छब्देन कारणपरामर्शात् ''तत् त्वम् असि'' इत्यादौ कारणस्यैव ग्रहणाद् न **''तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्''** (ब्र.सू.१।१।६), **''हेयत्वावचनाच्च''** (ब्र.सू.१।१।७) सूत्रयोः विरोधः.

यदपि *ब्रह्मणः सर्वकार्यात्मकत्वे तद्वद् असत्त्वशङ्का प्रसक्ता सा ''तत् सत्यम्'' इत्यनेन निवारिता* इति उक्तं तदपि तुच्छं, ब्रह्मणो अविकृतस्य सर्वकार्यात्मकत्वश्रवणेन कारणस्य सत्यतायां **''सदेव...''** इत्यादिवाक्यैः श्रुतायां मृद्-लोह-दृष्टान्तैः निश्चितायां सन्देहानुदयेन त्वादृशानां वैनाशिकानां च वाक्यात् कार्यस्य अनित्यत्वसन्देहे ''तत्

सत्यम्'' इत्यनेन तस्य परामर्शो युज्यते. ततश्च कार्यनित्यत्वनिश्चयः. नच *कार्यस्य सत्यत्वं प्रतिपिपादयिषितं चेद्, 'इदं'शब्दमेव सन्निकृष्टपरामर्शकं प्रयुञ्जीत तस्य सन्निकृष्टत्वाद् नतु 'तच्'छब्दम्* इति वाच्यं, कारणपरामर्शेऽपि तद्दोषस्य तुल्यत्वात् कारणस्यापि ''**यः एषो अणिमा**'' (छान्दो.उप.६।८-।७), ''**ऐतदात्म्यम्**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिना पूर्वं प्रतिपादितत्वेन तस्यापि सन्निकृष्टत्वात्. एवञ्च कार्यस्य नित्यत्वाद् नाशोत्पत्त्योः असम्भवेन आविर्भावतिरोभावावेव श्रुतिसम्मतौ. ''**स आत्मा**'' इत्यादिवाक्यस्य ''**तत् त्वम् असि**'' इत्यादिप्रतिपाद्ये अर्थे असम्भावनानिवृत्त्यर्थं यत् त्वदुक्तं तदपि स्वमताज्ञानात्. नहि त्वन्मते ''स आत्मा'' इति श्रवणेनैव असम्भावना निवर्तते किन्तु मनननिदिध्यासनाभ्याम् अन्यथा तावन्मात्रेणैव असम्भावनादिनिवृत्तौ 'मन्तव्ये'त्यादिना तयोः विधानं निरर्थकम् आपद्येत. वस्तुतस्तु ''तस्य भावः तत्त्वं तदंशः'' इति यावत्. ''तत् त्वम् असि'' तदात्मकः तदंशो वा असि. ननु 'त्वं'पदाध्याहारे* अतिगौरवम् इति चेद्, भ्रान्तो असि. नहि मध्यमपुरुषे 'युष्मच्'छब्दप्रयोगो नियतो येन गौरवम्. अतएव उक्तं ''**युष्मदि प्रयुज्यमाने अप्रयुज्यमाने च मध्यमः**'' (पाणि.सू.सि.कौ.१।४।१०५) इति. भावप्रत्ययानन्वयस्तु 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र त्वन्मतेऽपि उक्तएवेति अलं विस्तरेण (इति नवमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः१० क. आविर्भाव-तिरोभावखण्डनम्, ख. आविर्भाव-तिरोभावयोः लक्षणनिरूपणमुखेन मण्डनम्)

[*सहस्रा. : विद्व.ननु आविर्भाव-तिरोभावौ नित्यौ अनित्यौ वा? न आद्यः, सततं घटोपलम्भानुपलम्भप्रसङ्गाभ्याम् अनिर्वाच्यतापत्तेः, तयोः धर्मत्वेन विरोधात्. तादृग्धर्म्यसिद्धौ तयोरपि वक्तुम् अशक्यत्वेन शून्यवादश्च आपद्येत, साधने*

---

* पा.टि. अयम् आशयः 'असि'क्रियापदस्य सार्थकत्वाय 'त्वं'पदाध्याहाराभावे वाक्ये अपूर्णता. अध्याहारेतु अतिगौरवम् (सम्पा.).

प्रवृत्तिश्च अनुपपन्ना स्यात्. किञ्च वर्तमानस्य वस्तुनो दर्शनयोग्यता-तदयोग्यतात्मकौहि तौ तथासति क्व भगवच्छक्ति-त्वम्? एवं सति घटोपलम्भानुपलम्भयोः कादाचित्कत्वे हेतौ उच्यमाने तत्तत्कारणस्तोम-परम्परयोः तथात्वं तथा इति वाच्यम्, एवम् ईश्वरेच्छा-पर्यन्तं धावने तस्याःअपि नित्यत्वेन न पूर्वोक्त-दूषणोद्धारः अपसिद्धान्तश्च. नच इतरसहकार्यभावाद् न उक्तदूषणम् इति वाच्यम्, उक्तरीत्या तस्यैव निरूपयितुम् अशक्यत्वात्. नापि उक्त-योग्यतात्मकत्वं तत्त्वम् इति वक्तुं शक्यं, वाय्वाद्यव्यापकत्वात्. नच 'दर्शन'पदम् अनुभवपरम् इति वाच्यम्, अतीतानागतयोरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गात्. एवं सति तिरोभावोच्छेदश्च. किञ्च तौ प्रतिव्यक्तिभिन्नौ अभिन्नौ वा? न अन्त्यः युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गात्. नच अवच्छेदक-भेदाद् न तत्प्रसङ्गः इति वाच्यं, विचाराक्षमत्वात्. तथाहि अवच्छेदकोहि घटादिः, तथाच तत्तदवच्छिन्नः आविर्भावः इति आगतम्. तथाच अवच्छेदकस्य नित्यत्वात् सदा उपलम्भः स्याद् अनुपलम्भो वा? नच तत्तत्कालोपाध्यव-च्छेदभेदाद् न तत्प्रसङ्गः इति वाच्यं, तस्यापि त्वन्मते घटतुल्यत्वात्. नहि एकदा उपलभ्यमानानां तथात्वम् अनुपपन्नम्. आविर्भावस्य आविर्भावः तत्तदवच्छेदेन इति न वक्तुं शक्यम्. तत्रापि उक्तविकल्पैः अनवस्थापातात्. तिरोभावोऽपि एतेन व्याख्यातः.न आद्यः, "आविर्भाव-तिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः" इति वाक्यविरोधात्. नच अनन्तशक्तिमत्त्वेन तदुपपत्तिः एकजातीयकार्यकरणे एकयैव सम्भवति सति अनेकतत्कल्पने मानाभावाद् गौरवात् च. उक्तरीत्या कादाचित्कत्वहेतुरपि न निरूपयितुं शक्यः. न द्वितीयः उक्तविरोधाद्, भगवद्धर्माणां नित्यत्वात्. तथा सति उत्पत्तिः

तयोः वाच्या. तर्हि घटादीनामेव ताम् अङ्गीकुरु. किम् अन्तर्गडुभ्याम् एताभ्याम्? अपसिद्धान्तः च तदुत्पादकञ्च दण्ड-मुद्गरादिकमेव त्वया वाच्यं, तच्च घट-तद्ध्वंसोत्पादकमेव, तिरोभावश्च घटादेः न वक्तुं शक्यः. तथा सति वस्तुसत्तया लौकिक-प्रत्यक्षाविषयत्वेऽपि ध्वस्तो घटो योगिना उपलभ्येत. रूपवतः सतो योगिप्रत्यक्ष-विषयत्वनियमात्. नच एवम् प्रमाणाभावात् "प्रजाश्च तुल्यकालीना न अधुना सन्ति कालिता" इति श्रीभागवतवाक्यात् च. इति प्राप्ते,

अत्र उच्यते :

तत्स्वरूपं तत् श्रुत्वा अपास्य संशयान्।
ब्रह्मवादे कृतात्मानः प्राप्नुवन्तु हरिं बुधाः॥

अनुभवविषयत्व-योग्यता आविर्भावः, तदविषयत्व-योग्यतातु तिरोभावः. तेच वस्तुसत्त्वेनैव अवच्छिद्येते. नहि अलीके ते सम्भवतः, तयोः धर्मत्वेन निराश्रयत्वासम्भवात्. किञ्च भावित्वेन भूतत्वेन च व्यवहियमाणयोः वस्तुनोः सत्ता त्वयापि उररीकार्या, तयोः घटादिधर्मत्वेन तदभावे निराश्रयत्वप्रसङ्गात्. एतेन "वर्तमान-प्रागभाव-प्रतियोगित्वं भावित्वं वर्तमान-ध्वंस-प्रतियोगित्वं ध्वस्तत्वम्" इति निरस्तम्. नच "कालोपाधिरेव तदाश्रयः" इति वाच्यं, तत्र तद्वैशिष्ट्य-प्रतीतिप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात्. ननु यथा तन्त्वधिकरणपट-निरूपितसमवायस्य काले सत्त्वेऽपि तत्समवेतत्वेन न पटे प्रतीतिः तेन सम्बन्धेन तत्र असत्त्वात्, तथा अत्र तत्प्रतियोगित्वाभावाद् न तथा प्रतीतिः, इति चेद्, न, प्रतियोगित्वस्य स्वरूपसम्बन्ध-विशेषत्वेन अङ्गीकारात्, तस्यच स्वरूपद्वयात्मकत्वात्, तस्यच अत्रापि सत्त्वात्. ननु तत्सत्त्वेऽपि स विशेषो न अत्र इति चेद्,

हन्त!, स को वा यत्र ईदृशी तव श्रद्धा? न दृष्टः प्रमाणाभावात्. ननु तद्द्वयसत्त्वेऽपि वैशिष्ट्याप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सम्बन्धान्तरम् अन्तरेण विशिष्टप्रत्ययजनन-योग्यत्वलक्षणः स कल्प्यते, इति चेद्, मा एवम्, उक्तरूपस्यापि कालएव सत्त्वं त्वया वाच्यम्. तथाच उक्त-दूषणभिया तत्समवायस्य प्रयोजकत्वं वाच्यं, तथाच तदा समवाय्यभावेन उक्तयोग्यत्व-समवायस्य कुत्रापि वक्तुम् अशक्यत्वात् कालाश्रयत्वस्यापि असिद्धेः. जन्यभावस्य अन्यत्र समवेतस्यैव कालाधारत्वनियमात्. अन्यथा असतोऽपि आश्रयः कालः इति अङ्गीकारः आपद्येत. नहि अन्यधर्मस्य कालाश्रयत्वेनैव सिद्धिः क्वचिद् दृष्टचरी. तथासति अन्यधर्मत्वव्याहतेः. अतो भावित्व-भूतत्व-व्यवहारकालेऽपि घटादिसत्ता ऊरीकार्या. किञ्च त्वदुक्त-योग्यता केन अवच्छिद्यते? इति पृच्छामः. तत्र चेद् ''यदा-कदाचिद् वस्तु-सत्तयैव अवच्छिद्यते'' इति ब्रवीषि तदा 'यदा-कदाचिद्' इति त्यज, अप्रयोजकत्वाद् गौरवात् च. तथा 'सम्बन्धान्तरम् अन्तरेण' इति च, स्वरूपस्य सम्बन्धत्वे सिद्धे 'सम्बन्धान्तर'पदं सार्थकं भवेत्. तथाच आत्माश्रयः. नच ''षोढा-सन्निकर्षाभावेऽपि तथात्वं तदर्थम्'' इति वाच्यं, योगजधर्मे अतिव्याप्तेः. नच लौकिक-तज्जनन-योग्यत्वं विवक्षितम् इति वाच्यं, सव्याप्तिवैशिष्ट्य-ज्ञानजनक-सामान्यप्रत्यासत्तौ अति-व्याप्तेः. नच जन्य-लौकिक-प्रत्यासत्तिं विनापि तथात्वं तदर्थम् इति वाच्यं, योगजधर्मे अतिव्याप्तेः. नच सामान्य-योगजधर्म-ज्ञानलक्षण-षोढाप्रत्यासत्त्यभावेऽपि तथात्वं तदर्थम् इति वाच्यम्, अप्रसिद्धेः. नहि उक्ततदभावे तथात्वं क्वचित् सिद्धम्.

विवादास्पदीभूतभावित्वादेस्तु पूर्वोक्तयुक्त्या निराश्रयत्वप्रस-ङ्गस्य दुर्निवारत्वेन तदापि धर्मिसिद्धौ अनुमानादिना तज्ज्ञाने

तत्समवेतोक्त-प्रतियोगित्वमपि विषयीभवतीति न उक्तप्रत्यास-त्यभावः इति सर्वम् अनवद्यम् (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'ननु आविर्भाव-तिरोभावौ' इत्यादिः 'सर्वम् अनवद्यम्' इत्यन्तो दशमः खण्डः खण्डयते :

[१]तत्र तावद् 'अनुभव'पदं साक्षात्कारमात्र-वाचकं, ज्ञानान्तराद् उत्तरम् अनुभवामि इति अनुव्यवसायानुदयात्. 'योग्यता'पदन्तु तदुक्तार्थ-निष्कर्षार्थम् अनुवादमात्रम्. तथाच साक्षात्कार-विषयत्वम् आविर्भावः तदभावः तिरोभावः इति तट्टीकासंक्षेपः. तौ चेद् वस्तुसत्त्वौ अवच्छिन्नौ तर्हि कुतो न अतीतादेः चाक्षुषत्वं युगपत्-सकलोपलम्भ-शक्त्यानन्त्ययोः अन्यतरत् च. वस्तुनो घटादेः सत्त्वस्य सर्वदा अङ्गीकारात्. कुतोवा शून्यवादानिर्वचनीयतावादौ न? कुतस्तरां साधने अप्रवृत्तिः (न) इति आद्ये ऊह्यम्. "यो धर्मः सः धर्मिस्थः" इति व्याप्तिस्तु धर्म-लक्षण-सम्बन्धाश्रयाणाम् अनिरुक्त्या अशक्यग्रहा. धर्म्यसिद्धौ धर्मत्वासिद्धचा हेतोः स्वरूपासिद्धिः च. 'धर्म'पदार्थस्य वक्तुम् अशक्यत्वाद् इति न तद्बलाद् भावित्वाद्याश्रयतया घटादिनित्यतासिद्धिः. यत्तु तट्टीकाकृता "कपाले घटस्य भावित्वं नास्ति, अप्रतीतेः. नापि तद् नित्यं, घटाद्यभावप्रसङ्गेन शून्यवादस्य प्रत्यक्षविरोधस्य च आपत्तेः. तस्माद् भावित्वम् अनित्यं जन्यं च, तेन भावित्वं पूर्वकाले न तिष्ठति इति, अर्थात् तदा घटसत्ता सिद्धा" इति उक्तं, तत्र वाच्यं घटादेरपि भावित्वात् प्राक्सत्त्वे तदापि प्रत्यक्षं स्याद् इति. तदसत्त्वे भावित्वस्य च असत्त्वे शून्यवादो अभ्युपगम्यतां, लाघवात्, श्रुत्यनुसाराद् वा अनिर्वचनीयवादः.

[२] *किञ्च भावित्वाभावमात्रेण कथं घटादेः सत्त्वम् ? सिकतासु तैलस्य भावित्वाभावेऽपि सत्त्वाभावात्. किञ्च भावित्वस्य जन्माङ्गीकारेण यदा तज्जन्म तदा घटाभावात् कथं सत्त्वम् उच्यते.* *

[३] *किञ्च सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन आविर्भावादेः सर्वान्तर्गतत्वेन ब्रह्मात्मकतया नित्यत्वं वदता भावित्वं कि सर्वानन्तर्गतं बुध्यते येन एवं प्रलप्यते? एवं भूतत्वेऽपि विचार्यम्. किञ्च भेद-भूतत्व-भावित्वानाम् अनित्यत्ववादिनः ते तेषां भूतत्व-भावित्वे क्व ? इति स्वप्नादिपदार्थ* ** *...भूतत्वादि क्व ? इति च वद. तस्माद् अनिर्वाच्यमेव इदं सर्वं ब्रह्मात्मकं च, "यद् भूतं यच्च भव्यम्" इति श्रुतेः. एवं त्वन्मते सर्वस्य ब्रह्मरूपतया ब्रह्मणः सर्वाधारतया सर्वान्तर्गत-कालोपाधौ सर्व-वैशिष्ट्य-धीः दुर्वारा. एवम् आकाशादावपि सा दुर्वारा.*

[४] *"नच कालोपाधिः" इत्यादितु नैयायिको वदेद् न अनिर्वचनीयतावादीति जितम् अनिर्वचनीयतावादिना. नैयायिकं प्रति यत् त्वया उक्तं तद् न दूष्यते ग्रन्थविस्तरभयाद् इति अलम् (इति-दशम-खण्ड-खण्डनम्)*].

---

* पा.टि. अत्र बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्ये (१।२।१) भगवत्पादशङ्कराचार्याः "**अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च. अतीतो घटो अनागतो घटः इत्येतयोश्च प्रत्ययोः वर्तमानघटप्रत्ययवद् न निर्विषयत्वं युक्तम्. अनागतार्थिप्रवृत्तेश्च. नहि असत्यर्थितया प्रवृत्तिः लोके दृष्टा. योगिनाञ्च अतीतानागतज्ञानस्य सत्यत्वाद् असंश्चेद् भविष्यद्घटः ऐश्वरं भविष्यद्घटविषयं प्रत्यक्षज्ञानं मिथ्या स्यात्. नच प्रत्यक्षम् उपचर्यते घटसद्भावेहि अनुमानम् अवोचाम**".

** अत्र ग्रन्थत्रुटिः (सम्पा).

प्राभ. : अथ *ननु आविर्भाव-तिरोभावौ* इत्यादेः दशमखण्डखण्डना-भासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र प्रथमं *तत्र* इत्यादिना टीकाकृदुक्तं किञ्चिद् अनूद्य तत्र स्वयं दोषान् उद्भावयितुम् अशक्तो विद्वन्मण्डने, *ननु* इत्यादिना उद्भावितान् दोषान् *तौ चेद् वस्तुसत्त्वौ अवच्छिन्नौ कुतो न अतीतादेः चाक्षुषत्वं युगपत्सकलोपलम्भशक्त्यानन्तयोः अन्यतरच्च वस्तुनो घटादेः सत्त्वस्य सर्वदा अङ्गीकाराद्* इत्यादि नो चेद् तदुत्तरम् ''अत्र उच्यते'' इत्यादिना तत्रैव यद्यपि उक्तम्. तथापि किञ्चिद् उच्यते : उत्पत्तेः पूर्वं घटादीनां सत्त्वं त्वया अभ्युपगम्यते नवा? इति. प्रथमे सिद्धं नः समीहितम्. द्वितीये ''घटो भविष्यति'' इति व्यवहारानुपपत्तिः. भविष्यत्त्वस्य धर्मत्वेन धर्मिणं विना असत्त्वात्. धर्मस्य धर्मिवृत्तित्वनियमाद्. अन्यथा तस्य धर्मत्वानुपपत्तिः. नच *धर्म-धर्मि-सम्बन्धानाम् अनिर्वचनीयतया व्याप्तेः असिद्धिः* इति वाच्यम्, अनिर्वचनीयत्वस्य व्याप्त्यसिद्धिप्रयोजकत्वे जगन्मिथ्यात्वसाधकानुमाने विपक्षसाध्यहेत्वादीनाम् अनिर्वचनीयत्वस्य त्वया अभ्युपगन्तव्यतया तेषाम् असिद्धचा व्याप्त्यसिद्धचा मिथ्यात्वमपि त्वदभिमतं न सिध्येद् इति. किञ्च पदार्थानाम् अनिर्वचनीयत्वं त्वया युक्त्या साध्यते श्रुत्या वा? न आद्यो, युक्तेः उपपत्तिरूपायाः व्याप्त्यनतिरेकात्. तस्याश्च धर्मिधर्मसम्बन्धघटितत्वेन तेषां त्वन्मते सिद्धचा कथं तद्घटितव्याप्याऽनिर्वचनीयत्वसिद्धिः. नापि द्वितीयः, ''जगद् अनिर्वचनीयम्'' इत्याकारिकायाः श्रुतेः अदर्शनात्. प्रत्युत ''**सदेव, सौम्य!, इदम् अग्रे आसीद्**'' (छान्दो.उप.६।२।१) इत्यादिश्रुत्या 'इदं'शब्दप्रतिपाद्यस्य जगतः तदभिन्नत्वं प्रतिपाद्यते. नच कारणात्मना सत्त्वं पूर्वमपि न स्वरूपेण इति वाच्यं, भवतु तावद् एवं केनापि रूपेण सत्त्वं तथापि ''**अधिकन्तु...**'' (लौकि.न्या.सा.) इति न्यायेन सत्त्वन्तु न अपैति. एवञ्च सत्त्वं पूर्वमपि श्रुतिसिद्धं त्वयापि अङ्गीकृतम्. तत्र भावित्वमपि स्वीकर्तव्यम् अन्यथा ''सृष्टिकालः

आसीद्'' इति प्रयोगानुपपत्तिः. तथाच भावित्व-भूतत्व-वर्तमानत्वाश्रयः एकएव घटः सिद्धः. किञ्च ''सर्वम् अनिर्वचनीयम्'' इति वदता ब्रह्मापि कुतो न अनिर्वचनीयम् उच्यते! यथा धर्मधर्म्यादीनां निरुक्तिः अशक्या एवं ब्रह्मणो निरुक्तिः कर्तुं न शक्यते. इष्टापत्तिः इति चेत्, तस्यापि असिद्धिः स्यात्. नच ब्रह्मणो वेदे सत्यतया प्रतिपादनात् तस्य अनिर्वचनीयत्वेऽपि न असत्त्वम् इति वाच्यं, यदि वेदस्य प्रामाण्यं त्वया अभ्युपगतं चेत् ''तत् सत्यम्'' इत्यादिना वेदेन प्रतिपादिते जगत्सत्यत्वे किमिति विद्वेषः? एवञ्च जगतः सत्यत्वात् तस्य कारणात्मना सत्त्वं तिरोभावः, स्वरूपेण सत्त्वम् आविर्भावः, तत्र जात्या प्रत्यवस्थानेतु त्वन्मतेऽपि तथैव पर्यनुयोगे मूकतैव स्यात्. एतेन *श्रुत्यनुसाराद् अनिर्वचनीयवादो अभ्युपगम्यताम्* इति प्रलपितम् अपास्तम्. अनिर्वचनीयवादस्य श्रुत्यनुसारित्वाभावात्.

[२]यत्तु *किञ्च* इत्यादिना *भावित्वाभावमात्रेण कथं घटादेः सत्त्वं सिकतासु तैलस्य भावित्वाभावेऽपि सत्त्वाभावाद्* इति उक्तं, तदपि अज्ञानात्. नहि भावित्वाभावेन घटादेः सत्त्वं साध्यते किन्तु ''भावित्वं धर्मिनिष्ठं, धर्मत्वाद् घटत्ववद्'' इति अनुमानेन सामान्यतो दृष्टेन तस्य धर्मिवृत्तित्वं प्रसाध्य कपालकालादिरूपधर्मिवृत्तित्वबाधात् परिशेषानुमानेन तस्य घटादिवृत्तित्वं साध्यते. परिशेषश्च प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यप्राप्तौ परिशिष्यमाणे सम्प्रत्ययः. तथाच प्रयोगो : भावित्वं घटपटादिवृत्ति घटाद्यतिरिक्तावृत्तित्वे सति धर्मत्वात्. यद् न एवं, तद् न एवम्. एवञ्च अज्ञानादेव दोषोद्भावनम् इदम्.

[३]यदपि *सर्वस्य ब्रह्मरूपतया ब्रह्मणः सर्वाधारतया सर्वान्तर्गतकालोपाधौ सर्ववैशिष्ट्यधीः दुर्वारा* इत्यादि उक्तं, तत्र कालोपाधौ केन सम्बन्धेन सर्ववत्त्वबुद्धिः आपाद्यते? कालिकेन उपादानोपादेयभावनियामकेन?

स्वरूपविशेषेण वा? आद्ये इष्टापत्तिः. ''इदानीं घटः इदानीं पटः'' इत्यादिप्रतीतेः सर्वसम्मतत्वात्. ब्रह्मणः सर्वाधारतया इत्यादेः अनुपयोगश्च. द्वितीयेतु ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वेऽपि कालाद्यात्मना न तस्य उपादानत्वं किन्तु अविकृतस्यैवेति न तद्विशिष्टबुद्धिः इति संक्षेपः (इति दशमखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः११ भावित्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकाविर्भावतिरोभाव-निष्कृष्टलक्षणप्रदर्शनम्)

[*सहस्रा. : विद्व.ननु ममतु यथा कथञ्चिद् गतिः काचन भवित्री तवतु न काऽपि. तथाहि त्वन्मते घटादेः सदा सत्त्वेन भावित्वं न वक्तुं शक्यं, श्रुति-स्मृति-लौकिकव्यवहार-सिद्धत्वेन न इष्टापत्तिः कर्तुं शक्या, नच लौकिक-प्रत्यक्षविषयत्वगतं भावित्वं घटादौ उपचर्यते इति वाच्यं, तस्यापि घट-समान-योगक्षेमत्वात्. नहि प्रपञ्चातिरिक्तं तत्. स्वोक्त-दूषणभियापि न एवं वक्तुं शक्यम्. तथा सति घटस्य अपराधः को वा इति न विद्मः:. तथाच जीर्णपर्णाकीर्णविविधमतभवनमये पुरे स्वयमपि वसन् दूषणदहनम् उद्भावयन् निजभवनदाहं किं न अनुसन्धत्से इति चेद्, वत्स! न वेत्सि किं युक्तिकनकपङ्क-सङ्घट्टित-विविधनिगम-महामणिविरचित-ब्रह्मवादभवनं मम. तथाहि ''स ह एतावान् आस'', ''ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् तत् सत्यम्'', ''पुरुष एव इदं सर्वं यद् भूतं यत् च भव्यम्'' इत्यादिश्रुतिभ्यः प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मत्वम् अवगम्यते. अत्र 'सर्व''पदेन असङ्कुचितवृत्तिना भूतभव्ययोरपि प्राप्तोऽपि तदुक्तिः या सा पुरुषस्य नित्यत्वेन तदात्मकस्य वर्तमानदशैव सम्भवति इति भावित्वभूतत्वव्यवहारो अप्रामाणिकः इति शङ्कानिरासाय इति ज्ञायते. तथा (च)*

धर्माणामपि ब्रह्मरूपत्वाद् घटादिषु तदात्मकतत्सत्त्वं न विरुद्धं, स्वतःसिद्धप्रामाण्य-श्रुतिवाक्य-बलात्. ननु एवं दर्शन-समयेऽपि तद्व्यवहारापत्तिः वैपरीत्यापत्तिः च विरोधोच्छेदश्च इति चेद्, (न). यथा पृथिव्यात्मकेएव तस्मिन् गन्धात्मकतत्सत्ता, न अपरस्मिन्, तथा यदा यस्मिन् यथा व्यवहाराभाव-नियमः तदा तस्मिन्एव तथाविध-विरोधात्मक-तत्सत्त्वमिति तथा इति, न उक्तदूषणगन्धोऽपि इति बुद्धचस्व. यत्र उक्तनियमाभावः तत्रतु न तथा. तथाच उक्तम् आश्रमवासिके पर्वणि गान्धारीं प्रति बादरायणेन ''देवाश्च दानवाश्चैव तथा ब्रह्मर्षयो अमलाः, ते एते निधनं प्राप्ताः कुरुक्षेत्रे रणाजिरे'' इति उपक्रम्य धृतराष्ट्राऽदि-भीष्मान्तानां स्वरूपम् उक्त्वा गान्धार्यादिदुःखनिवारणाय आह ''सर्वे भवन्तो गच्छन्तु नदीं भागीरथीं प्रति, ततो द्रक्ष्यथ सर्वान् तान् ये हताः स्म रणाजिरे'' इति. ततो धृतराष्ट्र-पाण्डवादयः सस्त्रीकाः तत्र गत्वा स्नात्वा निशायां जातायां व्याससमीपं गताः ''ततो व्यासो महातेजाः पुण्यं भागीरथीजलम्, अवगाहच्य आजुहाव अथ सर्वान् लोकान् महामुनिः पाण्डवानां च ये योधाः कौरवाणां च सर्वशः. राजानश्च महाभागाः नाना-देश-निवासिनः, ततः सुतुमुलः शब्दो जलान्ते, जनमेजय!, प्रादुरासीद् यथा पूर्वं कुरुपाण्डव-सेनयोः, ततः ते पार्थिवाः सर्वे भीष्म-द्रोण-पुरोगमाः, ससैन्याः सलिलात् तस्मात् समुत्तस्थुः सहस्रशः'' इत्यादिना सर्वान् नामपूर्वकं निरूप्य आह ''एकां रात्रिं विहृत्य एवं ते वीराः ताः च योषितः, आमन्त्र्य अन्योन्यम् आश्लिष्य ततो जग्मुः यथागतम्'' इत्यादि. एतत् श्रुत्वा जनमेजयः पप्रच्छ ''कथञ्च त्यक्तदेहानां पुनः तद्रूपदर्शनम् इति. तदा वैशम्पायन आह 'अविप्रणाशः सर्वेषां कर्मणामिति

निश्चयः, कर्मजानि शरीराणि तथैव आकृतयो नृप!, महाभूतानि नित्यानि भूताधिपति-संश्रयाद्'' इत्यादि. एतद्ग्रे ''अविनाशी तथा नित्यः क्षेत्रज्ञः इति निश्चयः, भूतानाम् आत्मभावो यो ध्रुवो असौ सम्प्रजानताम्'' इत्याद्यनेकम् उक्त्वा आह ''अदर्शनाद् आपतितः पुनश्च अदर्शनं गतः, नाहं तं वेद्मि नाऽसौ मां, नच मे अस्ति विरागता'' इति. नच इदं मायया प्रदर्शितं व्यासेन इति वाच्यं, तथा वचनाभावात् ''प्रसादात् तस्य वै मुनेः'' इति वाक्यात् च. पतिव्रतानां तासां स्व-स्वभर्तृभिः सह विहारकथनात् च, गङ्गास्नानादि-साधनोपदेशानुपपत्तेः च. ''अदर्शनाद् आपतितः'' इत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी इति 'पुनः'शब्दाच्च दर्शनात् पूर्वं वस्तुसत्ता प्राप्यते. एवं सति यद्यद्-देशकालावच्छेदेन (यस्य) यथा प्रतीतिः भगवता इच्छाविषयः कृता अस्ति तत्तद्देशकालावच्छेदेन तथा प्रतीतिः भवति इति सिद्धम्. इदन्तु/इदञ्च यथा तथा ''परातु तच्छ्रुतेः'' इत्यधिकरणे निरूपयिष्यामः (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहम्राक्षोद्धृतः).

अथ 'ननु ममतु यथा' इत्यादि 'निरूपयिष्यामः' इत्यन्तः एकादशः खण्डः खण्डचते :

[१]तत्र प्रमाणान्तरबाधेऽपि घटादिषु भूतादिव्यवहारः स्वतःसिद्धप्रामाण्यश्रुतिबलात् चेद् अङ्गीक्रियते तर्हि युगपद्=भूतभावि-व्यवहारौ आपद्येताम्. विनिगमकान्तराभावात्. भवद्व्यवहारश्च लुप्येत. तादृक्-श्रुत्यभावाद् ईदृक्-श्रुतिविरोधात् च. किञ्च अनया श्रुत्या घटादौ भूतादितादात्म्यं न विधीयते किन्तु ब्रह्मण्येव. तथाच स्वप्नादिषु भूतत्वादेः उभयसिद्धत्वात्

तत्तादात्म्यपरेयं श्रुतिः अस्तु. घटादिषु तदाश्रयत्वकल्पने मानाभावात्. यदिच भूताद्यभिन्नब्रह्माभिन्नतया घटादौ भूतादिव्यवहारः ''तदभिन्नाभिन्नः'' इति न्यायात्, तर्हि तेनैव न्यायेन तस्मिन् पटादिव्यवहारोऽपि अस्तु. ''पुरुष एव इदं सर्वं'', ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' इत्यादिश्रुतेः पटादेः ब्रह्मणि अभेदबोधिकायाः सत्त्वात्.

[२]किञ्च ''यदा यस्मिन् यथा'' इत्यादिपङ्क्तौ सप्तम्यन्तः 'यत्'-'तच्'छब्दाभ्यां घटादेः घटत्वादिना वर्तमानघटत्वादिना तत्तद्व्यतिरिक्त्वादिना वा ग्रहे घटादेः तत्तद्रूपाणां च सर्वेषु समयेषु सत्त्वाद् व्यवहाराणां च नित्यत्वात् कालिकनियमाभावोक्तिः अयुक्ता. किञ्च यदा भूतत्वादिविरोधात्मकतत्सत्त्वं न अङ्गीकृतं तदा स्वप्नादि-सत्त्ववद् घटादि-सत्त्वनिर्मानम्. पृथिव्यादिषुतु पृथिवीत्वादिनैव गन्धादि स्वीक्रियते द्रव्यस्य आद्यलक्षणे निर्गुणत्वे मानाभावात्. किञ्च अस्तु पृथिव्यादौ मायया जागरे गन्धः स्वप्ने तथा दृष्टत्वात्. नच ''मायिके मायया अस्तु गन्धो, जागरे तत्त्वाभावात् कथं तथा गन्धः स्याद्''? इति वाच्यं, मायिकत्वस्य जागरेऽपि उपपादितत्वात्. तस्माद् ''यद् भूतं यत् च भव्यम्'' इत्यत्र ''पुरुष एव इदं सर्वम्'' इति. 'इदं'शब्दसमानाधिकरण'सर्वं'शब्दार्थएव, 'यच्'छब्दसमानाधिकरणाभ्यां 'भूत'शब्द'भव्य'शब्दाभ्यां निर्दिश्यते. 'सर्वं'शब्दस्य असङ्कुचितवृत्तिता तत्रैव भवति यत्र समानाधिकरण'इदमा'दिशब्दनिर्देश्यो 'यदा'दिप्रतिपाद्यो न भवति. अतएव ''तवैव इदं सर्वं यद् मम गृहे, यत् च मद्भ्रातुः गृहे'' इत्यादौ सङ्कुचितवृत्तिता. सर्वनाम्नां बुद्धिविषयधर्मोपलक्षितबोधकतायाएव सत्त्वाद् ईदृशविषये

सङ्कुचितार्थस्यैव बुद्धि-विषयत्वात् च. श्रुतौतु 'च'कारेण भवतो ग्रहणम् इति असङ्कुचितार्थवृत्तिताएव 'सर्व'शब्दस्य फलति.

[३]यत्तु ''केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः'' इति अर्जुनज्ञानानुवादात् तस्य ध्वस्तविषयकं ज्ञानम् इति तट्टीकाकारः, तद् न. 'चूर्णित'शब्दस्य ध्वस्तार्थकत्वाभावात्. उत्तमाङ्गानां चूर्णितत्वेन ज्ञाने स्वप्नादिष्विव मायया भाविनोऽपि चूर्णितत्वस्य वर्तमानतया च ज्ञाने बाधकाभावात्. ''तथा च उक्तम्'' इत्यत्र वचेः किं कर्म इति विचार्यम्. 'देवाश्च' इत्यादिवाक्यानाम् उपक्रमादिकर्मत्वात् 'देवाश्च' इत्यस्यैव तत्कर्मतया तदेव उक्तम्. 'उपक्रम्य' इत्युक्तिस्तु न श्लिष्टा, उक्तपदवैयर्थ्यापादिका च. ''दुःखनिवारणाय आह'' इति वाक्ये 'आह' अतिरिक्तम् असङ्गतम्. उक्तिमात्रस्यैव तत्त्वेऽपि प्रथमप्रतिज्ञायाएव तत्त्वौचित्यात्.

[४]आश्रमवासिकेतिहासाद् युद्धमृतानां तेषां तत्पत्न्यादीनां च अवशिष्टकर्मकत्वेन व्यासप्रसादगङ्गास्नानाद् युद्धैः तादृशकर्मभिः पूर्वोदाहृतकाशीमृतसतीपतिन्यायेन मायिकशरीरोत्पत्तिः स्वप्नवत्. अतएव 'अविप्रणाशः' इति श्लोकः ''अदर्शनाद् आपतितः'' इति च सङ्गतम्. तत्र तेषां सर्वकर्मनाशो नाभूत् किन्तु किञ्चित् कर्मैव नष्टम् इति अवशिष्टकर्मजन्यं शरीरादिकम् अभूद् इति 'अविप्रणाशः' इत्यस्य तात्पर्यार्थो नतु ''सर्वाणि कर्माणि नित्यानि'' इति टीकोक्तोर्थे तात्पर्यं प्रमाणाभावात्, सर्वकर्मसत्त्वे अतिप्रसङ्गात् च. 'नित्यानि' इत्यस्य

अवच्छिन्नप्रवाहकाणि इति अर्थः. ''नित्यं स्यात् सन्ततेऽपि च, शाश्वते त्रिषु'' इति मेदिनीकोशात्. भूतानां = जीवानाम्. 'भूतं' क्ष्मादौ पिशाचादौ जन्तौ क्लीबं त्रिषूचिते'' इति मेदिनीकोशात्. ''भूतानां = शरीराणाम्, आत्मभावः = आत्मत्वेन ज्ञानम् असौ, सम्प्रजानतां = ज्ञानिनां, ध्रुवो = वामदेवस्येव सर्वात्मभावरूपत्वात्, सएव अर्थाद् अज्ञानिनाम् अध्रुवो अभिमानरूपत्वाद्'' इति तट्टीकोक्तो अर्थस्तु हेयः. 'भूत'शब्दे 'आत्मभाव'शब्दे च लक्षणायां गौरवात्. 'ध्रुव'शब्दस्यापि कस्मिंश्चिद् अर्थे ऐच्छिकवृत्तिकल्पनापत्तेश्च. अदर्शनाद् = अज्ञानात्. 'दृशेः' ज्ञानसामान्यार्थतायाः दृष्टत्वात्. अतएव ''अदर्शनं लोपः'', ''पश्यार्थैश्च अनालोचने'' इति पाणिनिसूत्रे सङ्गते. एतेन तथा वचनाभावाद् न मायया दर्शनम् इति प्रत्युक्तम्. मायायाएव तादृशशक्तिकत्वाच्च. 'ल्यब्'लोपे पञ्चमीतु अध्याहारे गौरवाद् न उचिता. अध्याहारः कस्य ल्यबन्तस्य इत्यत्र विनिगमकाभावात् च. ''ग्रामाद् आगतः पुनः ग्रामं गतः'' इतिवद् उपपत्तिः अत्र ज्ञेया. एतेन ''नास्ति दर्शनम् अस्य'' इति अदर्शनम्. मूलकारणम् अक्षरं तं प्राप्य इह सङ्घातः आगतः ''यथा सुदीप्तात् पावकाद्'' इत्यादि टीकोक्तं प्रत्युक्तम्. ''नाऽहं तं वेद्मि'' इत्यादितु तेषाम् अदर्शनाद् उत्तरं स्थितानाम् अनुभवाभिलापयोः अनुवादः.

[५]यत्तु 'तं' = सङ्घातं शरीररूपत्वेन (अहं) न वेद्मि ब्रह्मवित्त्वात्. 'असौ' = सङ्घातो, 'माम्' = आत्मानं न वेत्ति चिदंशस्य तिरोहितत्वात्. 'च' = पुनः, मे विरागताऽपि नास्ति. ज्ञातेहि दोषे दुष्टात् पुरुषाद् विरज्यते ''ब्रह्मैव सर्वम्'' इति ज्ञाने दोषस्य कुत्रापि अदर्शनाद् न मे विरागता. विगतो

रागो यस्य असौ विरागः तस्य भावो विरागता, सापि सर्वस्यैव आत्मत्वेन प्रियत्वाद् न अस्ति इति अर्थः, इति तद् न. वैशम्पायनादेः तज्ज्ञानादिप्रसक्तेः अभावेन अप्रसक्तप्रतिषेधस्य तादृशक्लिष्टार्थकत्वस्य च अयुक्तत्वात्. चिदंशतिरोभावविषयेतु उक्तं प्राक्. पतिव्रतानान्तु सतीप्रत्यभिज्ञाने काशीमृतसतीभार्यावत् तैः विहारे न दोषः. व्यावहारिकात्मैक्यसद्भावाच्च. नो चेत्, पत्या कौमारे ऊढानां वयोऽन्तरे तेन विहारे पातिव्रत्यं हीयेत. शरीरस्य परिमाणादिभेदेन भेदात्. अतएव कायव्यूहं धृतवता योगिना स्वप्नदृष्टेन च पत्या विहारे न दोषः इति अलम्. इच्छामात्रस्य नियामकत्वन्तु असकृत् प्राग् दूषितम्. "परात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यत्र वक्ष्यमाणन्तु तत्रैव निराकरिष्यामः (इति एकादशखण्डखण्डनम्)].

प्राभ. : अथ *ननु मम यथा* इत्यादेः एकादशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]*तत्र प्रमाणान्तरबाधेऽपि घटादेः भूतादिव्यवहारः चेत् स्वतः सिद्धः प्रामाण्यश्रुतिबलाद् अङ्गीक्रीयते तर्हि युगपद्भूतभाविव्यवहारौ आपद्येतां विनिगमकाभावाद् इत्यादिना दोषः उद्भावितः* सोऽपि अस्थाने. *नहि तथाहि* इत्यादिना उक्तवाक्येन घटादौ भूतादिव्यवहारः उपपादितः, किन्तु घटादौ ब्रह्मात्मकतया भूतत्वादिधर्मवत्त्वम्. अतएव उपसंहारे घटादिषु तदात्मकतत्सत्त्वं न विरुद्धम् इत्यादि कथनमपि सङ्गच्छते. "**यद् भूतं यच्च भव्यम्**" (श्वेता.उप.३।१५) इत्यादि श्रुत्यापि भूतभाविपदार्थस्य पृथक्त्वेन ब्रह्मरूपत्वप्रतिपादनाद् एकस्मिन् एककालावच्छेदेन तादृशव्यवहारो युगपद् न जायते इति गम्यते. अन्यथा "**पुरुषएव इदं सर्वम्**" (ऋक्.संहि.१०।९०।२) इत्येतावतैव सिद्धे भूतभव्ययोः पुनर्ग्रहणं व्यर्थमेव

स्यात्. यथा एकस्मिन्नेव शरीरे वृद्धत्वयौवनबाल्यत्वादीनां परस्परविरुद्धानां सत्त्वेपि न युगपत् तेषां व्यवहारो, नापि विरोधोच्छेदः तथैव प्रकृतेऽपि. नच बाल्ये यच्छरीरं तन्न यौवने किन्तु भिन्नमेव इति वाच्यं, क्षणभङ्गवादप्रसङ्गाद्, **''देहिनो अस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा''** (भग.गीता.२।१३) इत्यादि भगवद्वाक्यविरोधश्च. किञ्च **''स्वाप्ययाद्''** (ब्र.सू.१।१।८) इति सूत्रे तत्सूत्रशारीरभाष्यानुरोधेन जीवस्य सुषुप्तौ विलीनत्वम् अवश्यं स्वीकरणीयं त्वयापि. तथाच प्रबुद्धेऽपि तस्मिन् तथाव्यवहारः कुतो न स्यात्? एवञ्च जाग्रदाद्यवस्थात्रयं जीवस्य इति स्वीकुर्वतः तव यथा युगपद्व्यवहारो न एकस्मिन् न एककालावच्छेदेन तथैव भावित्वभूतत्ववर्तमानत्वादीनाम् एकस्मिन् न एककालावच्छेदेन न व्यवहारः. *यदिच* इत्यादिना *भूताद्यभिन्नब्रह्माभिन्नतया घटादौ भूतादिव्यवहारः तदभिन्नाभिन्नः इति न्यायात् तर्हि तेनैव न्यायेन तस्मिन् पटादिव्यवहारोऽपि अस्तु* इत्यादि दोषोद्भावनं तन्न साधीयः. करणस्वरूपलक्षणस्य कारणाभिन्नस्य ''तदभिन्नाभिन्नः'' इति न्यायेन कार्याभिन्नत्वम्. यथा गन्धवदभिन्नपृथिव्याभिन्नघटादेः गन्धवदभिन्नत्वं नतु कार्याभिन्नकारणाभिन्नद्वितीयकार्यस्य तत्कार्याभिन्नत्वं सर्वव्यवहारसङ्करप्रसङ्गात्. किञ्च यथा घटाद्यात्मना आविर्भूतायाः मृदो न पटाद्यात्मनाविर्भूतत्वं गन्धाद्यात्मना आविर्भूतायास्तु घटपटाद्यात्मनाविर्भूतत्वम् अतएव सर्वत्र पार्थिवेषु गन्धव्यवहारो नतु घटे पटस्य, पटे घटस्य वा व्यवहारः. एवमेव घटाद्यात्मनाविर्भूतस्य ब्रह्मणः पटाद्यात्मना न आविर्भूतत्वाद् न घटादिषु पटादिव्यवहारः. अतएव सच्चिदानन्दात्मकत्वेऽपि ब्रह्मणः तत्कार्येषु घटादिषु न चिद्व्यवहारो घटाद्यात्मना सदात्मकस्यैव आविर्भूतत्वात्. स्वीकर्तव्यश्च त्वयापि अयमेव परिहारो अन्यथा त्वन्मतेऽपि सदाद्यात्मकब्रह्माभिन्नत्वेन घटादिषु यथा सद्व्यवहारः तथा पटव्यवहारोऽपि दुर्वारएव स्यात्. नच अस्मन्मते पटादेः मायिकत्वाद् न ब्रह्मात्मकत्वम् इति वाच्यं, **''पुरुषएव इदं सर्वं''** (ऋक्.संहि.१०।९०।२), **''सर्वं**

खलु इदं ब्रह्म'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इत्यादिश्रुतिविरोधापत्तेः. किञ्च मायिकत्वेऽपि स्वभिन्नमायाभिन्नत्वे घटे पटत्वव्यवहारो अशक्यपरिहारएव. यदपि *यदा यस्मिन् इत्यादिपङ्क्तौ* इत्यादि उक्त्वा *व्यवहाराणाञ्च नित्यत्वात् कालिकनियमाभावोक्तिः अयुक्ता. किञ्च यदा भूतत्वादिविरोधात्मकतत्सत्त्वं न अङ्गीकृतं तदा स्वप्नादिसत्त्ववद् घटादिसत्त्वं निर्मानम्* इत्यादि प्रलपितं तदपि मन्दं, घटादीनां कारणात्मना सत्तासत्त्वेऽपि कार्यात्मना सर्वदा सत्त्वाभावात् कालिकनियमाभावोक्तिः असङ्गता. स्वप्नादिसत्त्ववद् घटादिसत्त्वम् इतितु रिक्तं वचः. यदि घटादिसत्त्वं स्वाप्निकपदार्थसत्त्वतुल्यं स्याद् तदा ''**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्**'' (ब्र.सू.२।२।२९) इति व्याससूत्रं विरुद्धं स्यात्. स्याच्च ''**मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येन अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**'' (ब्र.सू.३।२।३) आदिसूत्रेण स्वप्नस्यैव मायात्वप्रतिपादनं विरुद्धम्. जाग्रतपदार्थानामपि त्वदुक्तरीत्या मायामात्रत्वात्.

[२]किञ्च यदि घटादिसत्त्वनिर्मानं स्यात् तदा ''**कथम् असतः सद् जायते**'' (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुतौ 'सत्'पदेन घटादीनां ग्रहणं न स्यात्. नहि असत्यस्य 'सत्'पदेन ग्रहणं सम्भवति. तस्मात् श्रुति-सूत्र-विरुद्धं वदन् उपेक्ष्यएव. एतेन *किञ्च अस्तु पृथिव्यादौ मायया जागरे गन्धः स्वप्ने तथा दृष्टत्वाद्* इत्यादिकं निरस्तम्. किञ्च तन्मते(त्वन्मते!) मायाश्रयस्यैव मायिकाश्रयत्वेन पृथिव्यादेः मायाश्रयत्वाभावेन शुद्धचैतन्यस्यैव त्वन्मते मायाश्रयत्वेन तस्यैव मायिकपदार्थाश्रयत्वात् पृथिव्यां *''मायया अस्तु गन्धः''* इत्युक्तिः त्वन्मतविरुद्धा. उक्तञ्च संक्षेपशारीरके ''**आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला, पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः**'' (संक्षे.शारी.१।३१९) इति. यत्तु *''पुरुषएव इदं सर्वम्'' इत्यत्र 'इदं'शब्दसमानाधिकरण'सर्व''शब्दार्थ-एव 'यत्'शब्दसमानाधिकरणाभ्यां 'भूत'शब्द 'भव्य'शब्दाभ्यां निर्दिश्यते* इत्यादि उक्त्वा *सर्वनाम्नां बुद्धिविषयधर्मोपलक्षितबोधकतायाएव सत्त्वाद्* इति उक्तम्. तत् तुच्छं, ''यद् मम गृहे यच्च मद्भ्रातुः गृहे'' इत्यादि दृष्टान्तेन

यदि ''**पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्**'' (श्वेता.उप.३।१५) इति वाक्ये भूतभव्ययोः 'इदं'शब्दार्थसमानाधिकरण'सर्व'शब्दार्थत्वं प्रतिपाद्येत, तदा भूतभव्ययोः पुरुषरूपत्वेऽपि वर्तमानस्य पुरुषरूपत्वं न सिद्धचेत्. 'सर्व'शब्दस्य सङ्कुचितरूपत्वात् ''तवैव इदं सर्वम्'' इत्यादिवाक्येन यथा स्वगृहस्थधने स्वभ्रातृगृहस्थधने सम्बोध्य सम्बन्धबोधने स्वपितृधने तत्सम्बन्धो न बोध्यते, तद्वद् अत्रापि वर्तमानस्य पुरुषरूपत्वबोधासम्भवात्. सर्वनाम्नामपि सर्वेषां बुद्धिविषयधर्मोपलक्षितधर्मावच्छिन्ने न शक्तिः किन्तु यत्तदोरेव, एवञ्च 'सर्व'शब्दशक्त्यभिप्रायेण बुद्धिविषयवाचकत्वकथनं तादृशपदशक्त्यज्ञानादेव. 'सर्व'शब्दस्यतु उद्देश्यवाचकपदसमानाधिकरणस्य उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकविधेयव्याप्यपर्याप्तिकधर्मावच्छिन्ने शक्तिः ''सर्वे ब्राह्मणाः पूज्याः'' इत्यादौ ब्राह्मणत्वव्यापकपूज्यत्वव्याप्य यावत्त्वावच्छिन्नाः ब्राह्मणाः इति बोधः. अतएव ''सर्वे ब्राह्मणाः वेदपाठकाः'' इति प्रयोगस्य अप्रामाण्यं सङ्गच्छते, ब्राह्मणत्वव्यापकयावत्वस्य वेदपाठकत्वव्याप्यत्वाभावात्. यदि बुद्धिविषयत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नवाचकत्वं 'सर्व'शब्दस्य स्यात् तदा ते घटाः नीलरूपवन्तः इतिवत् सर्वे घटाः नीलरूपवन्तः इति वाक्यस्यापि प्रामाण्यं स्यात्. अस्मन्मते च नीलरूपवत्त्वव्याप्ययावत्त्वस्य घटत्वव्यापकत्वाभावाद् घटत्वव्यापकस्य च नीलरूपवत्त्वव्याप्यत्वाभावाद् न तथा प्रामाण्यं बुद्धिविषयत्वावच्छिन्नानां यत्किञ्चिद् रूपावच्छिन्नानां च घटव्यक्तीनां नीलरूपत्वस्य अबाधितत्वाच्च ''ते घटाः रूपवन्तः'' इति वाक्यस्य प्रामाण्योपपत्तिः. नच घटे सर्वाणि रूपाणि इत्यादि वाक्यस्य प्रामाण्यापपत्तिः घटत्वव्यापकत्वरूप-यावत्त्ववत्तायाः घटे अबाधितत्वाद् इति वाच्यम्, अत्र 'सर्व'पदस्य विधेयवाचकपदसमानाधिकरणत्वात् तादृश'सर्व'पदस्य च विधेयतावच्छेदकव्यापकोद्देश्य व्याप्यपर्याप्तिकधर्मावच्छिन्नवाचकत्वात्. रूपत्वव्यापकाधेयतासम्बन्धेन घटत्वव्याप्यधर्मस्य ततो बोधः. एवञ्च रूपत्वव्यापकस्य यावत्त्वस्य घटत्वव्याप्यत्वाभा-

वात् तादृशवाक्यस्य अप्रामाण्यम्. नच एवम् अननुगमः इति वाच्यं, स्वार्थान्वयितावच्छेदकधर्मव्यापकतदन्वयितावच्छेदकधर्मव्याप्यपर्याप्तिक-धर्मावच्छिन्ने 'सर्व'शब्दस्य शक्तेः विवक्षणाद् न कोऽपि दोषः इति दिक्.

[३]*यत्तु* इत्यादिना टीकाकारोक्तं गीतावचनम् उपक्रम्य *उत्तमाङ्गानां चूर्णितत्वेन ज्ञाने स्वप्नादिष्विव मायया भाविनोऽपि चूर्णितत्वस्य वर्तमानतया च ज्ञाने बाधकाभावाद्* इति उक्तं तदपि अज्ञानात्. **''केचिद् विलग्नादशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः''** (भग.गीता.११।२७) इत्यादिना अर्जुनेन भगवद्रूपस्य वर्णनं कृतं तद् यदि मायिकं स्यात् तदा तद्दर्शनार्थं **''दिव्यं ददामि ते चक्षुः''** (भग.गीता.११।८) इति वाक्योक्तदिव्यचक्षुर्दानस्य वैयर्थ्यं स्यात्. त्वन्मतसिद्धस्य श्रीकृष्ण(स्य!)मायिकरूपस्य अनेन चक्षुषा अर्जुनेन सदैव दृष्टत्वात् तद्रूपत्वात् तस्मिन् रूपे आधिक्याभावात्. तदर्थम् अपूर्वप्रयासः तस्य च अतिप्रसंशा व्यर्था स्यात्. एवञ्च तत्रैव ध्वस्तवर्तमानत्वयोः एककालावच्छेदेन दर्शनेन तत्र न विरोधनियमः. अयमेव विरोधनियमाभावः आश्रमवासिके पर्वणि गान्धारीं प्रति व्यासेन उक्तः. एतेन *तथा च उक्तम् इत्यत्र वचः किं कर्म* इति निरस्तम्.

[४]*यत्तु आश्रमवासिकेतिहासाद् युद्धे मृतानां तेषां तत्पत्न्यादीनां च अवशिष्टकर्मत्वेन व्यासप्रसादगङ्गास्नानादिभिः मायिकशरीरोत्पत्तिः स्वप्नवद्* इति प्रलपितं तदपि मन्दं, मायिकस्य व्यामोहहेतुत्वेन गङ्गास्नानव्यासप्रसादयोः व्यामोहजनकत्वापत्तिश्च स्यात्. कर्मणामपि त्वन्मते मायिकत्वाद् 'अविप्रणाशः' इति असङ्गतं मायिकस्य विनाशित्वात्. अविनाशित्वस्य सर्वकर्मनाशाभावार्थकत्वं तात्पर्यग्राहकाभावाद् न युज्यते. नित्यानित्यस्य अविच्छिन्नप्रवाहकाणि इति अर्थोऽपि त्वन्मते न सम्भवति. कर्मप्रवाहकस्य

ज्ञाननाश्यत्वाभ्युपगमाद्. *''भूतानाम् आत्मभावो यो ध्रुवो असौ सम्प्रजानताम्'' इति श्लोकस्य 'भूत'पदस्य 'आत्मभाव'पदस्य च टीकोक्तो अर्थस्तु हेयः* इत्यादिना *भूतानां जीवानाम्* इति अर्थं कुर्वन् वक्तव्यः. किमत्र 'भूत'पदं त्वन्मतसिद्धपारमार्थिकजीववाचकं व्यावहारिकजीववाचकं वा? न आद्यं, तस्य ब्रह्मरूपत्वेन जीवानाम् इति वचनस्य असङ्गत्यापत्तिः 'सम्प्रजानताम्' इति विशेषणमपि असङ्गतं व्यावर्त्याभावात्. नापि द्वितीयं, तस्य शरीरत्रितयातिरिक्तस्य वक्तुम् अशक्यत्वेन घट्टकुट्टीप्रभातन्यायेन सएव अर्थः पर्यवस्येत. ''अदर्शनाद् आपतितः'' इति श्लोके *अदर्शनाद्* इति अर्थम् उक्त्वा *तथैव(/तएव) ''अदर्शनं लोपः'', ''पश्यार्थैश्च अनालोचने'' इति पाणिनिसूत्रे सङ्गते* इति उक्तं तदपि न किञ्चित्. 'दृशे'ज्ञानसामान्यार्थकत्वाभावात्. अन्यथा वेदोदितस्वर्गविषयकशाब्दज्ञानवतिपुरुषे प्रयुक्तस्य ''अयं स्वर्गं न पश्यति'' इति वाक्यस्य अप्रामाण्यापत्तेः. ''घटं जानाति, घटं पश्यति'' इति वाक्ययोः अविलक्षणबोधजनकत्वापत्तेश्च. **''अदर्शनं लोपः''** (पाणि.सू.१।१।६०) इति सूत्रेतु उच्चारणकृतसत्ताभावपरत्वम् 'अदर्शन'शब्दस्य लक्षणया बोध्यम्. अतएव शेखरे **''ज्ञानस्य अवर्जनीयत्वेन तत्सामग्र्यन्तर्गता उच्चारण(कृता) सत्ता निषिध्यते''** (पाणि.सू.लघु.शे.१।१।६०) इति उक्तम्. किञ्च दृशेः ज्ञानसामान्यर्थकत्वेऽपि न 'अदर्शन'पदाद् मायारूपाज्ञानस्य त्वदभिमतस्य लाभः. तस्य त्वन्मते भावरूपत्वाद् ज्ञानसामान्याभावार्थकत्वेतु ''अहम् अज्ञः'' इत्याद्यनुभवस्य तत्साधकत्वेन अभ्युपगतस्य विरोधः इति अन्यत्र विस्तरः. एतेन *मायायाएव तादृशशक्तिकत्वाच्च* इत्यादिकं सर्वम् अपास्तं वेदितव्यम्.

"किञ्च तेषां यदि मायया शरीरान्तरं चेत् तैः व्यवहृतवतीनां पतिव्रतानां पातिव्रत्यहानिः दुर्वारैव. नच प्रत्यभिज्ञानाद् न दोषः इति वाच्यं, मायया जालन्धरवेशं धृतवताविष्णुना सह व्यवहृतवत्या वृन्दायाः

पातिव्रत्यहानिः तथा सति न स्यात्. तत्रापि सएव अयं मम पतिः इति प्रत्यभिज्ञायाः सत्त्वात्. नच ''व्यावहारिकात्मैक्ये सति'' इति विशेषणाद् न दोषः इति वाच्यं, पूर्वं मृतेन द्वितीयजन्मनि अवाप्तसामर्थ्येन पूर्वरूपं धृतवता पत्न्या सह विहारे पतिव्रतायाः पातिव्रत्यभङ्गानापत्तेः. तस्माद् ईश्वरेच्छायाएव नियामकत्वं न अन्यस्य कस्यापि इति. (इति एकादशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः१२ भावित्वानुपपत्तिपरिहारपूर्वकाविर्भावतिरोभाव-निष्कृष्टलक्षणप्रदर्शनम्)

[*सहस्रा. : [विद्व.]एतेन ''घटोपलम्भानुपलम्भयोः कादाचित्कत्वम् अनुपपन्नम् तादृक्(/तादृश)तद्धेतोः वक्तुम् अशक्यत्वाद्' इति निरस्तम्. लौकिकप्रत्यक्षाविषयत्वेऽपि वस्तुसत्तायाः योगिप्रत्यक्षविषयत्वं स्याद् भूतभाविनां वस्तूनाम् इत्यपि. यतः तथा तदिच्छा न तत्र चकास्ति. फलबलकल्प्या हि सा अस्तुवा तद्विषयत्वं बाधकाभावात्. उक्तप्रमाणैः वस्तुसत्त्वे सिद्धे तस्य न्यायप्राप्तत्वात् च. ''अनागतम् अतीतञ्च वर्तमानम् अतीन्द्रियं, विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः'' इति वचनाच्च. एवं सति ''अस्मिन् काले अस्मिन् देशे इदं कार्यम् एवं भवतु'' इति इच्छाविषयत्वम् आविर्भावः, ''तदा तत्र तथा तद् मा भवतु'' इति इच्छाविषयत्वं तिरोभावः इत्यपि सुवचम्. एतयोरेव उक्तयोग्यतारूपत्वात्. नच तत्तद्देश-कालयोरपि नित्यत्वाद् युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गो अनुपलम्भप्रसङ्गो वा स्याद् इति वाच्यम्, अस्मिन् सृष्टिकालात्मके स्थूले कालोपाधौ तदवयवात्मकतत्तत्कालोपाधौ क्रमिके तस्य-तस्य पुरुषस्य तत्तदुपलम्भो भवतु इति इच्छाविषयत्वस्य तत्त्वात्. अत्र एतदिच्छाप्रकारत्वापन्नानां*

तत्तद्देशकालादीनाम् आविर्भावात्मकैतदिच्छाविषयत्वाद् एतदेव आविर्भावरूपं तेषामपि इति बुद्ध्यस्व. भगवदाविर्भावस्य भगवच्छक्तित्वमिति न अनुपपत्तिः काचित्. एवं सति यत्कालावच्छेदेन सर्वेषां मिथो अनुभवाविषयत्वं भगवदभिमतं सः प्रलयकालः इति निगद्यते. यदवच्छेदेन सर्वेषां मिथो अनुभवविषयत्वं तथा सः सृष्टिकालः इति उच्यते. सर्वत्र विशिष्टेच्छैव नियामिका इति सर्वम् अनवद्यम्.

''आविर्भूय अरविन्दाक्षे भक्तिम् आविष्करोति यः।
सो अव्यान्नः पितृपद्रेणुः तिरोधानं च दुर्हृदाम्॥

(एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'एतेन घटोपलम्भानुपलम्भयोः' इत्यादि 'तिरोधानं च दुर्हृदाम्' इत्यन्तो द्वादशः खण्डः खण्डयते :

[१]तत्र लोकविरुद्ध-विविधेच्छानां फलबलेन कल्पनातो मायिकत्वकल्पना लघ्वी उचिता च बाधकाभावाद् न्यायप्राप्तत्वात् च. योगिप्रत्यक्षविषयत्वेतु उक्तयुक्त्या लौकिकप्रत्यक्षविषयत्वमपि स्यात्. 'पश्यन्ति' इति दृशिः आर्षं ज्ञानम् आह, तच्च लौकिकप्रमातिरिक्तम् इति योगशास्त्रज्ञेभ्यः शिक्षय. तदेव सम्यग्दर्शनं तच्च योगप्रसादजम्. अन्यथा अतीन्द्रियादिज्ञानस्य दुष्करत्वात्.

[२]किञ्च आविर्भावलक्षणे प्रकारार्थक-'एवं'पदं व्यर्थम्, इदं कार्यम् इति इच्छायां सप्रकारस्यैव गृहीतत्वात्. एवं तत्रत्य 'भवतु'पदार्थघटकभावस्य उत्पत्तिरूपत्वे अपसिद्धान्तव्याघातौ. आविर्भावरूपत्वे आत्माश्रयः. किञ्च इदन्त्वं दुर्निरूपम्.

किञ्च तादृशेच्छाविषयत्वस्य आविर्भावत्वे तादृशेच्छाक्षणे आविर्भावः स्याद् इच्छाविषयत्वस्य सत्त्वात्. एवञ्च कार्यात् पूर्वत्वाभावेन इच्छायाः हेतुत्वमपि न स्यात्. एवं तत्क्षणे तिरोभावोऽपि स्यात्. एवं विषयत्वमात्रस्य तिरोभावत्वे कार्येण सह देशोऽपि तिरोभवेत्. ''अत्र इदं मा भवतु'' इति इच्छा-विषयत्वस्य तत्र सत्त्वात्. ''एतयोः स्नेहो नश्यतु'' इति इच्छायां पुरुषद्वयस्यापि नाशः स्यात्. किञ्च कालादेः निर्विशेषस्य ग्रहणे युगपत्सर्वोपलम्भे 'इदं'शब्दानर्थकत्वं च इति. ''अस्मिन् सृष्टिकालात्मके'' इत्यादित्वत्प्रलपितरीत्या सविशेषग्रहणे विशेषाः. यदि नित्याः तर्हि सएव दोषः, यदि अनित्याः तर्हि अपसिद्धान्तः तद्विषयकेच्छान्तरापेक्षायाम् अनवस्था च. एवम् इच्छायाः तद्विषयत्वाभावात् तदाविर्भावार्थम् इच्छान्तरापेक्षायाम् अनवस्था. एवं प्रलयलक्षणे 'सर्व'शब्दोपादानाद् असम्भवो योगिनां त्वन्मते नित्यमुक्तानां च मिथोनुभवविषयत्वात्. तदा तेऽपि तिरोभवन्ति अतिरोभूताः वा न किञ्चिद् जानन्ति इति कल्पनेतु गौरवम्.

[३]किञ्च तदानीं ज्ञानाभावेपि अधुना ''अनागतम् अतीतञ्च'' इत्युक्तरीत्या प्रलयकालिक-पदार्थविषयकानुभव-सत्त्वात् तस्य तद्विषयत्वस्य च नित्यत्वात् प्रलयकालेऽपि सत्त्वेन असम्भवः. 'सर्व'शब्दस्य अनुपादानेतु अतिव्याप्तिः. एतेन सृष्टिलक्षणमपि प्रत्युक्तम्, अतिव्याप्तेः.

[४]तस्माद् इच्छायाः अनियामकत्वाद् मायैव नियामिका. भगवदाविर्भावेऽपि सैव. ''आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः'' इत्यत्र अनुपस्थितपदार्थान्तरस्य सम्बन्धापेक्षया

उपस्थित 'मुरवैरि' पदार्थस्यैव सम्बन्धः उचितः इति. मुरवैरिणः आविर्भावतिरोभावौ तच्छक्तिरूपौ इति अर्थः. तच्छक्तिश्च मायैव "मायिनन्तु महेश्वरम्" इति श्रुतेः. तस्याः अनेकात्मकत्वन्तु "इन्द्रो मायाभिः" इति श्रुतिसिद्धम्. तथाच आविर्भावादेः भगवद्धर्मत्वस्वीकारे न किञ्चिद् मानं, "नेह नाना अस्ति" इत्यादिश्रुतिविरोधः च.

[५]*जगतो ब्रह्माभेदेन जगद्धर्माणां ब्रह्मधर्मत्वकथनेतु अतिप्रसङ्गः. एतेन "बहु स्यां प्रजायेय" इति इच्छाद्वयम्. प्रथमा प्रकाराविषया देश-काल-पुरुषादिविषया च. द्वितीयातु प्रकारविषया 'प्र' शब्दोपादानाद् इति टीकोक्तं प्रत्युक्तम्. कालादीच्छायाः कालिकादिविषयत्वे अनवस्थाप्रसङ्गः कालाद्यानन्त्यञ्च. तस्यैव कालस्य तदाधारत्वेतु आत्माश्रयः तदविषयकत्वेतु लक्षणाव्याप्तिः. तस्माद् बहुभावप्रकारएव 'प्रजायेय' इत्यनेन उक्तःइति इयम् एकैव इच्छा. इच्छायाः एकत्वं टीकोक्तन्तु तृतीयश्लोकव्याख्यायां प्रत्युक्तम् (इति द्वादशखण्डखण्डनम्)*].

प्राभ. : अथ *लोकविरुद्धविविधेच्छानाम्* इत्यादेः द्वादशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]*फलबलेन कल्पनातो मायिकत्वकल्पना लघ्वी उचिता* इत्यादिना मायिकत्वे लाघवं न्यायप्राप्तं दोषाभावश्च उक्तः. तत्र इदं वक्तव्यं भगवदिच्छातो मायायां किं लाघवम्? यदिच इच्छा अनेकविधा मायातु एकविधा इतितु मायायाः एकविधत्वे जीवेशयोः भेदः किंकृतो येन तस्य अल्पज्ञत्वम् ईश्वरस्य च सर्वज्ञत्वम्? ननु एकैव मायाऽविद्याभेदेन

द्विविधा तथापि अनेकविधेच्छाकल्पनापेक्षया लाघवं जीवेश्वरयोः भेदश्च सिद्धः इति चेत्, तर्हि जीवोपाध्यज्ञानाद् घटावरकम् अज्ञानं भिन्नम् अभिन्नं वा? आद्ये पटावरकमपि भिन्नमेव अङ्गीकरणीयम्. अन्यथा घटाकारवृत्त्या घटावरकाज्ञाननाशे पटाद्यावरकस्यापि नाशसम्भवेन सार्वज्ञ्यापत्तिः स्यात्. तथाच प्रतिपदार्थम् अज्ञानकल्पने अनन्ताज्ञानकल्पना-गौरवं तवैव स्याद्. इच्छातु ''**बहु स्यां प्रजायेय**'' (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद् उभयमतसम्मतैवेति. द्वितीयेतु घटादिज्ञानेन घटावरकाज्ञाननाशसमकालएव जीवोपाध्यज्ञाननिवृत्तौ मोक्षप्रसङ्गः इति संक्षेपः. वस्तुसत्त्वस्य अनागतातीतकालेन अभ्युपगमे ''**अनागतम् अतीतं च वर्तमानम् अतीन्द्रियं विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः**'' (भाग.पुरा.१०।६१।२१) इति वाक्यविरोधश्च. नच तत्र आर्षज्ञानमेव *'दृशेः' अर्थः* इति वाच्यम्, अतीतानागतवस्तुनो असत्त्वे तस्य शशशृंगायमाणत्वाद् आर्षज्ञानमपि दुर्लभं स्यात्. अन्यथा योगिनां खपुष्पादिविषयकं सम्यक् ज्ञानमपि कुतो न उक्तम्? कादाचित्कसत्त्वन्तु पाटच्चरलुण्ठिते वेश्मनि यामिकजागरणम् अनुकरोति. एवञ्च सर्वदा सिद्धौ सत्याम् ''इदं कार्यम् एवं भवतु'' इति इच्छाविषयत्वमपि आविर्भावस्य लक्षणं सम्भवति.

[२]नच अत्र 'एवं'पदं निरर्थकम् ''इदं कार्यम्'' इति इच्छायां सप्रकारकस्यैव ग्रहणाद् इति शङ्कनीयम्. ''इदं कार्यम्'' इत्यत्र 'कार्य'पदस्य नित्यवस्त्वाविर्भाव-वैलक्षण्यद्योतकत्वेऽपि 'एवं'पद प्रतिपाद्यायाः कारणाव-स्थायाः तत्सामग्रीसमवधानकालाव्यवहितोत्तराविर्भूतरूपायाः ततो लाभास-म्भवेन तल्लाभार्थम् 'एवं'पदस्य आवश्यकत्वेन वैयर्थ्यासम्भवात्. ''न भवतु'' इति इच्छाविषयत्वं तिरोभावः. ननु अस्य तिरोभावलक्षणत्वे तादृशेच्छाविषयत्वस्य देशेऽपि सत्त्वेन तद्देशस्यापि तिरोभावः स्याद् इति चेद्, न, ईश्वरेच्छायां तद्देशवृत्तित्वप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वस्य

विवक्षितत्वेन तद्देशे तादृशविशेष्यत्वासत्त्वेन दोषाभावात्. एतेन *''एतयोः स्नेहो नश्यतु'' इति इच्छायां पुरुषद्वयस्यापि नाशापत्तिः* इति परास्तम्. तस्य इच्छीयतादृशविशेष्यताश्रयत्वाभावात्. ननु एवमपि आविर्भावलक्षण-घटकः कालो निर्विशेषः सविशेषो वा ? न आद्यः, युगपत्सर्वोपलम्भप्रस-ङ्गात्. नापि द्वितीयः, विशेषाणां नित्यत्वे पूर्वोक्तदोषानुद्धारो अनित्यत्वे अपसिद्धान्तः तद्विषयकेच्छान्तरकल्पने अनवस्थावस्थाप्रसङ्गः इति चेद्, मैवं, सविशेषकालविवक्षणे अनुपपत्त्यभावात्. विशेषाणां नित्यत्वेऽपि आविर्भूतानामेव 'इदं'शब्दप्रतिपाद्यत्वेन आविर्भूतविशेषणविशिष्टकालस्यैव इच्छाघटकत्वाद् न अनुपपत्तिः. नचापि अपसिद्धान्तः कारणात्मनैव नित्यत्वाभ्युपगमाद् आविर्भूतत्वविशिष्टस्य कादाचित्कत्वेऽपि न क्षतिः, अन्यथा मायावच्छिन्नस्य ईश्वरत्वेन अभिमतस्य कादाचित्कत्वे ब्रह्मणोऽपि कादाचित्कत्वं स्यात्.

[३]किञ्च सर्वस्य मायिकत्वस्वीकारेऽपि घटादीनाम् उत्पत्तिविनाशौ किम्प्रयुक्तौ ? इति वक्तव्यम्. मायाप्रयुक्तौ चेद् मायायाः ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं सत्त्वेन सततम् उत्पत्तिविनाशश्च कथं न स्यात् ? नच सामग्रीसमवधाने उत्पत्तिः नाशसामग्रीसमवधाने नाशः इति वाच्यं, सामग्रीसमवधानस्य आकस्मिकत्वे युगपदुत्पत्तिविनाशयोः प्रसङ्गो दुर्वारएव. नच अदृष्टविशेषस्य सामग्रीसमवधानप्रयोजकत्वकल्पनाद् न अनुपपत्तिः इति वाच्यं, तादृशविशेषस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. किञ्च अदृष्टस्यापि मायाहेतुकत्वे अन्तःकरणहेतुकत्वे वा तयोः तत्त्वज्ञानपर्यन्तं स्थायित्वेन अदृष्टस्यापि तत्त्वावश्यकत्वेन तत्प्रयोज्यसामग्रीसमवधानस्यापि तथात्वेन सततम् उत्पत्तिः विनाशोऽपि कथं न स्यात् ? अन्यस्य कस्यचिद् नियामकत्वकल्पने तत्रापि उक्तदोषतादवस्थ्यम् ईश्वरेच्छापर्यन्तानुधावने च त्वदुक्तादोषाः त्वामेव हन्युः. ननु अस्मन्मते सर्वस्य मायिकत्वाद् मायायाश्च अनिर्वचनीयत्वाद् अनिर्वचनीये च पूर्वपक्षो न सम्भवति, दुर्घटघटनापटीय-

स्त्वाद्. अतएव उक्तं **''विस्मयैकशरीरायाः मायायाः चोद्यरूपतो अन्वेष्यः परिहारो अस्य बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः''** (पञ्चद.६।१३९) इति मायात्वमेव निश्चेयम् इति चेत्, तर्हि निश्चिनोतु. तस्माद् अत्र न आशङ्कावकाशः इति चेद्, अचिन्त्यानन्तशक्तिके अनन्तैश्वर्यशालिनि स्वलीलया आविर्भावतिरोभावशालिनि ब्रह्मणि कथं पूर्वपक्षावकाशः ? इति. किञ्च अनिर्वचनीयत्वेन घटादिषु मायिकत्वं स्वीक्रियते चेद् ब्रह्मणोऽपि अनिर्वचनीयत्वेन मायिकत्वं कुतो न? इति वक्तव्यम्. यदिच तस्य अनिवर्चनीयत्वेऽपि **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनत्वाद् न मायिकत्वम् इति उच्यते. तर्हि **''तत् सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।८।७,६।१५।३) इत्यादि श्रुत्या जगतोऽपि सत्यत्वप्रतिपादनात् तस्यापि कथं मायिकत्वम् इति दिक्.

[४]एतेन *तस्माद् इच्छायाः अनियामकत्वाद् मायैव नियामिका* इत्यादिकम् अपास्तम्.

[५]यच्च *जगतो ब्रह्माभेदेन जगद्धर्माणां ब्रह्मधर्मत्वकल्पनेतु अतिप्रसङ्गः* इति उक्तम्. तदपि न किञ्चित् तत्तद्रूपेण आविर्भूतब्रह्मणि तत्तद्धर्मस्य तत्प्रतीतेश्च इष्टत्वात्. यदपि *टीकोक्तम् इच्छायां द्वैविध्यम्* अनूद्य *कालादीच्छायाः कालादिविषयत्वे अनवस्थाप्रसङ्गः कालाद्यानन्त्यञ्च*, इत्यादि दोषम् उद्भावयित्वा *तस्माद् बहुभावप्रकारएव 'प्रजायेय' इत्यादिना प्रतिपादितः* इति उक्तं तदपि न साधीयः बहुभवनप्रकारकेच्छायां बहुत्वेनैव भवनं विवक्षितं तत्तद्धर्मेण वा आद्ये त्रितयपदार्थोत्पत्त्यैव तद्विषयसिद्धौ इतरपदार्थानुत्पत्त्यापत्तिः. द्वितीयेतु तत्तद्रूपेण विषयत्वस्वीकारे पूर्वोक्तापत्त्य-भावेऽपि तादृशविषयत्वं कालिकाव्याप्यवृत्तित्वं त्वयापि अवश्यं स्वीकार्यम्. अन्यथा पदार्थानां सर्वदा उत्पत्तिप्रसङ्गः. तथाच कालविषयतायाः

कालावच्छिन्नत्वविषयावच्छेदकयोः भेदस्वीकारे अनवस्था, भेदास्वीकारेतु आत्माश्रयः. एवञ्च ईदृशदूषणगणग्रस्तं स्वपक्षम् अदृष्ट्वा प्रलपन्निग्रहस्थानं प्राप्तः उपेक्षणीयः. जगन्नित्यत्वन्तु विष्णुपुराणेऽपि प्रतिपादितं *''**तद् एतद् अक्षरं/अव्ययं नित्यं जगद्, मुनिवर!, अखिलम् आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवद्**'' (विष्णुपुरा.१।२२।५९) इति. ''**असत्यम् अप्रतिष्ठं ते जगद् आहुः अनीश्वरम्**'' (भग.गीता,१६।८) इत्यादिना मिथ्यात्वस्वीकारे निन्दाश्रवणात् च इति बोध्यम्. (इति द्वादशखण्डखण्डानाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्)

---

*पा.टि. तदिह श्रीधरस्वामिनापि ''**तद् एतद् जगद् वस्तुतो अक्षरं न्यूनाधिकत्वशून्यं नित्यं च ब्रह्मैव इति अर्थः**'' (विष्णुपुरा.श्रीधरी.१।२२।५९) इत्यत्र ब्रह्मणः क्षराक्षररूपं द्वैविध्यं निरूप्य क्षरब्रह्मणि आविर्भाव-तिरोभावौ जन्मनाशौ च अज्ञानोपाधिकृतविकल्परूपौ इति निरूप्य अक्षरोपादानकम् अक्षरांशरूपत्वाद् वस्तुतस्तु अक्षरात्मकमेव इति यद् गदितं तत् ''**सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्तः उपासीत**'' (छान्दो.उप.३।१४।१) इति श्रुतिप्रतिपादिताशयरूपम्. तत्पुनः ''**जन्माद्यस्य यतः**'' (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रे सूत्रकृता महर्षिणापि न उपासनायै किमुत जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणतया उपोद्बलितञ्चापि इति ज्ञेयम्. अन्यथा मिथ्यालक्षणत्वे जिज्ञासोपशमाभावप्रसङ्गापत्तेः. विश्वोत्पत्तिस्थितिलयाद्यभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वं जिज्ञास्यब्रह्मणो लक्षणतया न अङ्गीक्रियते चेद् अथ शबलस्य ब्रह्मणः उपास्यस्य वा स्वीक्रियते चेत् तदा ''**शास्त्रयोनित्वाद्**'' (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रोक्तं शास्त्रप्रमाणकत्वमपि शबलोपास्ययोरेव वा सिद्धचेद् नतु जिज्ञास्यस्येति लक्षणप्रमाणविहीनं खपुष्पवदेव जिज्ञास्यं ब्रह्म अवतिष्ठेत्. यदितु ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**'' (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुत्युक्तमेव लक्षणकं जिज्ञास्यं ब्रह्म अभिप्रेयते चेद् तदा ''घट्टकुट्यां प्रभात''न्यायेन जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणः आकाशादिभूतभौतिकोपादानत्वं सर्वान्तःस्थित्या च सर्वेभ्यः आकाशप्रदत्वम् अन्तर्यामित्वादयो धर्माः च कुतो न तद् शुद्धं शबलीकुर्युः? अतः

क्षराक्षरभावरूपे तद्विभागे क्षरभावस्तु बहुभवनेच्छाप्रयुक्तः तत्तद्देशकालस्वरूप-पारमार्थिकपरिच्छेदस्तु भगवदिच्छौपाधिकोऽपि सन् भगवतश्च या अविद्याख्या शक्तिः सा जीवात्मानं भगवदिच्छाप्रयुक्तत्वबोधासमर्थं कुर्वन्तीति तद्व्यामोहितो जीवो जन्मनाशात्यन्तिकभेदवत्क्षरभावं मनुते. येनच सत्कारणसत्कार्यवादोपबृंहकौ आविर्भावतिरोभावावपि स्वार्थात् प्रचाव्य न्यूनाधिकतया व्याख्यानपरो भवति. अतः सा चैतादृशी मतिरेव जीवात्मनः ह्यविद्यकी नतु भगवदिच्छाप्रयुक्तो देशकालस्वरूपपरिच्छेदः आविद्यकः इति श्रुत्युपबृंहकं विष्णुपुराणवचनं च इदं व्याख्यातम् इत्थमेव श्रीधरस्वामिभिरपि. अन्यथाव्याख्याने श्रुत्युपबृंहकवचन-मेव अन्यथाकृतं भवेदिति. यस्माद् शंकरभगवत्पादैरपि ''**न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन दधिभावापत्तिवद् विराट् सर्वोपमर्देन एतावान् आस, किन्तर्हि आत्मना व्यवस्थितस्यैव विराजः सत्यसङ्कल्पत्वाद् आत्मव्यतिरिक्तं स्त्रीपुंसपरिष्वक्त-परिमाणं शरीरान्तरं बभूव... तद् एवंभूतं जगद् अव्याकृतं सद् नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत. व्याक्रियतेति कर्मकर्तृप्रयोगात् स्वयमेव आत्मैव व्याक्रियेत**'' (बृह.उप.शां.भा.१।४।३-७) इति कण्ठतो अभ्युपगतत्वादेव तदनुसरणं श्रीधरस्वामिनामपि. तदेतत् पञ्चदशीकारोऽपि '' '**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने**' **इति श्रुतिः** '**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्**' **इति च श्रुतिः जगद्योनिः भवेद् एष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः आविर्भावतिरोभावौ उत्पत्तिप्रलयौ मतौ, आविर्भावयति स्वस्मिन् विलीनं सकलं जगत् प्राणिकर्मवशाद् एष पटो यद्वत् प्रसारितः पुनः तिरोभावयति स्वात्मन्येव अखिलं जगत्**'' (पञ्चद.६।१८१-१८४) स्वीकरोति सहस्राक्षस्तु सहस्रदर्शकोऽपि सन् न प्राभवद् एतद् द्रष्टुम् किमतः चित्रम्! (सम्पा.).

(खण्ड:१३. क. क्रमिकदेशकालनित्यत्वमूलकसर्वोपलम्भापत्तितत्परिहारौ
ख. महावाक्यार्थनिरूपणम्)

[*सहस्रा. : [विद्व.]ननु तत्तद्देश-कालयोरपि नित्यत्वाद् युगपत्सकलोपलम्भप्रसङ्गो अनुपलम्भप्रसङ्गः च स्याद् इति चेद्, ननु तत्तद्देशकालावच्छिन्नततत्पुरुषवत् तत्तद्व्यवहाराव्यवहारावपि स्तएवेति किम् अनुपपन्नम्? तर्हि तौ अधुनापि उपलभ्येताम् इति चेद्, मैवम् अनुपलम्भावच्छेदककालावच्छिन्नत्वात् पुंसां तदनुपलम्भात्, तत्तत्कालस्य भिन्नत्वात् तत्तदवच्छिन्नपुरुषस्यापि भिन्नत्वाद् युगपत्सत्त्वाच्च तदुपलम्भानुपलम्भयोः युगपत्सत्त्वं न विरुद्धम्. नच यो अहं पूर्वं घटम् अन्वभूवं सएव अहम् अधुना न अनुभवामि इति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वेन तस्य च एकत्वेन तदुपपत्तेः. नच एवम् अतिप्रसङ्गः. उपलम्भानुपलम्भयोरपि ब्रह्मात्मकत्वात्. स्वेच्छया यत्र यदुपलम्भरूपेण आविर्भवति तत्र तथा यत्र च यदनुपलम्भरूपेण आविर्भवति तत्र तथा इति नियमात्. यथा पृथिव्यामेव गन्धरूपेण आविर्भावो न जलादिषु. अतएव आचार्यैः श्रीभागवततत्त्वदीपे "अथवा सर्वरूपत्वाद् नाम-लीलाविभेदतः, विरुद्धांशपरित्यागात् प्रमाणं सर्वमेवहि" इति निरूपितम्. ब्रह्मणः सर्वरूपत्वेन अनुष्णत्वरूपत्वेनापि "वह्निः अनुष्णः" इत्यादि वाक्यान्यपि प्रमाणानि. कुतः? यतः सर्वत्र अखण्डब्रह्मभानेन विरोधांशास्फूर्त्या विरोधांशः त्यक्तएव इति वाक्यार्थः. अतएव पूर्वमेव "वाचारम्भणं विकारः" इति निरूपितम्. ततः पूर्वोत्तरयोः जड-जीवयोः सदात्मकत्वे मध्ये हेतुम् आह "स आत्मा" इति. एवं जडस्य तदात्मकत्वम् उक्त्वा जीवस्यापि आह "तत् त्वम् असि" इति. अस्य उपदेशत्वाद् मुहुः उक्तवान्.*

''आवृत्तिः असकृदुपदेशाद्'' इति ब्रह्मसूत्रात्. अतः सम्पूर्णं महावाक्यम् उपदेशः. तत्र यथा 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथा ''तत् त्वम् असि'' इत्यत्र चिदंशेऽपि न सा इति अवगन्तव्यम्. तथाच सर्वस्यैव ब्रह्मवाक्यत्वात् तदेकदेशएव ''तत् त्वम् असि'' इति वाक्यं जीव-ब्रह्मणोः अभेदं बोधयति इति न वक्तुं शक्यं, वाक्यभेदप्रसङ्गाद् उपक्रम-विरोधात् च. अपरश्च, त्वन्मते जीवस्य आभासत्वेन अलीकत्वात् ''स आत्मा'' इत्यन्तेन 'तत्'पदार्थं निरूप्य ''न त्वम् असि'' इत्येव वदेद् नतु ''तत् त्वम् असि'' इति. सत्तावाचकधातोः मध्यम-पुरुष-प्रयोगानुपपत्तिश्च. (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षो-द्धृतः).

अथ 'ननु तत्तद्देश-कालयोरपि' इत्यादिः 'प्रयोगानुपपत्तिश्च' इत्यन्तः त्रयोदशः खण्डः खण्डचते :

[१]तत्र तत्तत्काल-भेदं पुरुषे आरोप्य उपलम्भाद्यभावसमर्पणतो वरं घटादेः अनित्यत्वकल्पनमेव. कार्य-सामग्र्यनुपयुक्तेन उपाधिना कार्यवैलक्षण्ये कुण्डलिनो देवदत्तस्य उपलम्भे दण्डिनः तस्य अनुपलम्भ-प्रसङ्गाद् उपलम्भादेः नित्यत्वेन दोषतादव-स्थ्याच्च.

[२]किञ्च परस्परम् ईशेन च सर्वाभेदवादिनः ते कथं कालभेदः ? कथञ्च उपलम्भानुपलम्भादेः युगपत्सत्त्वं प्रमाणविरुद्धं त्वं मनुषे ? स्वगुरूक्त्या विरोधमात्रापलापेतु वैनाशिकाद्युक्तमपि किं न अङ्गीकरोषि ? श्रुत्यादेः प्रामाण्येऽपि अप्रामाण्यकथने तव भीतेः अभावात्. कथञ्च व्याससूत्राणि

तत्तन्मतदूषणपराणि सङ्गतानि ? प्रमाणविरोधेऽपि सर्वेषां मतानां सुस्थत्वात्. एतेन त्वद्-गुर्वादिग्रन्थाः त्वत्कथाः च व्याख्याताः. ''वह्निः अनुष्णः'' इति एतादृशवाक्यस्य सुस्थत्वे इतरत्र तदभावस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. किञ्च ''ईश्वरः सर्वम्'' इतिवा, ''नास्ति किञ्चिद्'' इतिवा उक्त्वा विरमस्व, प्रमाण-विरोधस्य अकिञ्चित्करत्वात्. तथापि परेण दूषणाभिधाने 'ईश्वरेच्छा !' इति उक्त्वैव सर्वत्र विरमस्व. किञ्च ईश्वरेच्छया अतिप्रसङ्गवारणे '''सर्वं सर्वस्य कारणम्'' इति अङ्गीक्रियतां, कुलालादितः पटादिरूपेण आविर्भावरूपातिप्रसङ्गस्य भगवदिच्छाभावेन वारयितुं शक्यत्वात्. यत्तु ''ईश्वरेच्छायाएव नित्यकार्यव्यवहारनियामकत्वं'' तट्टीकाकारेण उक्तं, तद् न, तथापि सर्वस्य सर्वात्मकत्वेन अतिव्याप्तेः अनिवृत्तेः. ''इदं जडत्वेन व्यवहार्यम् इदं न'' इति इच्छयैव अतिप्रसङ्गवारणात् तत्तल्लक्षणप्रणयनवैयर्थ्यापत्तेः च. अथापि ग्रन्थविस्तारादिव्यसनाक्रान्ततया तत्प्रणयनं तर्हि अतिव्याप्तिः उक्तैव. सर्वेषां धर्माणां सर्वाभेदस्य च ब्रह्मणि सत्त्वात्. तस्याः अदोषत्वेतु परेणाऽपि यत्किञ्चिद् वस्तुत्वादिलक्षणम् उक्त्वा जीयेत. सर्वेषां नाम्नां प्रमाणानां च अतिप्रसङ्गे स्वगुरुवाक्येन इष्टापत्तिं स्वीकुर्वन् तट्टीकाकारोऽपि एवं परास्तः.

[३] 'वाचारम्भणम्' इति श्रुत्यर्थः प्राग् उक्तः. 'ऐतदात्म्यम्' इत्यस्य जडमात्रपरत्वं च दूषितम्. 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्रापि लक्षणा अस्त्येव सविशेषनिर्विशेषयोः विरोधेन ऐक्यासम्भवात्. नहि वयं त्वद्गुरुवत् ''क्वापि विरोधो न'' इति ब्रुवन्तो न जिह्रीमो, ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यस्य श्रूयमाणे अर्थे प्रामाण्यप्रसङ्गाद् यजमानस्य वह्नौ प्रक्षेपप्रसङ्गात् च.

ब्रह्महत्यादिकरणे अस्मिन्नपि इच्छया प्रवृत्तिः अस्त्येव इति उक्तौतु उत्तरं प्राग् उक्तम्.

[४]नच 'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्र तथा लक्षणायां 'सर्व'पद-'ऐतदात्म्य'पदयोः अन्यतरवैयर्थ्यम् एकलक्षणयैव निर्वाहाद् इति टीकोक्तदोषप्रसङ्गः इति वाच्यं, 'सत्'-'सर्व'योः परिचयार्थम् उपयोगात्. नच एकस्मिन् महाप्रकरणे एकत्र वाक्ये लक्षणाभावे वाक्यान्तरेऽपि सा नास्ति इति नियमः, फलप्रमाणयोः अभावात्. 'वायव्यम्' इत्यत्र तदभावेन 'वायुः वै' इत्यादावपि तदभावप्रसङ्गात् च. किञ्च त्रयोविंशखण्डे वक्ष्यमाणेन ''तत् त्वम् असि'' इत्यस्य औपचारिकाभेदबोधकत्वपरेण स्वग्रन्थेन विरोधः. नहि अस्मिन् प्रकरणे औपचारिकार्थानि वाक्यानि त्वदभिमतानि. किञ्च अत्र अस्माकं न लक्षणा किन्तु विशेषणरूपस्य भागस्य त्यागेन लक्षणासादृश्येन च भागत्यागलक्षणया व्यवहारः इति अन्यत्र विस्तरः. ''तत् त्वम् असि'' इत्यस्य सर्वेण प्रकरणेन पदैकवाक्यतापि अमूलासङ्गता च वाक्यैकवाक्यतातु सङ्गतैव. एवञ्च ''तत् त्वम् असि'' इत्यस्य प्रकरणेन वाक्यैकवाक्यत्वेऽपि पृथग्वाक्यार्थसत्त्वेन प्रकृतस्य अभेदस्य बोधने न कोऽपि विरोधः इति जडांशे विवर्तवादो युक्तएव. चिदंशेतु न तदुपयोगः इति जीवस्य न अलीकत्वम् इति उक्तं 'मायायाम्' (सह.१।८) इत्यस्य श्लोकस्य व्याख्याने. ततो ''न त्वम् असि'' इति कथनोपालम्भो न युक्तः. तथाच ''हेयत्वावचनाच्च'' इत्यस्य न असङ्गतिः इति तट्टीकोक्ततदसङ्गतिदोषो अकिञ्चित्करः.

[५]''तुष्यतु दुर्जनः'' इति न्यायेनापि उच्यते : कः तस्य

अर्थः सत्ताभावस्य तिङर्थे अन्वयबोधनं न सम्भवति, तयोः सम्बन्धस्य वृत्त्यनियामकत्वात् तदनियामकस्य च प्रतियोगितान-वच्छेदकत्वात्, तिङर्थस्य अलीके 'त्वम'र्थे अयोगात् च. नापि तिङर्थाभावः 'त्वम'र्थे बोधयितुं शक्यः, तुच्छत्वेन अनुयोग्यप्रसिद्धेः, नापि 'त्वम'र्थाभावो अन्यत्र प्रतियोग्यप्रसिद्धेः. तस्माद् ''न त्वम् असि'' इत्यस्य अर्थासङ्गतिः. आभासस्य अलीकत्वे मानाभावात् च. मध्यमपुरुषानुपपत्तिकथनन्तु ''युष्मद् उपपदे'' इति पाणिनीयसूत्रार्थाज्ञानात्. तेनहि 'युष्मत्'पदसामाना-धिकरण्ये मध्यमपुरुषो विधीयते नतु 'युष्मत्'पदार्थस्य सत्यत्वे. तन्मिथ्यात्वे त्वदारोपिते तदीयसत्यत्वाप्रसिद्धेः च. त्वन्मते यथा अनुपपत्तिः तथा अग्रे वक्ष्यते (इति त्रयोदशखण्डखण्डन-म्)].

प्राभ. : अथ त्रयोदशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र घटादेः अनित्यत्वस्य बहुशो दूषितत्वात् पूर्वोक्तपुराणविरुद्ध-त्वात् च. *तत्कालभेदं पुरुषे आरोप्य उपलम्भाद्यभावसमर्पणतो वरं घटादेः अनित्यत्वकल्पनमेव* इति कथनम् असङ्गतम्. यत्तु *कार्यसामग्र्यनुपयुक्तेन उपाधिना कार्यवैलक्षण्ये कुण्डलिनो देवदत्तस्य उपलम्भे दण्डिनः तस्य अनुपलम्भप्रसङ्गाद्* इति उक्तं, तद् अतिमन्दं, तत्र 'कार्य'पदेन यत्किञ्चित् कार्यं विवक्षितम्? कार्यत्वावछिन्नं वा? न आद्यः कार्यवैलक्षण्याभावप्रस-ङ्गात्, सर्वस्यैव उपाधेः यत्किञ्चित् कार्यानुपयुक्तत्वात्. द्वितीयेतु आपाद्याप्रसिद्धिः, कार्यमात्रानुपयुक्तोपाधेः अप्रसिद्धेः. पारिमाण्डल्यादेरपि स्वप्रत्यक्षोपयोगित्वात् तत्तत्कार्यानुपयुक्तत्वविवक्षणेऽपि आपाद्ये दण्डकुण्ड-लादौ विशेषणत्वम् उपलक्षणत्वं वा. आद्ये कुण्डलादीनां विशिष्टोपलम्भानु-पयोगित्वे न आपादकाभावादेव आपत्त्यभावः. द्वितीयेतु आपादकः

आपाद्यव्याप्यत्वाभावाद् आपाद्यव्याप्यापादकवत्ताज्ञानरूपस्य आपत्तिहेतोः अभावादेव आपत्तिः न सम्भवति. किञ्च कालस्य कार्यसामग्र्यन्तर्गतत्वे कार्यसामग्र्यानुपयुक्तत्वमेव न सम्भवतीति न किञ्चिद् एतत्. उपलम्भानुपलम्भयोः कालभेदेनैव पुरुषभेदेन सत्त्वन्तु सर्वप्रमाणसिद्धं शिष्टसम्मतं च.

[२]किञ्च त्वमपि यथा तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः ज्ञानाज्ञानरूपयोः जडचेतनयोः परस्परात्मकत्वं मनुषे स्वदुरुक्त्या तथा सर्वत्र विरोधाभावं कुतो न अङ्गीकरोषि? तव स्वगुरूक्तौ अविश्वासश्च इति किमर्थं मायिकत्वम् असत्त्वं वा सर्वस्य स्वीकुरुषे? ''ईश्वरः सर्वम्'इति तव सम्मतम्. तथाच *किञ्च ईश्वरः सर्वम्* इति उक्त्वा *'विरमस्व'* इति दोषस्तु इष्टापत्तिपराहतः. *नास्ति किञ्चिदिति... सर्वं सर्वस्य कारणम्* इत्यादिस्वीकारस्तु मिथ्यावादिनां मते एव युज्यते. *सर्वं मिथ्या* इति उक्त्वा *सर्वम् अनिवर्चनीयम्* इति उक्त्वा वा सकलदोषपरिहारसम्भवात्. ग्रन्थगौरवम् अनेकग्रन्थप्रणयनं च त्वन्मतानुसारिणि व्यर्थमेव.

[३]यत्तु *'ऐतदात्म्यम्' इत्यत्रापि लक्षणा अस्त्येव सविशेषनिर्विशेषयोः विरोधेन ऐक्यासम्भवाद्, नहि वयं त्वद्गुरूक्तावपि ''विरोधो न'' इति ब्रुवन्तो न जिह्रीमो, ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यस्य श्रूयमाणे अर्थे प्रामाण्यप्रसङ्गाद्* इत्यादि प्रलपितं तदपि तुच्छम्, ''**ऐतदात्म्यम्**...'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यत्र लक्षणायां मानाभावात्. अस्य अर्थस्तु पूर्वमेव विवृत्तः. निर्विशेषसविशेषयोः भेदेतु ''**एकमेव अद्वितीयम्**'' (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुतिविरोधः. ननु श्रुतौ पारमार्थिकाभेदएव उक्तो निर्विशेषसविशेषयोस्तु व्यावहारिकभेदएव स्वीक्रियते इति कथं विरोधः? इति चेत्, तर्हि भेदस्य व्यावहारिकत्वम् आश्रयव्यावहारिकत्वं विना अनुपपन्नमिति तदाश्रययोः निर्विशेषसविशेषयोः व्यावहारिकत्वस्वीकारे व्यावहारिकस्य

च त्वन्मते मिथ्यात्वात् तयोरपि मिथ्यात्वापत्तिः. यदितु एकतरमिथ्यात्वेऽपि भेदस्य व्यावहारिकत्वोपपत्तेः सविशेषब्रह्मणएव मिथ्यात्वं न निर्विशेषस्य इति उच्यते, तदा तयोः विरोधोऽपि व्यावहारिकत्वाद् मिथ्यैव त्वया स्वीकर्तव्यः. तथाच ब्रह्मणः तन्निष्ठविरोधस्य च मिथ्यात्वं ब्रुवन् कथं न जिह्रेषि? त्रैकालिकनिषेधं ब्रुवतो न लज्जा, केवलनिषेधकथनेतु लज्जेति अद्भुतम्. एवं "**यजमानः प्रस्तरः**" (तैत्ति.संहि.१।७।४।४, जै.न्या.मा.१।१३।३८) इत्यादावपि तत्सिद्धिसूत्रे "**अर्थभेदाद् अनामत्वम्**" (जै.न्या.मा.१।१३।४०) इत्यादिना प्रतिपादितस्य अर्थभेदस्य त्वन्मते कालत्रयेऽपि सत्त्वेन श्रूयमाणे अर्थे श्रुतेः प्रामाण्यं कुतो न स्यात्? प्रस्तरयजमानयोः उभयोरपि मिथ्यात्वाविशेषेण यजमानस्यैव तस्य वह्नौ प्रक्षेपः कुतो न स्याद्? इति वृथैव तव अयं प्रयासः. नरकादावपि मिथ्यात्वज्ञानेन ब्रह्महत्यादावपि प्रवृत्तिः त्वन्मते एव सङ्गच्छते.

[४] यच्च *"ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्" इत्यादौ लक्षणा अस्त्येव* इति उक्त्वा *नच एकस्मिन् महाप्रकरणे एकत्र वाक्ये लक्षणाभावे पदान्तरेऽपि सा नास्ति इति नियमः* इत्यादि उक्तं तद् मन्दम्. "**ऐतदात्म्यम्**" इत्यत्र वाच्यार्थेनैव पूर्वोक्तस्य एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य प्रकृतस्य सिद्धौ तत्र अन्वयानुपपत्तितात्पर्यानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजस्य अभावाद् मुख्यार्थबाधादीनां च अभावाद् लक्षणा न स्वीक्रियते किन्तु पूर्वोक्तन्यायेन शक्तिरेवेति न तत्र तादृशनियमानुसारेण किञ्चिदपि उक्तम्. तात्पर्यानुपपत्त्यादिसत्त्वे च एकस्मिन्नपि प्रकरणे लक्षणा तदभावयोः वृत्तौ विरोधाभावात्. किञ्च एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमपि सर्वस्य कारणावस्थाविशेषरूपत्वएव सङ्गच्छते नतु कार्यस्य मिथ्यात्वे. तत्र कार्यस्यैव अभावेन कस्य ज्ञानम् एवञ्च उपक्रमविरोधः सर्वस्यैव ब्रह्मप्रतिपादकस्य प्रपाठकस्य एकदेशे लक्षणया तत्प्रतिपादकत्वकथनं न युक्तिसहम्. नच ब्रह्मणो "**यतो वाचो निवर्तन्ते**" (तैत्ति.उप.२।४)

इत्यादिना वागाद्यगोचरत्वप्रतिपादनाद् लक्षणा स्वीक्रियते इति वाच्यं, तर्हि सकलप्रपाठकस्य लक्षणाया: उचितत्वेन एकदेशे तत्कथने न्यूनताया: दुर्वारत्वात्. ''**वायव्यं श्वेतम् आलभेद्**'' (तैत्ति.संहि.२।१।१) इत्यत्रतु ''**वायु: वै क्षेपिष्ठा**'' (तैत्ति.संहि.२।१।१) इति वाक्यस्य स्वार्थपरत्वे ''**आम्नायस्य...**'' (जैमि.सू.१।२।१) इत्यादिसूत्रोक्तन्यायेन आनर्थक्या-पत्त्या विधिवाक्येन पदैकवाक्यत्वार्थं सकलवाक्यस्य लिङ्गत्वांशप्रतिपाद्यश-ब्दभावनायाम् इतिकर्तव्यतात्वेन अन्वययोग्यप्राशस्त्ये लक्षणा स्वीक्रियते. तत्र मीमांसकानां मते यथा विधिवाक्यस्यैव शाब्दबोधजनकत्वं न अर्थवादानाम् इति नियम: तथा त्वन्मतेऽपि चेत् स्यात् तदा ''**तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप.६।८।७) इत्यादिवाक्यानाम् आनर्थक्यभिया एकदेशे लक्षणा स्याद्, नतु एवम् अस्ति, सर्वस्मिन् प्रपाठके फलभावनाबोधकस्य तादृशवाक्यस्य अभाववत् सर्वस्य महावाक्यस्य अबोधकत्वं स्याद्, अपसिद्धान्तश्च तथास्वीकारे स्यात्. शारीरकभाष्ये सिद्धार्थप्रतिपादकानामपि स्वार्थे प्रामाण्यस्य शंकराचार्यै: सिद्धान्तितत्वात्. तस्मात् तादृशोपष्टम्भकदर्शनम् अज्ञानादेव इति आस्तां विस्तर:. तादृशनियमास्वीकारादेव च *किञ्च* इत्यादिकम् अपास्तम्. सर्वग्रन्थेषु ''सो अयं देवदत्त:'' इत्यादिवत् ''**तत् त्वम् असि**'' इत्यादिवाक्येषु लक्षणाया: प्रतिपादितत्वेन *किञ्च अस्माकं न लक्षण:* इत्यादिना अपह्नवस्तु तत्तद्ग्रन्थानवलोकनमूलकएव. लक्षणायामपि लक्षणाव्यवहारस्य औपचारि-कत्वे तस्य मुख्यत्वं कुत्रापि न स्यात्. ''**तत् त्वम् असि**'' इत्यादिपदैकवाक्यतातु अनभ्युपगमपरास्ता. जडांशे विवर्तवादबोधने चिदंशे प्रकृताभेदबोधने च वाक्यभेद: स्यात्. किञ्च जडांशे विवर्तवादो यदि श्रुत्यभिप्रेत: स्यात् तदा तत्प्रकरणे ''तत् सत्यम्'' इति न ब्रूयात्, ''तद् मिथ्या'' इत्येव ब्रूयात्. ब्रह्मणो अन्यत्र ''**आत्मैव इदं सर्वं**'' (छान्दो.उप.७।२५।२) ''**ब्रह्मैव इदं सर्वम्**'' (नृ.उ.ता.उप.७।३) इत्यत्र ''मिथ्या इदं सर्वम्'' इत्येव वदेत्. तस्मात् सर्वस्य ब्रह्मरूपतैव

श्रुतिसम्मता. साच अविकृतस्यैव ब्रह्मणः सर्वरूपत्वे घटते. यदिच तत्प्रकरणे सर्वस्य मिथ्यात्वं सम्मतं तदा तन्निषेधमुखेनैव उपसंहारे ''**'न'इति, 'न'इति**'' (बृह.उप.२।३।६) इति न्यायेन ''न त्वम् असि'' इत्येव बोधयितुम् उचितं नतु ''तत् त्वम् असि'' इति.

''यत्तु *कः तस्य अर्थः सत्ताभावस्य तिङर्थे अन्वयबोधनं न सम्भवति वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य अभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वाद्* इति उक्तं तदपि न किञ्चिद्, वृत्त्यनियामकसम्बन्धस्य अभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वे क्षतिविरहात्. नच जनकत्वस्वत्वसामानाधिकरण्यादिसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावानाम् अतिरिक्तत्वकल्पने गौरवमेव बाधकम् इति वाच्यं, ''जनकत्वं नास्ति, स्वत्वं नास्ति'' इत्यादिप्रतीत्यनुरोधेन जनकत्वस्वत्वाद्यभावस्य सर्वमतसिद्धतया तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यापि तत्समनियतत्वेन समनियतानाम् अभावानां च एकत्वेन गौरवानवकाशात्. अतएव ''राज्ञः पुरुषः'' इत्यादौ स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नराजत्वावच्छिन्नप्रकारकबोधस्वीकारे नञा विरहितस्थले येन सम्बन्धेन यद्वत्त्वं यादृशस्थले बोध्यते नञ्समभिव्याहारे तत्र तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावस्यैव बोधः इति नियमानुरोधेन ''पुरुषो न राज्ञः'' इत्यत्र स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाप्रसिद्धचा तादृशवाक्यस्य अप्रामाण्यापत्तिरूपदूषणे अनिर्भरं कृत्वा ''राजस्वत्वाभाववान् पुरुषः सुन्दरः'' इत्यादिविशिष्ट-वैशिष्ट्यावगाहि प्रत्यक्षं प्रति सत्त्वसंसर्गकशाब्दबोधसामग्याः प्रतिबन्धकत्वकल्पनागौरवपर्यन्तानुधावनमपि भट्टाचार्याणां सङ्गच्छते. *तिङर्थस्य अलीके 'त्वम'र्थे अन्वयबोधायोगाद्* इति उक्तिस्तु ''जीवस्य न अलीकत्वम्'' इति पूर्वोक्तिविरुद्धा. एवञ्च पूर्वापरानालोचनमूलत्वाद् उन्मत्तप्रलपितम् इदम्. किञ्च जीवस्य अलीकत्वे 'त्वं'पदार्थे 'तत्'पदार्थस्य अभेदप्रतिपादने बाधः, सदलीकयोः अभेदासम्भवात्. तत्त्वेच सत्त्वस्य पारिभाषिकत्वापत्तिः, अतएव *नापि तिङर्थाभावः 'त्वम'र्थे*

बोधयितुं शक्यः, तुच्छत्वेन अनुयोग्यप्रसिद्धेः इति उक्तिरपि असङ्गता, **''अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे ज्ञानं शब्दं करोति हि''**(श्लो.वार्ति.१।१।२।६) इति न्यायेन तादृशबोधे बाधकाभावाद्. इतरथा **''न असद् आसीद्''** (ऋक्.संहि.१०।१२९।१) इत्यत्र अन्वयबोधानुपपत्तिः, 'असच्'छब्दवाच्यस्य तुच्छस्य अभावानुयोगित्वासम्भवात्. तस्माद् ''न त्वम् असि'' इत्येव स्यात्. यत्तु *मध्यमपुरुषानुपपत्तिकथनन्तु ''युष्मदि उपपदे...'' इति पाणिनीयसूत्रार्थाज्ञानात्. तेनहि 'युष्मत्'पदसामानाधिकरण्ये मध्यमपुरुषो विधीयते नतु 'युष्मत्'पदार्थसत्यत्वे* इति उक्तं, तत् तुच्छं, यतो 'युष्मत्'पदे तत्सामानाधिकरण्यंहि 'युष्मद्'इति तिङ्वाच्यकारकवाचकत्वम्. अतएव उक्तं **''तिङ्वाच्यकारकवाचिनि''** (पाणि.सू.सि.कौ.१।४।१०५) इति, शेखरेच **''सामानाधिकरण्यम् एकार्थबोधकत्वम्''** (बृ.श.शे.३.भ्वादि) इति उक्तम्. **'''ल'बोध्यार्थेन समानाधिकरण'युष्मद'र्थबोधकशब्दे उपपदे''** ( ) इति व्याख्यातम्. **''युष्मदश्च अलिङ्गताच्च न एकविषयत्वाद्''** ( ) इति उक्तम्. तिङ्वाच्यस्य धात्वर्थकर्तुः सत्ताश्रयस्य 'युष्मच्'छब्दवाच्यालीकेन सामानाधिकरण्यासम्भवाद् 'युष्मच्-'छब्दस्य समानाधिकरणत्वानुपपत्त्या मध्यमस्य अनुपपत्तिः, *अलीके सत्ताश्रयाभेदस्य बाधितत्वाद् 'युष्मत्'पदसामानाधिकरण्ये मध्यमपुरुषो अभिधीयते* इति उक्तिस्तु **''युष्मदर्थेन यत्र लान्तस्य सामानाधिकरण्यं तत्र मध्यमः''** (महाभा.प्रदी.१।४।१०४) इति कैयटोक्त्यननुसन्धानमूलकैव. किञ्च **''प्रत्यक्त्वापरभावश्चाप्युपाधी कर्तृकर्मणोः तयोः श्रुतिविशेषेण वाचकौ मध्यमोत्तमौ''** (वा.प.पु.स.१) इति हरिकारिकानुरोधेन प्रयोक्त्रहङ्कारानास्पदचेतनस्य मध्यमवाच्यस्य *अलीकत्वे मिथ्यात्वे वा चिदंशेन विवर्तवादः* इति पूर्वोक्तिविरोधः. इति अलं विस्तरेण (इति त्रयोदशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्शनम्).

[सहस्रा. : विद्र. किञ्च ''अविद्यया कृत्वा ब्रह्मणि आरोपितं जगत् प्रतीयते, रजतमिव शुक्तिकायाम्'', इतिहि तव मतम्. तद् असम्भवि, आरोपेहि अधिष्ठानज्ञानं कारणम्. अत्रच ''पराञ्चि खानि'' इति श्रुतेः तस्य अविषयत्वात् क्व आरोपः ? नच ''ज्ञाननाश्यत्वोक्त्या अस्य ज्ञानस्य च अज्ञानमात्रनिवर्तकत्वेन अस्यापि अज्ञानकार्यत्वम् उच्यते'' इति वक्तुं युक्तं, विष्णुस्मरणादिना अतद्रूपाणां पापानां नाशात्. अस्तुवा ब्रह्मज्ञानस्य अज्ञानमात्रनिवर्तकत्वम्. तच्च संसाररूपमेव नतु प्रपञ्चो भगवत्कार्यत्वात्. तथाच स्वरूपाज्ञानदेहेन्द्रियाऽन्तःकरण-प्राणाध्यासरूप- पञ्चपर्वात्मकाविद्यानाशे तत्कार्यरूपाऽहन्तामम-तारूप-संसारनाश:एव ज्ञानकार्यं नतु प्रपञ्चनाशोऽपि. ब्रह्मविदः स्वपुत्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात्. नच एवम् इति एतत् सर्वं भागवततत्त्वदीपनिबन्धे प्रपञ्चितं पितृचरणैरिति न अत्र वितन्यते. वस्तुतस्तु ब्रह्मज्ञानस्य न अज्ञानमात्रनिवर्तकत्वं, ''क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि'' इति श्रुतिस्मृतिवचनात् पुण्य-पापयोरपि निवृते:. एतयोरपि अज्ञानकार्यत्वं पुरस्तादेव निरस्तम्. किञ्च अविद्याया: असत्त्वेन अङ्गीकारात् तन्नाशोऽपि अशक्यनिरूप-णः. इतोऽपि ब्रह्मणि तत्सम्बन्धोऽपि अशक्यवचनः, सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात्, प्रकृतेच असम्भवात्. तथाच कस्य केन कस्य प्रतीतिः स्याद् विभाजिकायाएव अभावेनैव विभागस्यापि अभावात्. अतएव असन्नेव प्रतीयते इति उच्यते इति चेद्, अहो मूढता! यत् स्वप्नप्रतीत-तरणिकिरण-तापतप्तस्य ततः उत्थितस्य जागरितदशादृष्ट-मरुमरीचिजलधि-वीचिविभ्रमैः तदुपशमाभिमानेन सुखिताभिमानो मिथ्यावादिनः. असतोऽपि प्रत्यायिका हि अविद्या साच असती इति का प्रत्याययेद्

इति पूर्वोक्तं श्रुत्वापि एवं वदन् मूर्खतां नातिवर्तसे. एतेनैव ''कार्यानुरूपेण कारणेन भाव्यमिति कार्यस्य तुच्छत्वेन तत्कारणं तादृशी अविद्या उच्यते'', इत्यपि निरस्तम्. कार्यस्यतु तुच्छत्वातुच्छत्वे पश्चाद् विचारयिष्यामः. सम्प्रति त्वद्रीत्यैव विचार्यते : कल्पनाहि लोकानुसारिणी. तथाच यत्र मायाविनो नटाः मणिमन्त्रादिना आम्रकदम्बं तरुकदम्बं दर्शयन्ति तत्र तद्दर्शिताऽऽम्रादिकमेव असद् दृष्टम् इति ज्ञायते, तत्क्षणमेव तद्दर्शनाद्, नतु तन्मन्त्रादिसामर्थ्यमपि, तथा सति तद्दर्शनमपि न स्यात्. सर्वोऽपि च तथा प्रदर्शयेद् अविशेषात्. तस्मात् त्वदभिमताविद्यया जगत्प्रतीतिः जीवविभागो वा न युक्तिसहःइति न कर्तृत्वनिषेधो ब्रह्मणि शक्यनिरूपणः (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'किञ्च अविद्यया कृत्वा' इत्यादिः 'शक्य-निरूपणः' इत्यन्तः चतुर्दशः खण्डः खण्डच्यते :

[१]तत्र श्रुतौ संसारिणां प्रत्यक्त्वेन शुद्धात्मनो ज्ञानाभावः एव उक्तो नतु सर्वथा आत्मज्ञानाभावः. तथात्वे ''खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्माद् न आत्मानं पश्यन्ति'' इत्येव वदेत्. किञ्च मुद्गराभिघातादिजन्य-घटनाशं त्यक्त्वा पापनाशे दोषोक्तिः ते मुधा. त्वन्मते पापस्य अनित्यतायाः वक्तुम् अशक्यत्वाच्च इदम् असङ्गतम्. किञ्च 'प्रतिपदविधाना' इत्यनेन निषेधाद् 'विष्णुस्मरणः' इत्यत्र न समासो युक्तः. किञ्च ''विष्णोः स्मरणादिना'' पापनाशः एव भवति नतु निवृत्तिः. ''विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः'' इति श्रुति-विरोधात्. अतएव ज्ञानेन प्रपञ्च-निवृत्तिः. नामरूपत्वावच्छिन्ननिवृत्तेरेव श्रुतितो बोधात्. ब्रह्मकार्यत्वस्य अप्रतिबन्धकत्वाद् देहाद्यविवेकस्य ब्रह्मकार्यत्वा-

भावे ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वहानिः तत्कार्यत्वेतु तत्रैव व्यभिचारात्. ब्रह्मविद्विषयेतु उक्तं प्राक्. यत्तु टीकाकृता ''नैव आत्मनो न देहस्य संसृतिः सुविविक्तयोः, अविवेकः तयोः यो असौ इह तस्यैव संसृतिः'' इति भगवता देहात्मानौ पृथग् उक्त्वा तदविवेकस्यैव पृथक् कथनाद् ''अविवेकः एव संसारो, नतु प्रपञ्चो ब्रह्मकृतः'' इति उक्तं तद् अयुक्तं, 'संसार'पदावाच्यत्वे-ऽपि निवृत्तेः स्थापितत्वात्. किञ्च तत्र ''अविवेको यो असौ स संसृतिः'' इति समानाधिकरणाभिलापे तथा अर्थः स्याद्. नच तत्र तादृशो अभिलापो अस्ति. तस्मात् तत्र 'यस्य' इति अध्याहृत्य ''तयोः यो अविवेको असौ यस्य तस्य संसृतिः'' इतिवा 'अविवेक'शब्दे बहुव्रीह्याश्रयणेन ''तयोः यो अविवेको विवेकाभाववान् तस्य'' इतिवा अर्थः. तथाच आत्मनो असङ्गत्वाद् देहस्य जडत्वाद् न अध्यासरूपा संसृतिः किन्तु अविवेकतो अनिर्वाच्यस्य इति तात्पर्यम्. एवञ्च एतच्छ्लोकार्थविप्लवमूलकं प्रपञ्च-मायिकत्व-पराणां भागवत-स्थानेकश्लोकानाम् अर्थविप्लावनं टीकाकारस्य अनर्थायैव इति संक्षेपः. सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य अज्ञानकार्यत्वे कर्मणः तथात्वम् अर्थसिद्धमिति ''क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि'' इति श्रुतिः अनुकूलैव. परमार्थदृष्ट्या अविद्यायाः नाशाभावादयस्तु इष्टाएव. अतएव ''न निरोधो नच उत्पत्तिः न बद्धो न च साधकः, न मुमुक्षुः नवै मुक्तः इति एषा परमार्थता'', ''यत्रहि द्वैतमिव भवति तद् इतरः इतरं पश्यति, यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्'' इत्याद्याः श्रुतयः, ''बद्धो मुक्तः इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः''. इत्याद्याः स्मृतयश्च सङ्गताः. किञ्च स्वप्नस्य यथा नाशो यथावा तद्द्रष्टरि तत्सम्बन्धो यथावा तत्प्रतीतिः तथा अत्रापि अस्तु.

यद्यपि जागरदृष्ट-मरुमरीचिभिः न स्वाप्न-तापोपशमः तथापि जागरमात्रेण तदुपशमो अस्त्येव. दार्ष्टान्तिके च जागरस्थानापन्न-मेव ब्रह्मदर्शनम् इति गालिमता अस्मन्मतानभिज्ञानेनैव गालयो दीयन्ते.

[२]*असतोऽपि इन्द्रियादेः स्वप्ने सत्प्रत्यायकत्वं दृष्टमेव कूटकार्षापणादेः सत्यकार्यहेतुत्वं च दृष्टम्. असत्यस्य असत्यहेतुत्वेतु को दोषः ? तस्माद् इन्द्रजालस्थले यद्यपि कारणस्य मणिमन्त्रादेः न मिथ्यात्वं, तथापि मिथ्याकार्यस्थले कारणस्य सत्यत्वनियमो न प्रमाणाभावात्. कल्पनायां दृष्टानुसारित्वनियमो न श्रौते अर्थे इति उक्तं प्राक्. अतो मायाजन्यत्वस्य दृष्टानुसारित्वाभावेऽपि न दोषः श्रौतत्वाद्, दृष्टानुसारित्वन्तु उपपादितमेव.*

[३]*यत्तु तत्क्षणमेव तददर्शनाद् असत्त्वं साधयति तद् व्याहतम्, उपलब्धिक्षणे अनुपलब्धेः अभावात्. 'तत्क्षण'शब्देन कुसृत्या अस्वल्पकालग्रहणे स्वल्पकाल-नष्टघटादौ व्यभिचारः. ''मन्त्रा-दिसामर्थ्ये सत्त्वाभावे तददर्शनापत्तिः'' इति उक्तिरपि अयुक्ता, बहुकालं दृश्यकाले स्वप्नादौ सत्त्वाभावात्. तद्दर्शनम् इत्यत्र 'तच्'छब्देन कार्यग्रहणेतु असतोऽपि इन्द्रियादेः इत्यादिना अनुपदम् उक्तेन प्रकारेण व्यभिचारो बोध्यः. कदाचित् तददर्शनम् अस्ति इति चेद् इहापि समानम्. सर्वस्यतु अनिर्वचनीयं सामर्थ्यं न अस्तीति न तथा दर्शयितुं प्रभवति. इदं तन्मौर्ख्यप्रकाशार्थम् उक्तम्. वस्तुतस्तु तन्मन्त्रादिषु व्यावहारिकं सत्त्वम् असत्येव. तस्माद् अविद्यया जीवविभागो जगत्प्रतीतिः च तत्कृतमेव तत्र कर्तृत्वं तस्यैव च निषेधः इति सिद्धम् (इति चतुर्दश-खण्ड-खण्डनम्)*].

प्राभ. : अथ चतुर्दशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र ''**पराञ्चि खानि**'' (कठोप.२।१।१) इत्यादि*श्रुतौ संसारिणां प्रत्यक्त्वेन शुद्धात्मज्ञानाभावः एव उक्तो नतु सर्वथा ज्ञानाभावः* इति वदन् प्रष्टव्यः. 'शुद्धात्म'पदेन धर्मसामान्यशून्यात्मग्रहणं वा यत्किञ्चिद् धर्मशून्यस्य वा ? न आद्यः, प्रत्यक्त्वेन इत्यत्र तृतीयायाः वैशिष्ट्यार्थकत्वे प्रत्यक्त्वस्यैव धर्मतया धर्मसामान्यशून्यत्वासम्भवात्. प्रत्यक्त्वेन शुद्धात्मज्ञानस्यैव अप्रसिद्धया ''नान्तरात्मन्'' इत्यादिना तन्निषेधोऽपि असङ्गतः स्यात्. द्वितीये यत्किञ्चिद्-धर्मविशिष्टस्यापि आत्मज्ञानस्य तद्भिन्न-यत्किञ्चिद्-धर्मशून्यत्वस्य अक्षततया घटपटादिज्ञानस्यापि यत्किञ्चिद्-धर्मशून्यात्मज्ञानत्वेन संसारिणां तन्निषेधो असङ्गतएव. यत्किञ्चिद्-धर्मशून्यत्वेन तज्ज्ञानस्य अखण्डाकारवृत्त्यापि असम्भवेन ''**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद्**'' (कठोप.२।१।१) इत्यपि असङ्गतं स्यात्. एवं सर्वथा इत्यत्रापि सर्वप्रकारेण सर्वधर्माविशिष्टत्वेन इत्यर्थकत्वेऽपि संसारिणां तादृशज्ञानासम्भवेन तन्निषेधो न युक्तः. किञ्च ''**नान्तरात्मन्**'' इत्यत्र शुद्धात्मबोधकपदाभावाद् विशेषनिषेधपरत्वं न युज्यते. नहि ''घटं न पश्यति'' इत्यत्र शुद्धघटचाक्षुषाभावः एव प्रतीयते न घटसामान्यचाक्षुषः निषेधः इति वक्तुं शक्यते, पीतघटचाक्षुषवत्यपि तथा प्रयोगापत्तेः. नच 'आन्तर'शब्दसमभिव्याहारात् तथा प्रतीतिः इति वाच्यं, तस्य मध्यादिवाचकत्वेऽपि शुद्धवाचकत्वाभावाद् इति संक्षेपः. यत्तु *मुद्गराभिगातजन्यघटनाशं त्यक्त्वा पापनाशे दोषोक्तिः मुधा* इति उक्तं, तद् विद्वन्मण्डनपङ्क्त्यर्थाज्ञानात्. तत्रहि 'ज्ञाननाश्य'त्वोक्त्या ज्ञानस्य च अज्ञानमात्रनिवर्तकत्वेन अस्यापि अज्ञानकार्यत्वम् उच्यते इति उक्तम्. तस्यच अयम् अर्थः : संसारस्य ज्ञाननाश्यकत्वम् उक्तं तच्च तस्य अज्ञानकार्यत्वएव घटते ज्ञानस्य अज्ञानमात्रनिवर्तकत्वनियमाद् इति. एवञ्च तादृशनियमे व्यभिचारप्रदर्शनाय सच तदा स्याद् यदि ज्ञानस्य अन्यनिवर्तकत्वं प्रदर्शितं स्यात्. तथाच व्यवहारदशायां स्मरणरूपज्ञानेन पापानाम् अज्ञानकार्यत्वेन उभयवाद्यभिमतानां निवृत्तिदर्शनेन ज्ञानस्य अज्ञानमात्रनिवर्त-

कत्वं न सम्भवतीति तादृशनियमानुरोधेन प्रपञ्चस्य अज्ञानकार्यत्वं न वक्तुं शक्यते इति अभिप्रायः. मुद्गराभिघातस्य ज्ञानरूपत्वाभावात् तद्दोषदर्शनेऽपि न प्रकृतोपयोगः इति तदभिप्रायं तद्ग्रन्थविद्भ्यः शिक्षस्व यदि खण्डनेच्छा चेत्, *पापनाशः एव भवति न निवृत्तिः* इति उक्तिस्तु कार्यस्य असत्त्वम् अभ्युपगच्छतो न शोभते. अन्यथा सत्कार्यवादः आश्रितः स्यात्. "**विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः**" (मुण्ड.उप.३।२।८) इत्यादिश्रुतिस्तु विदुषि नामरूपनिवृत्तिं दर्शयति, न नामरूपत्वावच्छिन्नस्य सर्वस्यैव अभावम्. तथाच तदनुसारिणां मतेऽपि ज्ञानस्य प्रपञ्चनिवर्तकत्वं न सम्भवति, तत्र प्रपञ्चवाचकपदाभावाद् अन्यथा "**सर्वपापविनिर्मुक्तः**" (स्क.पुरा.५।३१।३, * द्र.भाग.पुरा.९।२३।१९) इत्यादिवाक्यतोऽपि पापत्वावच्छिन्ननाशबोधात् सर्वेषां स्वर्गप्राप्तौ जगति पाखण्डम् उच्छिद्येत. तस्माद् ज्ञानिनो नामरूपविनिर्मोकःएव श्रुत्यभिमतः इति. किञ्च ज्ञानस्य अज्ञाननिवर्तकत्वेऽपि तत्कार्याऽहन्ताममतादिसंसारस्यैव निवर्तकत्वं नतु प्रपञ्चस्य तस्य अज्ञानकार्यत्वाभावाद् भगवत्कार्यत्वात् च. ननु ममतादिसंसारस्यापि ब्रह्मकार्यत्वम् अङ्गीकरणीयम् अन्यथा ब्रह्मणः सर्वकर्तृत्वं हीयेत इति चेद्, न, 'ब्रह्मकार्य'पदेन साक्षाद् ब्रह्मकार्यत्वस्य विवक्षितत्वाद् अहंतादिसंसारस्य अविद्याद्वारा ब्रह्मकार्यत्वाद् न व्यभिचारः. त्वन्मते ब्रह्मज्ञानस्य जीवसृष्टद्वैतनिवर्तकत्वमेव नतु ईश्वरसृष्टद्वैतनिवर्तकत्वमपि, अतएव उक्तम् "**ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं द्विधा उच्यते. विवेके सति जीवेन हेयो बन्धः स्फुटीभवेद्**" (पञ्चद.४।१) इत्युपक्रम्य "**अबाधकं साधकं च द्वैतम् ईश्वरनिर्मितम् अपनेतुम् अशक्यं च इति आस्तां तद् द्विष्यते कुतः?**" (पञ्चद.४।४२) अग्रेच "**बन्धः चेद् मानसं द्वैतं तद्विरोधेन शाम्यति. अभ्यसेद् योगमेव अतो ब्रह्मज्ञानेन किं वद? तात्कालिकद्वैतशान्तावपि आगामिजनिक्षयाः. ब्रह्मज्ञानं विना न स्याद् इति वेदान्तडिण्डिमः**" (पञ्चद.४।३८-३९) इत्यादिना तथाच

---

* "**वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणां, यदोः वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते**".

स्वमतम् अज्ञात्वैव प्रपञ्चस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे प्रलापः. नच जीवकल्पितसंसारातिरिक्तः प्रपञ्चो न अस्त्येव इति वक्तुं युक्तं, नास्तिकमतप्रवेशापत्तेः सर्वश्रुतिविप्लवापत्तेश्च इति. **''नैव आत्मनो न देहश्च''** (भाग.पुरा.११।२८।१०) इति भगवदुक्तौ ''अविवेकः तयोः यो असौ इति तस्यैव संसृतिः'' इति. तयोः यो अविवेको असौ संसृतिः सामानाधिकरण्येन अन्वयसम्भवे 'यस्य' इति अध्याहारेण बहुव्रीह्याश्रयणे वा मानाभावाद् गौरवात् च. एवञ्च एतद्वाक्यानुसारेण **''यः एषः संसारतरुः पुराणो... मायामयं वेद स वेद वेदम्''** (भाग.पुरा.११।१२।२१-२३) इत्यादिपुराणवाक्यैः यन्मायामयत्वम् उक्तं तदपि अन्तरासृष्टिरूपसंसारस्यैव नतु प्रपञ्चस्य, तन्नाशे ब्रह्मविदाम् आचार्यत्वं न स्याद् इति उक्तं विस्तरतः प्राग्. **''यत्रहि द्वैतमिव भवति तद् इतरः इतरं पश्यति''** (बृह.उप.२।४।१४) इत्यादिश्रुतिस्तु सुषुप्तिविषया न मुक्तिविषया इति उक्तं **''स्वाप्ययसम्पत्योः''** (ब्र.सू.४।४।१६) इति सूत्रे सदसतोः सम्बन्धस्य त्वया अनङ्गीकृतत्वेन मायाब्रह्मणोः सम्बन्धाभावः, स्वप्नदृष्टान्तमात्रेण असत्यत्वन्तु न सम्भवति श्रुतिसूत्रविरोधात्. यत्तु *यद्यपि जागरदृष्टमरुमरीचिभिः न स्वप्नतापोपशमः तथापि जागरमात्रेण तदुपशमो अस्त्येव* इत्यादि विलपितं, तदपि तत्रत्यपूर्वपक्षाज्ञानात्. तत्र अविद्यायाः असत्त्वे ब्रह्मणि तत्सम्बन्धो न स्यात्, सम्बन्धस्य द्विष्ठत्वाद् इति आक्षेपे सन्नेव सम्बन्धः प्रतीयते इति उक्ते उक्तं स्वप्नप्रतीततरणीकिरणतापोपतप्तस्य जागरितदृष्ट-मरुमरीचिजलधि-वीचिविभ्रमैः तदुपशमाभिमानेन सुखित्वाभिमानः इति तथाच तादृशप्रश्ने तादृशोत्तरेण कृतकृत्यतायाम् अयं दृष्टान्तः इति. तत्र ब्रह्मदर्शनस्य दार्ष्टान्तिकत्वकथनन्तु अज्ञानादेव. अतएव असतोऽपि प्रत्यायिका अविद्या साच असती इत्यादिना अयमेव अर्थो विशदीकृतो विद्वन्मण्डने इति अलम्.

[२]असतोऽपि इति इन्द्रियादेः स्वप्ने सत्प्रत्यायकत्वं यद् उक्तं तदपि त्वन्मते विरुद्धं, त्वन्मते स्वप्नस्य साक्षिवेद्यत्वाभ्युपगमात्

कूटकार्षापणादेरपि कार्षापणत्वेन ज्ञानस्य व्यवहारहेतुत्वम् इति तज्ज्ञानं सत्यमेव. किञ्च असतः सद्हेतुत्वे **''कथम् असतः सद् जायते''** (छान्दो.उप.६।२।२) इति श्रुतिविरोधः. एतेन *असतः सत्यहेतुत्वे को दोषः* इति निरस्तम्. किञ्च दृष्टान्तानुरोधेन सर्वं स्वीकुर्वतः ते दृष्टान्तं त्यक्त्वा श्रुत्यनुसरणमपि न उचितं न तावतापि इष्टसिद्धिः, तत्र प्रपञ्चस्य सत्यत्वेन प्रतिपादनात्. **''तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्... सच्च त्यच्च अभवद्''** (तैत्ति.उप.२।६) इत्यादि श्रुतौ ब्रह्मणः एव जगद्रूपत्वम् उक्तम्. तस्माद् जगद्रूपत्वमपि ब्रह्मणि वास्तवमेव न मायिकम्. कल्पनातु लोकानुसारिण्येव इति न असतः सद्हेतुत्वम्.

[३]यदपि *यत्तु* इत्यादिना *तत्क्षणमेव तददर्शनाद् असत्त्वं साधयति तद् व्याहतम् उपलब्धिक्षणे अनुपलब्धेः अभावाद्* इत्यादि कुतर्कोद्भावनं तदपि न किञ्चित्. 'तत्क्षणम्' इत्यस्य दर्शनक्षणानन्तरक्षणार्थकत्वाद् अन्यथा **''प्रह्लादाभिहितार्थं तत्क्षणमिलदृष्टप्रमाणम्''**(✻!!) इत्यत्र तवापि अगतिः स्यात्. अभिधानस्य 'तच्'छब्देन विवक्षणे अभिधानक्षणे एव आविर्भावस्वीकारे 'क्त्'प्रत्ययार्थविरोधः. एवम् **''इतरेतरप्रत्ययत्वाद् इति चेद्, न उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वाद्''** (ब्र.सू.२।२।१९) इति सूत्रभाष्ये **''मनुष्यपुद्गलः कदाचित् क्षणेन हस्ती भूत्वा देवो वा पुनः मनुष्यो वा भवेद्''** (ब्र.सू.शां.भा.२।२।१९) इत्यादिशङ्करार्चार्योक्तावपि 'क्षणेन' इत्यत्र 'तच्'छब्देन मनुष्यपुद्गलक्षणोपादाने एकक्षणएव संघातद्वयोत्पत्तेः परानभिमततया असंगतिः स्यात्. *संघातात् संघातान्तरम् उत्पद्यमानम्*इति पूर्वोक्तिविरोधश्च. तस्माद् यथा तत्र तत्क्षणानन्तरक्षणएव विवक्षितः तथा अत्रापीति न दोषः. तादृक्क्षणश्च तत्पदार्थनाशकत्वेन लोके क्लृप्ता या सामग्री तदसमवहितो ग्राह्यः. तथाच न स्वल्पकाल-नष्टघटादौ व्यभिचारो. वस्तुतस्तु अस्मन्मते वस्तुसत्त्वे असत्त्वे च श्रुतिरेव प्रमाणं न युक्तिः, एवञ्च त्वदुक्तयुक्तिभिरेव त्वन्मते दोषो विद्वन्मण्डने प्रतिपादितः अतएव **''सम्प्रति त्वद्रीत्यैव विचार्यते''** इति उक्तम्. तत्र

✻ पा.टि. एआइ गुगलमते पाठान्तरेण 'कादम्बरी'ग्रन्थे तृतीयश्लोके उद्धृतः

दर्शनादर्शने ये दोषाः त्वया उक्ताः ते त्वय्येव निपतिताः. अस्मासु तत्प्रदर्शनन्तु त्वदुक्तं मौर्ख्यं त्वय्येव प्रकाशयति. *वस्तुतस्तु* इत्यादिना तत्तन्मन्त्रादीनां व्यावहारिकसत्त्वम् आश्रित्य तत्कार्याद् भेदं प्रतिपादयन् अज्ञएव. व्यावहारिकप्रातिभासिकसत्त्वयोः भेदस्य वक्तुम् अशक्यत्वात् * . किञ्चित्कालस्थायिनि प्रातिभासिकसत्त्वं बहुकालस्थायिनि व्यावहारिकम् इति उक्तौ, स्वल्पकाल-नष्टघटादौ प्रातिभासिकं, बहुकालं दृश्यमानस्व-प्नादौ व्यावहारिकं सत्त्वम् आपद्यते इति दिक् (इति चतुर्दशखण्डखण्डना-भासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

---

* पा.टि. : इदम् अत्र अवधेयम्. मिथ्यात्वस्य परिष्कृते लक्षणे **''स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वम्''** (अद्वै.सि.प्रथ.परि.मि-थ्या.निरू.) इति निरूप्यते. तदेतद् मिथ्यात्वं व्यावहारिक-प्रातिभासिकवस्तुनोः साधारणमेव मतम्. तत्र तयोः तारतम्यन्तु ''ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं व्यावहारिकं सत्त्वं; तथाच, ब्रह्मेतरारोपाधिष्ठानज्ञानबाध्यत्वन्तु प्रातिभासिकं सत्त्वम्'' इत्यपि मन्यते. बाधाद् ऊर्ध्वन्तु तदुभयोः त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपम् असत्त्वमेव अभिमतं सत्त्वन्तु बाधात् पूर्वमेव मिथ्या प्रतिभासमानम् इति स्थितिः. सति चैवम् उभयोः पार्थक्यं व्यवहारे आब्रह्मबोधजन्यबाधज्ञानं बहुकालिकं तद्विनापि अल्पकालिकं सत्त्वं ब्रह्मेतरारोपाधिष्ठानज्ञानजन्यबाधज्ञानपर्यन्तम् इति सिध्यति. यदितु स्वाप्निकं किञ्चिद् वस्तु शयानस्य पुरुषस्य पौनःपुन्येन प्रतीयमानं जागरोणोत्तरं च बाध्यमानत्वेऽपि वासनाविशेषाद् व्यावहारिकवस्तुवद् बहुकालं यावत् पुनःपुनः प्रतीयते चेत् तदा तद्वस्तुविषयकं ज्ञानं ''नासीद् नास्ति न भविष्यति'' इति स्वयमेव बाधितं न भवति इति न वक्तुं शक्यं बहुकालं यावत् प्रतीयमानत्वात्.

किञ्च 'त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व'लक्षणे तद्घटकः कालो न स्वेनैव निरूपितनिषेधप्रतियोगी भवितुं शक्नोति स्वतोव्याहतत्वाद् नापि अन्येन अन्योन्याश्रयचक्रकानवस्थादोषग्रासात्. तदुक्तं भगवत्पादेन श्रीशंकरेण सौगतमतनिराकरणे **''नहि कालत्रयसम्बन्धिनि एकस्मिन् अवयविनि असति कूटस्थे वा सवार्थदर्शिनि देशकालनिमित्तापेक्षवासनाधानस्मृतिप्रतिसन्धानादि-व्यवहारः सम्भवति''** (ब्र.सू.शां.भा.२।२।३१).

(खण्ड:१५ क. जीवब्रह्माभेदानुपपत्तिप्रदर्शनपुर:सरउपहितकर्तृत्वविचार:
ख. जीवांशत्वोपपादनम्)

[*सहस्रा. : विद्व.ननु आस्तां शुद्धमेव ब्रह्म जगत्कारणं, तेन सह अभेदो जीवस्य कथं श्रुत्या बोध्यते? परस्परं विरुद्धधर्मत्वाद् उभयोः परमार्थतो भिन्नयो: अभेदासम्भवश्च.*

नच ''औपाधिकत्वेन भेदस्य तदपगमे तत्सम्भवः'', इति वाच्यं, पूर्वोक्तन्यायेन उपाधेरेव निर्वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच तात्त्विकभेदवतोरपि पाथसोः मिलने सति अभेदप्रतीतिवत् प्रकृतेऽपि ''नद्यः प्रविष्टाइव नामरूपे'' इति वचनाद् ब्रह्मसम्बन्धे सति जीवः तस्माद् भिन्नतया न प्रतीयते इति आशयेन अभेदः श्रुत्या बोध्यते, इति वाच्यं, तयो: अनन्त्यावयविसावयव-व्येक जातीयद्रव्यत्वेन उभाभ्याम् एकं स्वसजातीयं कार्यम् उत्पाद्यते इति युक्तं तदभेददर्शनम्. प्रकृतेतु उभयोरपि महत्त्वे सति निरवयवत्वेन आरम्भकत्वासम्भवाच्च न तथा वक्तुं शक्यम् ''अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा'' इति श्रुतेः नाशासम्भवाच्च.

किञ्च जीव-ब्रह्मणोः कः सम्बन्धः? न तावत्संयोगः. तयोः विभुत्वेन तदनङ्गीकारात्. न समवायः, अनाश्रितत्वात्. उभयोः नापि स्वरूपसम्बन्धः, तस्य सार्वदिकत्वेन सर्वदा जीवानुपलब्धिप्रसङ्गात्.

किञ्च अणुजीवपक्षेऽपि ब्रह्मणो व्यापकत्वात् सकलजीवस-म्बन्धस्य सार्वदिकत्वात् कदापि न ते प्रतीताः स्युः. नापि ब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरमेव जीवस्य ब्रह्मभावो ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव

भवति'' इत्यादि श्रुत्या प्रतिपाद्यते इति ज्ञातृ-ज्ञेय-भावःएव सम्बन्धो वाच्यः. पारमार्थिक भेदस्य एतदनपनोद्यत्वात्. अन्यथा देवदत्तविष्णुमित्रयोरपि अभेदापत्तिः.

किञ्च सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वात् संसारिणमपि जीवं ब्रह्म जानाति इति ज्ञातृत्वसम्बन्धस्य तादृशे जीवेऽपि सत्त्वात् तस्यापि अभेदापत्तिः. ब्रह्म निरूपितमेव तत्तदभेदसाधकम् इति चेद्, न ''यतो याचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'', ''अदृष्टं द्रष्टृ'' इत्यादि श्रुतिभिः तस्य ज्ञेयत्वनिषेधात्.

अभेदोऽपि जीवब्रह्मणोः न तादात्म्यरूपः. सहि धर्मधर्मिभावे भवति. तस्य अत्र असम्भवात्, पारमार्थिकभेदवतः पारमार्थिकाभेदो असम्भावितः इति उक्तम्. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तिश्च. एतेनैव चेतनत्वादिधर्मसारूप्येण औपचारिकःएव अभेदः उच्यते इत्यपि निरस्तम्. नच तद्विकारित्वेन प्रतिज्ञोपपत्तिः तस्य अविकारित्वश्रुतेः. जीवोऽपि ''न जायते म्रियते वा कदाचिद्'' इत्यादि वाक्यैः न विकार्यः. नापि जीवो ब्रह्मणो अंशः तस्य निरवयवत्वात्. ''अंशो नानाव्यपदेशाद्'' इति तत्त्वसूत्रादिकन्तु औपचारिकम् अंशत्वम् आह, मुख्ये बाधकम् उक्तमेव. तस्माद् ब्रह्मोपाधिरेव जीवः इति मन्तव्यम्, अभेदबोधकश्रुत्यनुरोधात्.

नच ''उक्तन्यायेन अविद्यायाः उपाधित्वासम्भवाद् न एवं वक्तुं शक्यम्'' इति वाच्यं, श्रौतानुपपत्तेः बलिष्ठत्वात्. तथाच उपहितस्यैव अभेदासम्भवाद् अभेदसिद्धचर्थम् उपाधेरपि प्रातीतिकमेव सत्त्वम् उररीकार्यम्. पारमार्थिकसत्त्वे ज्ञाननाश्यत्वा-

सम्भवात्. तथाच ''यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति'' इत्यादिना अविद्यावस्थायामेव द्वैतदर्शनम् उक्त्वा तदभावदशायां ''यत्रतु अस्य सर्वम् आत्मैव अभूत् तत् केन कं पश्येद्'' इत्यादिना च तद् निवारयति श्रुतिरिति आविद्यकत्वं प्रपञ्चस्यापि सिद्धयतीति ''यतो वा इमानि'' इत्यादिना च ब्रह्मकर्तृकत्वं च प्रपञ्चस्य वदति इति उभयसामञ्जस्यनिमित्तम् अविद्योपहितमेव ब्रह्म जगत्कारणम् उच्यताम्. अतएव ''न अन्यो अतो अस्ति द्रष्टा'' इत्यादि श्रुतिरपि उपपद्यते इति.

एवं प्राप्ते ब्रूमः,

श्रुतितः तत्त्वसूत्रैश्च स्मृतिभ्यश्च अंशएव सः।
स्वार्थे प्रामाण्यतः तेषां तेभ्यएव अणुरेव च॥

भवेद् एतद् एवं यदि आविद्यकं जीवत्वं स्याद् नतु एवं किन्तु पारमार्थिकम्. नच अभेदबोधकश्रुत्यनुपपत्तिः, अंशांशिभावेनैव तदुपपत्तेः. ननु निरवयवत्वं बाधकम् उक्तम् इति चेत्, सत्यम् उक्तम्. तत्रैव इदं विचार्यते : ब्रह्मस्वरूपं च श्रुतिगम्यं लौकिकप्रमाणगम्यं वा इति? तत्र न द्वितीयः, तथाहि, न तावत् चाक्षुषम् अरूपिद्रव्यत्वाद्, नापि स्पार्शनं तद्रहितत्वाद्, नापि गन्धादिवत् घ्राणेन्द्रियादिप्रत्यक्षम् अगुणत्वाद्, नापि अनुमानगम्यं परिशेषेण ज्ञानप्रयत्नाधारत्वेन आत्मसाधने आवश्यकत्वाद् लाघवाच्च. तादृक्प्रमाणसिद्धचैव अर्थान्तरत्वेन तदसिद्धेः. यथाकथञ्चित् सिद्धावपि न उपनिषद्विचारितरूपस्य सिद्धिः. तथाच स्वतःसिद्धप्रामाण्यै तद्विरोधेन बाधितत्वाद् अनुमानस्य न तत्साधकत्वम्. नापि शब्दगम्यं तस्य आप्तोक्तिरूपत्वेन तस्य च यथादृष्टार्थवादित्वेन

आत्मनश्च अदृश्यत्वेन तदनुपपत्तेः. अतएव न उपमानगम्यमपि किन्तु श्रुत्येकसमधिगम्यं "तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति श्रुतेः. "सर्वे वेदा यत् पदम् आमनन्ति" इति च "वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः" इति स्मृतेश्च. तदर्थश्च न लौकिकरीत्या निर्णेतुं योग्यः अलौकिकत्वात्. तस्य च लोकविलक्षणत्वात् किन्तु स्वयमेव वेदव्यासं कृत्वा तन्मीमांसां च प्रतिज्ञापूर्वकं कुर्वतो वेदव्यासस्य सूत्रैः तस्य एतदर्थाभिज्ञत्वात्. (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः)

अथ 'ननुः आस्तां शुद्धमेव' इत्यादिः 'एतदर्थाभिज्ञत्वाद्' इत्यन्तः पञ्चदशः खण्डः खण्ड्यते.

[१] तत्र पूर्वपक्षे आरम्भवादे पूर्वद्रव्यनाशे मानाभावः. "अविनाशी वा अरे" इति श्रुतौ अविनाशित्वे हेतुः 'अनुच्छित्तिधर्मा' इति. "उच्छित्तिः धर्मो यस्य स, तथा न उच्छित्तिधर्मः अनुच्छित्तिधर्मः" इति अर्थो नतु तट्टीकाकारोक्तो बहुव्रीहिपूर्वपदकव्यधिकरणबहुव्रीहिगौरवात्.

[२] वृत्तिमत्त्वं धर्मत्वं तदाधारत्वं धर्मित्वम् इत्यपि उक्तम्.

[३] सर्पत्वप्रतिबिम्बादेः रज्जुदर्पणाद्यवृत्तित्वेऽपि धर्मत्वव्यवहाराद् नयनगतपीतत्वस्य शङ्खादिवृत्तित्वेऽपि तदधर्मत्वाच्च. श्रीहर्षोक्तखण्डनचतुर्थपरिच्छेदस्थदूषणैः आधेयत्वादेः निरूपयितुम् अशक्यत्वाच्च.

[४] तयोः अजत्वेन संयोगाभावसाधनन्तु अयुक्तम्, अजयोः संयोगे बाधकाभावात्. अणुत्ववादे जीवस्य आश्रितत्वे बाधकाभावेन उभयोः अनाश्रितत्वोक्तिः असङ्गतैव. स्वरूपस्य

सम्बन्धत्वे अन्यतरानुपलब्धौ स्वरूपस्य क्वापि सम्बन्धत्वं न स्यात्. तथाच त्वन्मते अनित्यत्वेन स्वीकृतानां ध्वंसः स्वाधिकरणे केन तिष्ठेत् ? प्रभाकररीत्या उक्तौ कैवल्यं दुर्निरूपम्, अस्मद्रीत्या उक्तौतु अपसिद्धान्तः.

[५] सिद्धान्ते 'अंशांशि-भावेन' इत्याद्यसङ्गतम् औपचारिक-त्वप्रसङ्गात्. नहि हस्तादिः देवदत्तादिः भवति हस्तच्छेदादौ देवदत्तादिहननप्रायश्चित्तादिप्रसङ्गात्.

[६] 'अरूपिद्रव्यत्वाद्' इत्यपि असङ्गतम्. आरोपेहि अधिष्ठानज्ञानं कारणम् इति वदता मलिनत्वाद्यध्यासोपपत्तये आकाशादिचाक्षुषस्य त्वया पूर्वत्र सूचितत्वेन त्वट्टीकाकारेण अवकाशरूपेण वस्तुसामथ्यदिव तस्य प्रत्यक्षत्वाद् इति त्वद्-हार्दस्य उद्घाटितत्वेन च तद्विरोधापत्तेः. ''नापि स्पार्शनं तद्रहितत्वाद्'' इत्यत्र तच्छब्देन स्पर्शपरामर्शो अयुक्तो अप्रकृतत्वात्, 'स्पर्शन'शब्दस्य इन्द्रियपरत्वात् तद्धितार्थोपसर्ज-नत्वाच्च. नहि भवति चाक्षुषं रूपं तत् तैजसम् इति 'अगुणत्वाद्' इत्यपि असङ्गतम्.

[७] आत्मगुणस्य चैतन्यस्य त्वया आत्मातिरिक्तत्वानङ्गीकारेण आत्मनो अगुणत्वानपायात्. परिशेषेण इत्येतद्व्याख्यानावसरे चार्वाकमतम् उपन्यस्य तत्र अन्ये वदन्ति इति उपक्रम्य ''बाह्यः पुञ्जः शरीरं वा आत्मा ज्ञानप्रयत्नाधारत्वाद्, यद् न एवं तद् न एवं घटादिवद्'' इति अनुमानेन शरीरत्वावच्छिन्नस्य बाह्यपुञ्जत्वावच्छिन्नस्य वा आत्मत्वं साधनीयम् इति टीकाकृतः चार्वाकमतानुवादो असङ्गतः चार्वाकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणवादि-त्वात्. विस्तरभयात्तु तदीयप्रलापान्तरं न दूष्यते. 'स्वतः-

सिद्धप्रामाण्ये' इति असङ्गतम्. अनवस्थादिभयाद् अनुमानेऽपि प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वात्. मन्वादेरपि आत्मदर्शनाभावे कीदृशस्य तद्दर्शनं स्यात्? तथाच द्रष्टव्यः इति न सङ्गच्छेत.

[८] *किञ्च यथादृष्टार्थवादित्वं न आप्तत्वं धर्मस्य अदृश्यत्वेन तद्वक्तृणाम् अनाप्तत्वप्रसङ्गात्. किन्तु यथार्थवादित्वम्. तच्च आत्मनो अदृश्यत्वेऽपि मन्वादेः युज्यतैव. मन्वादिस्मृतिरूपाप्त-वाक्यानां गीतादिवच्छ्रुतिमूलकत्वेन "तन्तु औपनिषदम्" इत्यादि श्रुतिस्मृतिविरोधो न.*

[९] *"न लौकिकरीत्या" इत्यपि असङ्गतम्. लोकवेदाधिकर-णविरोधात्. पूर्वमीमांसाद्युच्छेदप्रसङ्गाच्च. व्यासेनापि लोकरी-त्यैव विचारितत्वाच्च. 'तस्य' इत्यपि असङ्गतम्. "यद् वै (किञ्च) मनुः" इति श्रुतिविरोधात्, पूर्वमीमांसायाः उच्छेदप्रसङ्गाच्च. तस्माद् मुनीनाम् अविगीतांऽशोक्तौ आप्तत्वमेव. व्याससूत्रतदग्रथितश्रुत्याद्यर्थनिर्णयेतु श्रीभगवत्पाद-मुनेरेव आप्तत्वम् इति उक्तं प्रथमश्लोकव्याख्यायाम्. तस्माद् विचाराशक्तौ श्रद्धामात्रेण अर्थग्रहणेच्छायां शाङ्करपादावेव सेवस्वः. (इति पञ्चदश-खण्ड-खण्डनम्)]*

प्राभ. : अथ *तत्र पूर्वपक्षः* इत्यादेः पञ्चदशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते.

[१] *तत्र पूर्वपक्षः आरम्भवादे पूर्वद्रव्यनाशे मानाभावः* इति उक्तं तदपि पूर्वपक्षाविचारणादेव, पूर्वपक्षे पूर्वद्रव्यनाशस्य अनुक्तत्वात्. नच **"अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा"** (बृह.उप.४।५।१४) इति श्रुतेः नाशासम्भवाच्च इति उक्तेः तथाज्ञातम् इति वाच्यं, तादृशश्रुतेः

आत्मनो नाशासम्भवाद् जीवस्वरूपनाशेन अभेदो यदि प्रतिपाद्यते तदापि तदभेदो न सम्भवति इति अभिप्रायात्. तथाच त्वन्मतनिरासार्थमेव तदुक्तं न आरम्भवादनिरासार्थम् इति अवेहि. तादृशश्रुतिघटक'अनुच्छित्ति-धर्मा'इति पदस्य ''अनुच्छित्तिधर्माः यस्य'' इत्यर्थकत्वे अविनाशी इत्यनेनैव तदर्थस्य प्रतीतत्वेन अस्य वैयर्थ्यं स्यात्. नच तत्प्रतिपाद्याविनाशित्वे हेतुप्रदर्शनम् 'अनुच्छित्तिधर्मा' इत्यनेनेति न तद्वैयर्थ्यम् इति वाच्यं, तत्र 'अनुच्छित्ति'पदेन नाशविवक्षणे अविनाशित्वमेव अविनाशित्वे हेतुः इति उक्तम्. तथाच आत्माश्रयः. तस्माद् हेतुप्रदर्शनपरत्वेऽपि ''न विद्यते उच्छित्तिः येषां ते अनुच्छित्तयः तादृशाः धर्माः यस्य'' इत्यर्थकत्वमेव सम्यक्. एवञ्च रूपरसादीनां नित्यत्वं यथा आश्रयस्य नित्यत्वं विना न सम्भवति तथा धर्माणां नित्यत्वमपि धर्मनित्यत्वज्ञापकं सद् अविनाशित्वे हेतुः इति बोध्यम्.

[२] यत्तु *वृत्तिमत्त्वं धर्मत्वं तदाधारत्वं धर्मित्वम्* इति उक्त्वा सर्पत्वस्य रज्ववृत्तित्वेऽपि सर्पवृत्तित्वादेव धर्मत्वोपपत्तेः इति उक्तं तदसङ्गतम्. यदि अनिर्वचनीयमेव सर्पत्वं तत्र उत्पद्यते इति उच्यते तदा तत्र अवर्तमानस्य तत्र उत्पत्तेः असम्भवाद् 'उत्पद्यते' इति असङ्गतम्. नच अविद्यमानमेव प्रतीयते इति वाच्यम्, असत्ख्यातिप्रसङ्गात्. नच अनिर्वचनीयमेव तद्रज्जुत्वम् इति वाच्यं, तादृशमानाभावात्.

[३] किञ्च त्वन्मते जगतएव तादृशत्वेन घटत्वादिकं परित्यज्य रज्जुपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमेव *नयनगतपीतत्वस्य शङ्खादिवृत्तित्वेऽपि तदधर्मत्वाद्* इति कथनन्तु शास्त्रानभिज्ञत्वं द्योतयति. नयने पीतरूपानङ्गीकारात्, नयनस्य तैजसत्वात् पित्तदूषितत्वेऽपि कालिन्दीजलनीलिमावद् औपाधिकमेव पीतत्वं न वास्तवम्. एवमपि शङ्खे तद्वृत्तित्वन्तु कथञ्चिदपि न सम्भवति. साहसम् आश्रित्य तद्वृत्तित्वस्वीकारे तदधर्मत्वाद्

इति असङ्गतं, वृत्तित्वातिरिक्तस्य धर्मत्वस्य त्वयापि अनिरूपितत्वात्. ननु अस्मन्मते धर्मत्वम् अनिर्वचनीयमेव तच्च तच्छङ्खनिरूपितत्वम् इति चेद् वृत्तित्वं किं त्वन्मते न अनिवर्चनीयं येन तच्छङ्खनिरूपितं पीतत्वं स्वीकुरुषे. श्रीहर्षोक्तखण्डनचतुर्थपरिच्छेदस्थदूषणैः निरूपयितुम् अशक्यस्य अलक्षणत्वे तादृशपरिच्छेदस्थदूषणैः वर्तमानत्वादीनाम् अभावत्वादीनां च निरूपयितुम् अशक्यत्वेन तद्घटितत्रिकालाबाध्यत्वरूप-सत्वस्यापि निरूपयितुम् अशक्यतया तस्यापि ब्रह्मलक्षणत्वं न स्यात्.

[४] यत्तु *तयोः अजत्वेन संयोगाभावकथनम् अयुक्तम्* इति उक्त्वा अजयोः संयोगे बाधकाभावाद् इति उक्तं, तदपि हेत्वज्ञानात्. नहि अजत्वं संयोगाभावे हेतुः किन्तु विभुत्वम्. अतएव टीकाकृतापि विभुनिरवयवयोः क्रियावयवराहित्याद् जन्यः संयोगो न वक्तुं शक्यः इति उक्तम्. अणुत्वपक्षे जीवस्य आश्रितत्वस्वीकारे समवायसम्बन्धे तत्स्वीकारे सावयवत्वापत्तिरेव बाधिका. एतेन *जीवस्य आश्रितत्वे* इत्यादिकं निरस्तम्. यैः स्वरूपसम्बन्धः स्वीक्रियते तन्मते यस्य येन सम्बन्धः तस्य तदतिरिक्तत्वं स्वीक्रियते. अतएव ध्वंसादीनाम् अधिकरणात्मकत्वमपि सङ्गच्छते. अतएव अधिकरणस्य कैवल्यम् अभावः. नच कैवल्यं दुर्निरूपम् इति वाच्यं, प्रतियोगिविनाभूतस्वस्वरूपस्यैव तत्त्वाद्.

[५] यत्तु *अंशांशिभावेन इत्याद्यसङ्गतम् औपचारिकत्वप्रसङ्गात्. नहि हस्तादिः देवदत्तादिः भवति* इत्यादि उक्तम्. तत्र उच्यते : 'हस्तादि'पदेन शिरसोऽपि ग्रहणं नवा? आद्ये अवयवत्वेन देवदत्तानात्मकस्य तस्य छेदेऽपि हस्तादिच्छेदइव देवदत्तहननप्रायश्चित्ताभावप्रसङ्गात्. द्वितीये तस्य अवयवत्वानुपपत्तिः तस्माद् हस्तादीनां देवदत्तत्वे तत्र वाचनिकस्वल्पप्राय-श्चित्तस्य बाधकत्वाद् न सम्पूर्णं प्रायश्चित्तम्. एवञ्च अंशांशिभावेऽपि न औपचारिकत्वम्. किञ्च जीवब्रह्मणोः स्वरूपस्य वेदैकसमधिगम्यत्वाद्

वेदेच अंशांशिनौ अस्यैव प्रतिपादितत्वात् तथैव अभेदोऽपि प्रतिपादितः.

[६] नहि ब्रह्मस्वरूपं चक्षुरादिगम्यम् अलौकिकत्वाद् अरूपित्वेन तत्र चक्षुरादीनां सामर्थ्याभावात्. नच पूर्वखण्डे रूपरहिताकाशविषयकचाक्षुषस्य उक्तत्वेन तद्विरोधः इति वाच्यम्, आकाशस्य रूपरहितत्वे प्रमाणाभावात् तत्रापि पञ्चीकरणप्रक्रियया रूपवत्त्वसम्भवात्. यत्तु *तद्गृहीतत्वाद् इत्यत्र स्पर्शपरामर्शो न सम्भवति अप्रकृतत्वाद्* इति उक्तं, तदपि मन्दं, नहि प्रक्रम्यमानार्थवाचकत्वमेव तच्छब्दस्य अपितु बुद्धिस्थवाचकत्वमपि. तथाच 'स्पार्शनम्' इति उक्ते स्पर्शस्यापि बुद्धिविषयत्वात् तद्बोधने बाधकाभावात्. *तद्धितार्थोपसर्जनत्वाद्* इति हेतुरपि असङ्गतः स्पर्शस्य तद्धितार्थोपसर्जनत्वाभावात्. किञ्च सर्वनाम्नाम् उत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वं प्रायिकम्. अन्यथा ''**दशैते राजमातङ्गाः तस्यैव अमी तुरङ्गमाः**'' (शब्द.प्रका.) इत्यादौ 'तत्'शब्देन राज्ञः परामर्शानुपपत्तेः.

[७] यत्तु *परिशेषेण* इत्यादिना टीकाकृदुक्तम् अनूद्य टीकाकृतः चार्वाकमतानुवादो असङ्गतः चार्वाकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणवादित्वाद् इति उक्तम्. तदपि शास्त्रहृदयानभिज्ञत्वादेव नहि परं प्रति स्वमतसिद्धप्रमाणेनैव उपस्थातव्यम् इति नियमो, अन्यथा प्रत्यक्षभिन्ने अप्रामाण्यं तेन कथं साधनीयम् इति वक्तव्यम्. प्रत्यक्षेणैव इति चेत्, तर्हि प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नेषु प्रत्यक्षेण प्रामाण्याप्रमाण्ययोः निश्चेतुम् अशक्यत्वेन तत्सिद्धिः न स्यात्. ''**प्रत्यक्षातिरिक्तं न प्रमाणम्**'' इति वाक्येन चेत् प्रतिज्ञामात्रेण अर्थसिद्धेः अभावाद् न्यूनत्वं स्याद्, वादिनो अनाप्तत्वेन तद्वाक्यमात्रेण अर्थसिद्धेः अभावाद् यदिच प्रत्यक्षातिरिक्तं न प्रमाणं प्रमितिकरणतावच्छेदकरूपशून्यत्वाद् इति हेतुना इति उच्यते. तदा प्रतिवादिना प्रत्यक्षभिन्ने व्याप्तिज्ञानरूपे अनुमाने प्रमितिकरणतावच्छेदकं व्याप्तिनिश्चयत्वम् अस्त्येव इति असिद्धौ

उद्भावितायां व्याप्तिज्ञानत्वं व्यभिचाराप्रकारकत्वासमानाधिकरणं स्वावच्छिन्नोत्पत्त्यव्यवहितं प्राक् क्षणव्यापकव्यभिचारप्रकारकज्ञानसामग्रीकज्ञानमात्रधर्मत्वाद् इति हेतुनैव असिद्धिः परिहर्तव्या. एवञ्च अनुमानस्य अप्रामाण्ये तादृशहेतौ तद्भाने वा अनुमितिकरणतावच्छेदकधर्माभावाद् न अनेन प्रत्यक्षातिरिक्ते अप्रामाण्यानुमितिः इति प्रत्यक्षमात्रस्यैव प्रामाण्यं तन्मते न सिद्धचेत्. किञ्च चार्वाकमते अनुमानस्य अप्रमाणत्वे शिष्यं प्रति प्रत्यक्षातिरिक्तं न प्रामाणम् इति उपदेशोऽपि तेषां न युज्यते. उपदेशस्य शिष्यसन्देहविपर्ययनिवृत्तिरूपः इष्टसाधनताज्ञानजन्यकृतिजन्यत्वात् परकीयसंशयविपर्ययोः अप्रत्यक्षत्वात् तस्माद् अनुमानस्य प्रामाण्यम् अनिच्छतोऽपि चार्वाकेण स्वीकार्यम् अनुमाने स्वतःप्रामाण्यस्वीकारे प्रामाण्यसंशयानुपपत्तेः. एतेन *अनुमानमपि* इत्यादिकम् असङ्गतम्.

[८] आप्तत्वं न यथार्थवादित्वं याथार्थ्यानिरुक्तेः. तद्वति तत्प्रकारकत्वादिरूपस्य "हृदो वह्निमान्" इत्यादिवाक्यजन्यबोधेऽपि सत्त्वात् तस्यापि वह्नित्ववति वह्नित्वप्रकारकत्वाद् इत्यन्यत्र विस्तरः. किञ्च यदाकदाचिद् यथार्थवादित्वं सर्वसाधारणत्वाद् अव्यावर्तकम्. यावज्जीवं यथार्थवादित्वं दुर्लभम्. यथा कथञ्चिद् अनुगमेतु यथा दृष्टवादित्वरूपलक्षणेऽपि अनुगमसम्भवात् तत्परित्यागो अनुचितः इति ध्येयम्.

[९] धर्मस्य अलौकिकत्वेन तद्विचारोपि न लोकरीत्या पूर्वमीमांसायाम्. अतः *पूर्वमीमांसोच्छेदः* इति असङ्गतम्. *व्यासेन लोकरीत्या विचारितम्* इति उक्तिः व्याससूत्रार्थापरिज्ञानादेव. (इति पञ्चदशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्)

(खण्ड:१६ क. निरवयवत्वस्वांशत्वाबाधकतां प्रदर्श्य तादात्म्येन
जीवब्रह्माभेदोपपादनम् ख. भ्रमाद्यनुपपत्त्या
जीवब्रह्माभेदखण्डनं श्रुतिसूत्रादिबलेन तन्मण्डनञ्च)

[*सहस्रा. : विद्व.तत्रच जीवब्रह्म-सम्बन्धविचारे ब्रह्मणो अंश:एव जीव: इति निर्णीतम् ''अंशो नानाव्यपदेशाद्'' इति. अस्य अर्थो जीवः ब्रह्मणो अंशएव. कुतः ? नानाव्यपदेशात्. नानाविधो यो व्यपदेशः, क्वचिद् ब्रह्मत्वेन, क्वचिद् उत्पन्नत्वेन, क्वचिद् अज्ञत्वेन, क्वचित् चिद्रूपत्वेन, क्वचिद् ईशितव्यत्वेन, अणुत्वेन च, व्यापकत्वेन च निरूपणात्. एकस्यैव विरुद्धधर्माश्रयत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य न सम्भवतीति ब्रह्मांशएव जीव: इति अर्थः. अथवा 'नानाव्यपदेशाद्'=भेदेन व्यपदेशात् तथा इति अर्थः. श्रुतिश्च ''यथा अग्नेः क्षुद्रा: विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः'' इति उपक्रम्य ''सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ति'' इति ''कपूयचरणा: रमणीयचरणाः'' इति च. यत्तु जीवस्य ब्रह्मोपाधिकत्वम् अङ्गीकृत्य विस्फुलिङ्गस्य औष्ण्यमिव चेतनत्वं साधारणो धर्मो जीवेश्वरयोः इति औपचारिकम् अंशत्वं व्याख्याय नानाव्यपदेशदर्शनं श्रुतौ ''यथा अग्नेः क्षुद्रा: विस्फुलिङ्गाः'', ''य: आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति'' इत्यादेः, तत्तु उपेक्ष्यं विद्वद्भिः पूर्वापरविरोधात्. तथाहि नहि तन्मतीय-जीवस्य आभासत्वेन प्रतिबिम्बत्वेन वा अलीकस्य नियमनं तस्मिन् स्थितिः वा ज्ञानैकघनस्य परमात्मनः सम्भवति. नवा विस्फुलिङ्गौष्ण्य-दृष्टान्तेन चेतनत्वं साधारणं धर्मम् आदाय औपचारिकम् अंशत्वमपि व्याख्यातुं शक्यम्. अतएव अंशत्वावगमप्रकारस्तु श्रुत्यैव ''यथा अग्नेः क्षुद्राः'' इत्यादिना उक्तः. इदम् अत्र ज्ञेयं : ब्रह्मणो निरंशत्वं*

सांशत्वं वा न लोकसिद्धं, येन तदनुरोधेन किञ्चिद् वक्तुं शक्यं किन्तु वेदैकसमधिगम्यम्. एवं सति यथैव सः निरूपयति तथैव तद् इति मन्तव्यम्. अतएव ''नैषा तर्केण मतिः आपनेया'', ''अलौकिकास्तु ये भावाः न तान् तर्केण योजयेद्'' इत्यादिका श्रुतिः लौकिकयुक्त्या एतद्बाधनं निषेधति. अन्यथा सर्वत्र लौकिक-युक्त्यनुसारिण्येव अर्थे श्रुतेः तात्पर्यवत्त्वेन ''नैषा तर्केण'' इत्यादिश्रुतिः व्यर्था विरुद्धार्था च स्यात्. लोकेऽपि यत्र वस्तुस्वभावःएव कार्यहेतुः न तत्र युक्तिसम्भावना यथा अयस्कान्तसन्निधौ लोहपरिभ्रमणम्. नच तत्र मणिनिष्ठा देवता आकर्षिका इति वाच्यं, तस्यापि लोहस्यैव आकर्षणे हेत्वपेक्षायां देवतास्वभावस्यैव तथात्वेन वक्तव्यत्वाद् आवश्यकत्वाद् लाघवात् च मणिस्वभावस्यैव तत्त्वेन वक्तुम् उचितत्वात्. तथा अत्रापि श्रुतिबलाद् वस्तुएव तादृशम् इति मन्तव्यं, न युक्तिः अपेक्षणीया. तथाच सैव ''निष्कलं निष्क्रियम्'' इत्यादिना सांशत्वं निराकृत्य ''यथा अग्नेः'' इत्यादिना जीवस्य ब्रह्मांशत्वमपि आह, व्यासोऽपि अतएव इममेव अर्थं दृढीकर्तुं हेत्वन्तराणि आह 'मन्त्रवर्णाद्' इति ''अपि स्मर्यते'' इति च. मन्त्रवर्णश्च ''पादो अस्य विश्वा भूतानि'' इति भूतानां जीवानां पादत्वेन अंशत्वमेव आह. स्मृतिश्च ''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वमेव आह, अतएव अभेदश्रुतिः उपपद्यते. नहि विस्फुलिङ्गो न अग्निः. एवं जीवोऽपि ब्रह्मांशत्वाद् ब्रह्मएव. तर्हि असार्वज्ञ्यानुपपत्तिः, नहि विस्फुलिङ्गो न दाहकः प्रकाशको वा. अल्पप्रकाशवद् अल्पज्ञत्वोपपत्तावपि भ्रमस्तु न जातु उपपद्यते. नच देहसम्बन्धकृतम् अनीशत्वादि इति वाच्यं, तस्यापि जीव-भावोत्तर-कालीनत्वात्. तस्माद्

ईश्वराद् भिन्नःएव अनीशत्वादि-धर्म-विशिष्टो नित्यबद्धःएव ईश्वर-प्रसादज-ज्ञानतो मुक्तो भवतीति न अंशो भवितुम् अर्हति. श्रुतिश्च प्रलय-समये भगवदुदरान्तःस्थानां जीवानां पुनः सर्गसमये ततो निर्गमन-प्रकारम् एवम् आह विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन. ''नान्यो अतो अस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिरपि जीवादि-सर्वपदार्थविषयक-दर्शनादिमत्त्वं सर्वदा अन्य-स्मिन् निषेधति नतु परिच्छिन्न-दर्शनादिकमपि. यथा ''पार्थएव धनुर्धरः'' इत्यत्र ''नहि पार्थाद् अन्यो न धनुर्धरः किन्तु यथा सः तथा न अन्ये'' इति, तथा इहापि इति चेत्? बाढम् एवम् अङ्गीकुर्मो यदि वेदार्थ-तामरस-तरणेः भगवतो बादरायणस्य सूत्रैः सप्रमाणनिदर्शनैः ''अंशो नानाव्यपदेशाद्'' इत्यादिभिः त्वदुक्तं न विरुद्धचेत नच एवम्. किञ्च विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन यदि आत्मनामेव उत्पत्तिं वदेत् तदा त्वदुक्तः प्रकारः उपपद्येतापि. नच एवं किन्तु सर्वेषां, प्राणानां, लोकानां, देवानां, भूतानामपि तथैव सृष्टिम् उक्त्वा ''सर्वएव आत्मानो व्युच्चरन्ति'' इति अवदत्. नच त्वं प्राणादीनां नित्यत्वं तथासृष्टिं वा मनुषे येन तत्प्रक्रमपठितानाम् आत्मनां तथात्वम् अवादीः. नच आत्मनां निर्गमन-प्रकारमेव आह, प्राणादीनामेव उत्पत्तिम् आह इत्यपि वक्तुं शक्यं वाक्यभेदप्रसङ्गाद् विनिगमकाभावाच्च. यद्यपि ''यथा अग्नेः'' इति श्रुत्यैव जीवस्य अंशत्वं तदभावो वा न निश्चेतुं शक्यः. चिन्तामणि-कल्पतरु-कामधेन्वादिभ्यइवापि ब्रह्मणः सकाशात् प्राणाद्युत्पत्तेः सम्भवात् तथापि सूत्रैः तदुपदर्शितश्रुति-स्मृतिभ्यश्च अंशत्वमेव अवगम्यते (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'तत्रच जीवब्रह्म-सम्बन्धविचारे' इत्यादिः 'अंशत्वमेव

अवगम्यते' इत्यन्तः षोडशः खण्डः खण्डचते :

[१]तत्र तावद् 'नाना'शब्दस्य नानाविधार्थकत्वं कुतः ? नञ्-शब्दाद्धि ''विनञ्भ्यां ना-नाञौ'' इति स्वार्थे नञ्. सच भेदं वक्तुम् अर्हति. विरुद्धधर्माः ब्रह्मण्यपि न सम्भवन्ति इति उक्तं प्राक्. किञ्च विरुद्धधर्माश्रियत्वेन ब्रह्मातिरिक्तत्वाभाव-सिद्धावपि तदंशत्वं केन सिध्येत ? अभेदमात्रेण अंशत्वोक्तौतु ब्रह्मणोऽपि अंशत्वं स्याद् विभुत्वेऽपि विरोधस्य अभावेन अंशत्वाव्याघातात्. जीवस्यापि अनणुत्वम् उक्तं प्राक्. भेदव्यपदेश-मात्रस्य अंशत्वसाधकत्वन्तु वदन् व्याप्त्यादिरीतिम् अजानन् उपेक्ष्यैव.

[२]किञ्च 'अन्यथा चापि' इत्यादिसूत्रांशं विसस्मार इति भाति. अधिकन्तु ''न आत्मा अणुः'' (सह.१।७) इति श्लोकव्याख्यानावसरे उक्तम्. ''कपूयचरणाः रमणीयचरणाः'' इत्यत्र 'चरण'शब्दः आचरणवाचीति तदुपन्यासो अत्र भ्रमादेव. आभासस्य न अलीकत्वम् इति उक्तम् असकृत्. किञ्च स्वाप्नप्रपञ्चं यदि ईश्वरो न यमयति तर्हि सर्वनियामकत्वविरोधः. यदि यमयति तर्हि तत्र व्यभिचारः. एवं स्थितावपि ऊह्यम्. अस्माकं यादृशम् अंशत्वं सम्मतं तादृशं प्राग् उक्तम्.

[३]अमृतत्वफलकम् आत्मज्ञानम् उपक्रम्य 'श्रोतव्यः' इति उक्त्वा 'मन्तव्यः' इति उक्त्या मननरूपः तर्कः आत्मज्ञाने उपयुज्यतैव. तर्कनिषेधस्तु श्रुति-प्रतिकूलतर्कविषयः. अतएव श्रुतौ ''न एषा तर्केण मतिः आपनेया'' इति उक्तम्. त्वयापि च ''श्रुतिः लौकिकयुक्त्यै तद्बाधनं निषेधति'' इति उक्तम्. अत्रत्य अनंशत्वसाधकतर्कस्तु 'निष्कलं', 'महान्

अजः' इत्यादि श्रुत्यनुगृहीतएव. अतएव ''अपाम सोमम् अमृताः अभूम'', ''अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्'' इत्यादिभ्यो ''न कर्मणा न प्रजया'' इत्यादेः प्राबल्यं न्यायोपबृंहितत्वात्. 'श्रुति-प्रतिकूले' इत्यत्र श्रुतिरपि स्वार्थे तात्पर्यवत्येव ज्ञेया. अतएव ''यजमानः प्रस्तरः'' इत्यादौ तर्केण श्रुत्यर्थबाधः. अतएव ''स्मृत्योः विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः'' इति आह याज्ञवल्क्यः. अन्यथा स्मृतीनां श्रुति-मूलकत्वाऽभावे श्रुतितो दौर्बल्यानुपपत्त्या स्मृतिविरोधस्थले स्मृतितुल्यार्थ-श्रुतिद्वयकल्पनायाः आवश्यकत्वेन तयोरपि विरोधे तर्केण अन्यतरश्रुति-सङ्कोचस्य अशक्यतया याज्ञवल्क्योक्तिः न सङ्गच्छेत. नच ब्रह्मप्रमाणेष्वेव तर्कविरोधो अकिञ्चित्करः इति वाच्यं, श्रुतित्वाविशेषे श्रौत्याः अन्यथानुपपत्त्याः त्वदुक्तरीत्या बलवत्त्वे च जीवस्येव इतरस्यापि ब्रह्मणो भिन्नतायाः ततः उत्पन्नतया त्वत्सम्मत्या च सम्भवेन ''अंशो नाना'' इति सूत्रव्याख्यावसरोक्त-श्रौतविरुद्धधर्मान्यथानुपपत्त्या जीवस्येव इतरस्यापि ब्रह्माभेदेन सर्वोपपत्तौ अन्यत्र पक्षपातस्य अनुचितत्वात्. अत्रच ''अथवा सर्वरूपत्वाद्'' इति त्वज्जनकवाक्यमपि अनुकूलं स्यात्. किञ्च तर्कस्य ब्रह्मणि अप्रवृत्त्या श्रुत्युक्तस्य विरुद्धस्यापि ब्रह्मणि अङ्गीकारे श्रुत्यादिविरोधपरिहारपरद्वितीयाध्यायसूत्राणां तद्व्याख्यानपर-त्वज्जनकग्रन्थविरोध-परिहारपर- त्वत्प्रलापस्यापि असङ्गतिः स्याद्. लाघवेन परिभ्रमणस्य मणि-स्वभावत्वम् ईश्वरकृतत्वेन श्रुतेः बलीयसीत्वम् इति वदता न्यायस्य लोके श्रुतौ च उपकारकत्वं स्वीकृतम्. न्यायम् अनादृत्य श्रुतिबलादेव विचारयतातु मोक्षस्य कर्मतत्त्यागोभयसाध्यत्वं जीवस्य ब्रह्मांशत्वं तदनंशत्वं च स्वीकार्यम् उभयविधश्रुतिदर्शनाद् न्यायानपेक्षणात्

च. सूत्रयोस्तु सप्तमश्लोके ''अंशो नाना'' इति सूत्रव्याख्यावसरे ''ममैव अंशः'' इति स्मृतेः या व्यवस्था उक्ता तादृश्येव बोध्या. मन्त्रवर्णस्यापि उपाधिपरिच्छेदेन परिच्छेदं वदतः सैव गतिः. यत्तु टीकाकारेण ''अतएव अभेदश्रुतिः'' इत्यत्र '' 'अतएव' इत्यस्य तादात्म्यादेव'' इति उक्त्वा ''भेदसहिष्णुः अभेदः तादात्म्यम्'' इति तादात्म्यलक्षणो अभेदः इत्यादि उक्तं तद् अयुक्तं, निम्बार्कादिमतप्रवेशापत्तेः, भेदाभेदयोः विरोधेन एकत्र अवस्थानायोगात् च. शब्दार्थयोः तादात्म्यं तच्च ''भेदसहिष्णुः अभेदः'' इति वदतां केषाञ्चित् शाब्दिकानान्तु अयं भावः : शब्दार्थयोः भेदो वास्तवो वैकल्पिको अभेदश्च. विकल्पस्तु ''शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः'' इति पतञ्जलिलक्षितः इति दिक्.

[४]विस्फुलिङ्गानाम् अग्न्यभेदं वदन् एवं प्रष्टव्यः : किम् इमे विस्फुलिङ्गात्मकवह्नेः अभिन्नाः ? उत अपादानवह्नेः ? न आद्यो जीवस्य तादृश-दृष्टान्तेन स्वस्मादेव अभेदसिद्धया ब्रह्मणः तदसिद्धेः. अन्त्ये व्युच्चरणात् प्राग् ऊर्ध्वं वा ? न अन्त्यो अनुभवविरोधात्. न आद्यो वह्नेः सावयवत्वेन स्वघटकतादृशावयवाद् विस्फुलिङ्गस्य अभिन्नत्वेऽपि तादृशसर्ववह्न्यभेदे मानाभावात्. नहि पटावयवः एकः तन्तुः सर्वपटाभिन्नो व्यपदिश्यते अतिप्रसङ्गात्. कथञ्च अनेन दृष्टान्तेन सर्वदा ब्रह्माभेदवादिनः ते इष्टसिद्धिः ? किञ्च एवं प्राणादेरपि तदंशत्वं स्यात्. तस्माद् उपाधिनिर्गमेनैव जीवनिर्गमः इति युक्तम् इति उक्तं प्राक्. यद्यपि ''यथा अग्नेः'' इत्यादि त्वदुक्तं सङ्गच्छते परन्तु तत्रापि चिन्तामणीत्याद्युक्तिः न युक्ता, घटाकाशवद् जीवाविर्भावसम्भवाद् इतिहि वक्तुं युक्तम्. यत्तु टीकाकारो ''घटसंवृतम् आकाशम्'' इत्यस्यां श्रुतौ

लयाभावेन सादृश्यम् अभिप्रेतम् इति आह. तद् न, उपात्तधर्मं परित्यज्य अनुपात्तधर्मेण सादृश्यस्वीकारे अतिप्रसङ्गात्. तस्माद् विभुत्वेन नयनाभावप्रयुक्तमेव सादृश्यं तच्च न अणुत्वे घटते (इति षोडश-खण्ड-खण्डनम्)].

प्राभ. : *तत्र तावद् न* इत्यादि षोडशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र 'नाना'शब्दस्य अनेकार्थकत्वम् अव्ययानाम् अनेकार्थत्वाद्. अन्यथा प्रकृतिप्रत्ययलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वे, 'विना'शब्दस्यापि विशेषार्थकत्वापत्तेः, 'नाना'शब्दस्य निषेधार्थकत्ववत्. "**सो अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**", (छान्दो.उप.८।७।१) "**एतमेव विदित्वा मुनिः भवति**" (बृह.उप.४।४।२२) "**यः आत्मनि तिष्ठन्**" (शत.ब्रा.१४।६।-७।३०) इत्यादिष्वपि भाष्ये (द्रष्ट. : ब्र.सू.शां.भा.१।२।१४) उक्तासु(/-युक्तासु) श्रुतिषु नानाविधव्यपदेशःएव नतु भेदस्य व्यपदेशः. एवञ्च *सच भेदं वक्तुम् अर्हति* इति असङ्गतं, नञो भेदमात्रार्थकत्वाभावात्. जीवस्य अंशत्वेतु "**यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः**" (बृह.उप.२।१।२०) "**सर्वएव आत्मनो व्युच्चरन्ति**" (शत.ब्रा.१४।५।१।२३) इत्यादिश्रुतिरेव प्रमाणम्. एतेन *विरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मातिरिक्तत्वाभावसिद्धावपि तदंशत्वं केन सिद्धचेद्* इति परास्तम् अभेदमात्रेण अंशत्वासाधनात्. श्रुत्यैव अंशत्वसाधनाद् अभेदेन *अंशत्वोक्तौतु ब्रह्मणोऽपि अंशत्वं स्याद्* इति पूर्वपक्षोऽपि अकिञ्चित्करः, श्रुतौ ब्रह्मणो अंशत्वाप्रतिपादनात्. ब्रह्मणि विरुद्धाः धर्मास्तु श्रुतिप्रतिपाद्याःएव स्वीक्रियन्ते 'न अन्ये'इति उक्तं जीवस्य अणुत्वन्तु पूर्वमेव प्रपञ्चितम्. यत्तु *भेदव्यपदेशमात्रस्य अंशत्वसाधकत्वन्तु वदन् व्याप्त्यादिरीतिम् अजानन् उपेक्ष्य* इत्यादि प्रलपितं

तदपि भ्रान्तत्वाद्, नहि व्यासैः अंशत्वे **''नानाव्यपदेशाद्''** (ब्र.सू.२।३।४३) इति पञ्चम्यन्तातिरिक्तो हेतुः प्रदर्शितो येन तन्मात्रस्य न अंशत्वसाधकत्वं स्यात्. ननु नानाव्यपदेशः **''सो अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः''** इत्यादिकः सच स्वामिभृत्यसारूप्ये वियुज्यतेइति न अंशत्वसाधकः इति चेत्, स्याद् एवं, यदि नानाव्यपदेशः तावन्मात्रएव स्यात्. भवतितु **''यथा अग्नेः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्ति एवम् अस्माद् आत्मनः सर्वएव आत्मनो व्युच्चरन्ति''** (बृह.उप.२।१।२०) इत्यादिकोऽपि. सच न त्वदुक्ते सारूप्ये युज्यते.

[२]नच एवम् **''अन्यथा चापि दाशकितवादित्वम् अधीयते एके''** (ब्र.सू.२।३।४३) इति सूत्रांशस्य वैयर्थ्यम् इति वाच्यं, श्रुत्यन्तरे **''ब्रह्म दाशाः ब्रह्म दासाः ब्रह्म इमे कितवाः''** (अथर्व.पैप.संहि.८।९।-१०) इत्यादिना दाशादीनां ब्रह्मत्वं प्रतिपादितं तच्च जीवानां ब्रह्मकार्यत्वएव घटते. तथा **''यः...(अन्तरो यमयति)''** (बृह.उप.३।७।३-२३) इत्यादिश्रुतौ प्रतिपादितानां प्राणलोकादीनामिव जीवानामपि कार्यत्वं स्यात्. तथाच **''न आत्मा अश्रुतेः नित्यत्वाच्च ताभ्यः''** (ब्र.सू.२।३।१७) इति पूर्वसूत्रविरोधः इति आक्षेपोद्धारार्थकत्वेन सार्थकत्वात्. कथं तदंशेन आक्षेपोद्धारः? इति चेत्, श्रुणु! पूर्वोक्तश्रुत्या स्याद् जीवानां कार्यत्वं यदि 'दाशाद्यु'द्देशेन ब्रह्मत्वं विधीयेत. विधीयतेतु अन्यथापि दासत्वकितवत्वादिकं ब्रह्मणि. एवञ्च **''इमे कितवा''** इत्यादौ इदम् आस शरीरस्य परामर्शात् शारीरत्वेन अंशत्वेन ब्रह्मोद्देशेन विधानम् अंशत्वमेव प्रतिपादयति न कार्यत्वम्. तथाच जीवस्य स्वरूपतः जन्माभावेन कार्यत्वाभावाद् ब्रह्मणः सकाशाद् विस्फुलिङ्गवद् विभागएव न उत्पत्तिरिति न उक्तसूत्रविरोधः. एतेन *किञ्च* इत्यादिकम् अपास्तम्. *आभासस्य न अलीकत्वम्* इतितु न युक्तं तस्य अलीकत्वाभावे सत्यत्वप्रसङ्गात् तथात्वे द्वैतापत्तिः. किञ्च जीवस्य प्रतिबिम्बात्मकत्वे प्रतिबिम्बस्य

च त्वन्मते मिथ्यात्वाद् जीवस्यापि मिथ्यात्वात् तन्नियामकत्वम् ईश्वरे न सम्भवति, तथाच **''यः आत्मनि तिष्ठन्''** (शत.ब्रा.१४।६।७।३०) इत्यादिकायाः श्रुतेः विरोधः. नच स्वाप्नप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽपि तन्नियामकत्वं यथा ईश्वरस्य तथा जीवनियामकत्वमपि सेत्स्यति इति वाच्यं, स्वाप्नप्रपञ्चस्य मायामात्रत्वेन तन्नियामकत्वाभावेऽपि श्रुतिविरोधाभावेन दृष्टान्तासिद्धेः. नच जीवस्यापि मायिकत्वमेव इति वाच्यम्, **''अजो नित्यः शाश्वतो अयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे''**(भग.गीता.२।२०), **''न आत्मा श्रुतेः नित्यत्वाच्च ताभ्यः''** (ब्र.सू.२।३।१७) इत्यादिस्मृतिसूत्रविरोधापत्तेः. एतेन *किञ्च* इत्यादिकम् अपास्तम्.

[३]यत्तु **''न एषा तर्केण मतिः आपनेया''** (कठोप.१।२।९) *इत्यादिश्रुतौ तर्कनिषेधस्तु श्रुतिप्रतिकूलतर्कविषयः* इति उक्तं तत्र आत्मनो अनंशत्वसाधकः तर्कः श्रुतिप्रतिकूलो नवा? इति. सांशत्वप्रतिपादकश्रुतिप्रतिकूलत्वेऽपि **''निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्''** (श्वेता.उप.६।१९) इत्यादिश्रुत्यनुगृहीतएव इति चेत्, तर्हि द्विविधश्रुत्यगृहीतेन विरुद्धधर्माश्रयत्वरूपेण किम् अपराद्धमिति सएव कुतो न अङ्गीक्रियते. किञ्च तादृशतर्कानुसरणे **''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''** (भग.गीता.१५।७) इति स्मृतौ **''अंशो नानाव्यपदेशाद्''** (ब्र.सू.२।३।-४२) इति सूत्रे च अंशइव अंशः इत्यादि लक्षणाकल्पनगौरवं स्यात्. *श्रुत्यनुगृहीततर्को बलवानः* इति उक्त्वा **''न कर्मणा न प्रजया''** (कैव.उप.३) इत्यादिश्रुतेः *प्राबल्यं न्यायोपबृंहितत्वाद्* इत्यनेन न्यायोपबृंहितश्रुतेः प्राबल्यदर्शनम् अतएव *इत्यादिना* कथकसम्प्रदायविरुद्धं, न्यायाप्रदर्शनान्यूनत्वं च दोषः. **''यजमानो प्रस्तरः''** (तैत्ति.संहि.१।७।४-।४) इत्यादावपि सामानाधिकरण्यदर्शनेन तच्छ्रुतेः नामपरत्वं, भेदपरत्वं, स्तुतिपरत्वं वा? इति सन्देहे न्यायात् स्तुतिपरत्वरूपतात्पर्यावधारणं

भवति. ननु न्यायात् श्रुत्यर्थस्य बाधः. अन्यथा मीमांसायाः श्रुतिप्रतिकूलत्वमेव स्यात्. तथाच **''यजमानो प्रस्तरः''** (तैत्ति.संहि.१।७।-४।४) इत्यादौ श्रुत्यर्थबाधं वदन् उपेक्ष्य. स्मृत्योः विरोधे **''न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः''** (याज्ञ.स्मृ.२।२१) इति याज्ञवल्क्यस्मृतावपि **''निह्नुते लिखितं नैकम् एकदेशे विभावितः, दाप्यः सर्वान् नृपेण अर्थान् न ग्राह्यस्तु अनिवेदितः''** (याज्ञ.स्मृ.२।२०) **''अनेकार्थाभियोगेऽपि यावत् संसाधयेद् धनी, साक्षिभिः तावदेव असौ लभते साधितं धनम्''** (याज्ञ.स्मृ.मिता.२।२०) इति अनयोः स्मृत्योः विरोधे सति तद्विरोधपरिहाराय न्यायस्य उत्सर्गापवादलक्षणस्य समर्थत्वं प्रतिपादितम्. तच्च विषयभेदेन तयोः व्यवस्थापनेएव सम्भवति न श्रुत्यर्थबाधे. एवञ्च तर्कस्य श्रुत्यर्थबाधकत्वम् उक्त्वा *अतएव याज्ञवल्क्योऽपि आह* इत्यादिना यत् प्रलपितं तद् असङ्गतमेव. अतएव श्रुतेः सर्वप्रमाणेभ्यः प्राबल्यमपि सङ्गच्छते. यदि तर्कस्य श्रुत्यर्थबाधकत्वम् इत्येव तव आग्रहः तदा शाक्यबुद्धादिप्रदर्शितप्रबलतर्कानुसारेण श्रुत्यर्थबाधम् अङ्गीकृत्य तन्मतमेव कुतो न आशिश्रियः. यत्तु *जीवस्येव इतरस्यापि ब्रह्माभेदेन सर्वोपपत्तौ अन्यतरपक्षपातो अनुचितः* इति उक्तं, तदपि तदैव युञ्ज्याद् यदि यथा इतरस्य ब्रह्माभेदप्रतिपादिका श्रुतिः दृश्यते तथैव तस्य अंशप्रतिपादिका स्वस्वरूपेण नित्यत्वप्रतिपादकापि काचित् श्रुतिः उपलभ्येत. अथवा तर्कस्य श्रुतितः प्राबल्यम् अस्मन्मते स्यात्, तदा त्वदुक्तो दोषः स्यात्. जीवेच अणुत्वांशत्वस्वरूपेण नित्यत्वप्रतिपादकश्रुति-दर्शनात् तत्र पक्षपातः श्रौतानाम् उचितएव. एवञ्च अस्मन्मते **''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''** (भग.गीता.१५।७) इति स्मृतिरपि सङ्गच्छते. त्वन्मतेतु तत्रापि 'अंशइव अंशः'इत्यादिलक्षणाश्रयणे 'सनातना'दिपदस्यापि अर्थान्तरकल्पने गौरवं स्यात्. एवं **''न एषा तर्केण''** इत्यादिप्रामाण्यात् श्रुत्यर्थविरुद्धेन तर्केण श्रुत्यर्थबाधस्य अनुचितत्वात् त्वदुक्ततर्काणाम् अनुपादेयतैव. भ्रान्तिमूलानां साङ्ख्यादिस-मयानां तदुक्तस्मृतिनां च निरासार्थं द्वितीयाध्यायसूत्राणि व्यासैः आरब्धानि

अस्मदाचार्यैश्च व्याख्यातानि. एतेन *श्रुतिविरोधपरिहारार्थं द्वितीयाध्यायसूत्राणि* इति त्वद्विलापोऽपि निरस्तः, श्रुतिसम्मतस्य न्यायस्य विचारादृतत्वाद् *न्यायम् अनादृत्य* इत्यादि असङ्गतं, मोक्षस्य कर्मतत्त्यागोभयसाध्यत्वे इष्टापत्तिः. जीवस्य अनंशत्वन्तु श्रुत्यसम्मतत्वाद् अनुपादेयं जीवस्य अंशत्वन्तु **''मन्त्रवर्णाद्''** (ब्र.सू.२।३।४४) **''अपि स्मर्यते''** (ब्र.सू.२।३।४५) इत्यादिसूत्रैः दृढीकृतं त्वन्मतेतु तयोः सूत्रयोः विरोधोऽपि. त्वदुक्तन्तु पूर्वमेव निरस्तं, जीवस्य ब्रह्माभिन्नत्वन्तु अंशत्वेन तादात्म्यादेव ''भेदसहिष्णुरभेदः तादात्म्यम्''. नच निम्बार्कमतप्रवेशापत्तिः इति वाच्यं, तन्मते भेदस्य वास्तवत्वात्.* भेदाभेदयोः विरोधस्तु वास्तवयोरेव.** एतेन *भेदाभेदयोः विरोधेन एकत्र अनवस्थानाच्च* इति असङ्गतम्. किञ्च ''भेदाभेदयोः विरोधः''इत्यपि सामान्येन न सम्भवति, यत्किञ्चित्प्रतियोगिकभेदवति घटादौ स्वाभेदसत्वात्. नापि तत्प्रतियोगिकभेदः तत्प्रतियोगिकाभेदविरोधी इति संयोगिभेदतद्भेदयोः एकस्मिन् वृक्षे सत्त्वाद् इति अन्यत्र विस्तरः.

---

* पा.टि. यद्यपि अस्मन्मते तादात्म्यघटको भेदो वा अभेदो वा उभावपि वास्तविकावेव. तथापि तादात्म्यमपि क्वचिद् ''मम आत्मा अयं भद्रसेनः'' इतिवत् प्रयोगे स्वाभाविके भेदे अभेदारोपेण, क्वचिद् ''राहोः शिरः''इतिवत् प्रयोगे स्वाभाविके अभेदे भेदारोपेण, क्वचिद् ''घट-घटाकाशौ'' इत्यत्रेव सर्वगताकाशस्थघटोपहिताकाशयोः उभयोरपि औपाधिकत्वेन अस्वाभाविकं तादात्म्यं, वाल्लभे वेदान्तेतु पुनः स्वाभाविके वास्तविके ब्रह्माभेदे सर्वभवनशक्तिमतः तस्यैव ''एकोऽहं बहु स्याम्''इति अकुण्ठसंकल्पवतः सत्यसङ्कल्पितरूपो भेदः इत्येवंरूपं तादात्म्यम् इति विवेकः (सम्पा.).

** पा.टि. 'वास्तवयोः' इति वस्तुस्वभावसिद्धयोः इति अर्थः. वाल्लभे मते ब्रह्मरूपवस्तुस्वभावसिद्धस्तु अभेदएव. तथाच भेदस्तु अतथा सर्वभवनसामर्थ्यसत्यसङ्कल्पाविर्भावतिरोभावादि शक्तिभिः लीलार्थं प्रकटीकृतः कृत्रिमः अन्यथातु भेदो व्यावहारिको प्रातिभासिको वा. अभेदस्तु पारमार्थिकः इति अद्वैतवादीनामपि भेदाभेदवादिता दुष्परिहरा (सम्पा).

[४]यत्तु *विस्फुलिङ्गानां वह्न्यभेदं वदन् एवं प्रष्टव्यः किम् इमे विस्फुलिङ्गात्मकवह्नेः अभिन्नाः उत अपादानवह्नेः. न आद्यः, जीवस्य तादृशदृष्टान्तेन स्वस्मादेव अभेदसिद्धचा ब्रह्मणः तदसिद्धेः* इत्यादि प्रलपितं तदपि अज्ञानात्. विस्फुलिङ्गो वह्निः इत्यादि प्रतीतेः प्रमात्वानुरोधेन वह्न्यभेदो विस्फुलिङ्गे प्रतीयते. तत्र वह्नित्वावच्छिन्नाभेदएव तादृशप्रतीतिविषयः सतु वह्नित्वावच्छिन्नः यत्किञ्चिद् वह्न्यभेदेऽपि उपपद्यते. अन्यथा "घटो द्रव्यम्" इत्यत्रापि अभेदान्वयबोधनापत्तेः द्रव्यत्वावच्छिन्नो यावद्द्रव्याभेदस्य तत्र बाधितत्वात्. किञ्च *विस्फुलिङ्गाः स्वात्मकवह्नेः अभिन्नाः उत अपादानवह्नेः* इत्याकारकः पूर्वपक्षोऽपि असङ्गतो, विस्फुलिङ्गानात्मकवह्नेः विस्फुलिङ्गोपादानत्वासम्भवात्. नहि घटाकारताम् अप्राप्तायाः मृदो घटोपादानत्वं दृष्टम्. एवञ्च यथा विस्फुल्लिङ्गे अग्न्यंशे अग्नित्वं सत्त्वाद् अग्न्यभिन्नत्वमिव जीवे ब्रह्मांशे ब्रह्माभिन्नत्वम् अबाधितमेव इति संक्षेपः. एतेन *अन्त्ये अव्युच्चरणाद् ऊर्ध्वं वा* इत्यादि असङ्गतो विकल्पो निरस्तः. *नच पटेत्यादिस्तु विषमो दृष्टान्तः, पटस्य तन्तूपादानत्वासम्भवात्. 'सर्ववाचक'पदस्य प्रकृते अभावेन सर्वब्रह्माभेदो न सम्भवति* इति कथनम् अयुक्तं, ब्रह्मांशस्य जीवस्य व्युच्चरणात् पूर्वमपि ब्रह्मत्वात्, पश्चादपि ब्रह्मांशत्वेन ब्रह्मत्वात्, पुनरविभागेऽपि ब्रह्मत्वाद्, अस्मन्मते सर्वदैव ब्रह्माभेदः सम्भवति. तथाच त्वदुक्तस्य *कथञ्च अनेन दृष्टान्तेन सर्वदा ब्रह्माभेदवादिनः ते इष्टसिद्धिः* इति पूर्वपक्षस्य अनवकाशः. यच्च *तस्माद् उपाधिनिर्गमनेनैव जीवनिर्गमः* इति स्वसिद्धान्तप्रतिपादनं तत् तुच्छतरमेव, जीवस्यैव औपाधिकत्वे मानाभावात्. किञ्च उपाधेः निर्गतस्य जीवत्वापादकत्वम्? अनिर्गतस्य वा? न आद्यो जीवस्य सादित्वापत्तेः. तथासति संसारस्यापि सादित्वापत्तिः. नापि द्वितीयो अनिर्गतस्य उपाधित्वे मानाभावात्. नच अनिर्गतस्यापि उपाधित्वं स्वीक्रियतेएव इति वाच्यं, तथासति मुक्तानामपि जीवत्वापत्तिः अनिर्गतोपाधीनां कारणात्मना सत्त्वात्. एतेन *घटाकाशवद्*

जीवाविर्भावो युक्तः इत्यपि निरस्तम्. किञ्च घटाकाशवद् जीवाविर्भावस्वीकारे यथा घटाकाशस्य न संज्ञान्तरं तथैव 'जीव'इति संज्ञा तस्य न स्यात्. तस्माद् "औपाधिको जीवः" इति असङ्गतमेव (इति षोडशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः१७ कारणैक्येन कार्यवैचित्र्यानुपपत्तिम् आशङ्क्य भगवदिच्छया इति तत्समाधानम्)

[*सहस्रा. : विद्वः नच एवम् असार्वज्ञ्यानुपपत्त्यादिदूषणग्रासः सर्वज्ञत्वादि-धर्माणां भगवदिच्छयैव तिरोभूतत्वात्. यतः सूत्रकारोऽपि इमामेव आशङ्काम् अपाकर्तुम् एवमेव जगाद "पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोहि अस्य बन्धविपर्ययौ" इति. अस्य जीवस्य ऐश्वर्यादि तिरोहितम्. तत्र हेतुः पराभिध्यानात्, परस्य भगवतो अभितो ध्यानं स्वस्य जीवस्य च सर्वतो भोगेच्छा तस्माद् हेतोः. ऐश्वर्यादि-सद्भावे वैचित्र्याभावाद् भोगो न भविष्यतीति जीवे तिरोभावं कृतवान् स्वधर्माणाम्. ततएव तिरोभावाद् बन्धो भगवद्धर्म-विपरीत-धर्मवत्त्वं च इति अर्थः. ऐश्वर्यतिरोभावाद् दीनत्वं पराधीनत्वं च, वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं, श्रीतिरोभावाद् जन्मादि-सर्वापद्विषयत्वं, ज्ञानतिरोभावाद् देहाद्यहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानम् अपस्मार-सहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्तिः. आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो येन जीवभावः. अतएव "न इतरो अनुपपत्तेः", "भेदव्यपदेशाच्च" इत्यादिना जीवस्य आनन्दमयत्वं न्यषेधत् सूत्रकारः. ननु कारणसाम्ये कथम् एकेषां जडत्वम्, एकेषां चेतनत्वं, जीवे ज्ञानस्यापि तिरोहितत्वेन अल्पज्ञत्वमपि कथम् इति चेत्? अत्र आहुः आचार्याः : सच्चिदानन्दरूपे ब्रह्मणि अस्ति अंशत्रयं स्वरूपभूतं, "सत्यं*

विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म'' इति श्रुतेः. ''यः सर्वज्ञः'' इति श्रुतेः धर्मरूपमपि ज्ञानम् अस्ति इति मन्तव्यम्. 'भगवान्'इति नामव्युत्पत्त्या च. तत्र स्वरूपात्मकेन सदंशेन जडोद्गमः पूर्वम् उक्तः. पश्चात् चिदंशात् तादृशादेव जीवानां तद्रूपाणामेव उद्गमः उक्तः. अतो जडेषु सन्मात्र-कार्यत्वात् चित्तिरोभावः. जीवेच चित्कार्यत्वेन चिद्रूपत्वात् सत्त्वेन च उपलभ्यमानत्वाद् आनन्दांशतिरोभावःएव. एतयोः सच्चितोरपि तिरोभावे स्वरूपहानिरेव स्यात्. तिरोहितन्तु धर्मरूपं 'भग'शब्दवाच्यं ज्ञानम्. अतः सर्वम् अनवद्यम्. अत्र नियामिका भगवदिच्छैव इति ज्ञेयम्. एतयोः भेदाभेद-विचारम् अग्रे वक्ष्यामः (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'नच एवम् असार्वज्ञ्य' इत्यादिः 'विचारम् अग्रे वक्ष्यामः' इत्यन्तः सप्तदशः खण्डः खण्ड्यते :

[१]भगवदिच्छया जीवस्य ऐश्वर्यादितिरोभावे वैषम्यादिदोषो भगवतो भोगेच्छाभावश्च उक्तः. त्वदुक्ते अर्थे सूत्रस्य विषयवाक्यालाभो अतः तत्रस्थ-पद-मात्रार्थ-पर्यालोचने 'अभि-ध्यान'शब्दस्य इच्छायां रूढौ प्रमाणाभावेन योगेन तथा अर्थालाभेन च परस्य अज्ञानस्य अभिध्यानाद् अभिचिन्तनाद् अभिनिवेशात् स्वस्वरूपं तिरोहितं, ततः पराभिध्यानात् तज्जन्यतिरोधानाद् वा बन्धो विपरीतधर्मवत्त्वं च इति सूत्रार्थः. इदञ्च श्रुत्यर्थम् अपर्यालोचन्तं प्रति उक्तम्. वस्तुतस्तु अयम् अर्थः : तिरोहितमपि ईश्वरस्य अभिध्यानात् चिन्तनाद् आविर्भवति इति अध्याहारः. हि = यस्मात् तत = ईशादेव अस्य = जीवस्य बन्धविपर्ययौ = बन्धतदभावौ, ईश्वराज्ञानेन

बन्धः तज्ज्ञानेन तदभावःइति ईश्वरस्य बन्ध-तदभाव-हेतुत्वम्. तथाच श्रुतिः ''ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः, तस्य अभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवलः आप्तकामः''. 'ज्ञात्वा' इत्यस्य उपपत्त्यर्थं पूर्वार्धे 'लभ्यते' इति शेषः. तृतीयं बन्धमोक्षापेक्षया सर्वपाशापहानिः जन्मादिप्रहाण्यपेक्षया वा. तृतीयम् अणिमादिदेहभेदे = देहनाशे क्रममुक्तिः उत्तरार्द्धेन उक्ता. तथाच बन्धतदभावयोः अज्ञातज्ञातेश्वर-प्रयुक्तत्वम्. एवञ्च बन्धस्य अज्ञानप्रयुक्तत्वाद् दीनत्वादिकं तत्प्रयुक्तमेव. ''आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितः'' इति असङ्गतं, जीवभावस्य अनादित्वात्. सादित्वेऽपि पूर्वम् आनन्दांशतिरोभावः ततो जीवभावः ततो विपर्ययौ इति क्रमे मानाभावः. ''न इतरो अनुपपत्तेः'', ''भेदव्यपदेशाच्च'' इति सूत्राभ्यां यथा जीवस्य आनन्दमयत्वं न निषिध्यते, यथाच तस्य अधिकरणस्य अर्थः तथा शारीरकभाष्यभामतीनिबन्धादितो ज्ञेयम्. अस्माभिस्तु विस्तरभिया न प्रतन्यते.

[२]जडानां सदंशादेव उद्भवः इति सत्त्वेन उपलम्भो, जीवानां चित्त्वेन च उपलम्भः इतितु निष्प्रमाणम्. चिन्मात्रकार्यस्य जीवस्य सत्त्वेन प्रतीतौ सन्मात्रकार्यस्य आकाशादेरपि चित्त्वेन प्रतीत्यापत्तिः. सत्कार्यत्वाभावेऽपि जीववदेव सत्त्वेन प्रतीत्युपपत्त्या सत्कार्यत्वस्यापि अनापत्तिश्च अधिकन्तु उक्तं सप्तमश्लोकव्याख्यायाम्.

[३]''न इह नाना अस्ति'' इत्यादि श्रुतिविरोधाद् न निरुपाधौ धर्मरूपं ज्ञानं किन्तु सोपाधावेव त्वन्मते यथा आकाशादेः चितः तिरोभावेऽपि न स्वरूपहानिः यथावा स्वप्नस्य सतोऽपि

तिरोभावेऽपि न सा तथा जीवजडयोः तदहान्युपपत्त्या स्वरूपहान्यापत्त्युक्तिः अयुक्तैव (इति सप्तदशखण्ड-खण्डनम्.)].

प्राभ. : अथ *भगवदिच्छया जीवस्य ऐश्वर्यादीत्यादि* सप्तदशखण्ड-खण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र जीवस्य ऐश्वर्यादितिरोभावेऽपि वैषम्यं न सम्भवति, वैषम्यं नैर्घृण्यं च भेदे सम्भवति नतु आत्मसृष्टौ. ईश्वरः स्वयमेव लीलार्थं स्वेच्छया तत्तद्रूपेण आविर्भूतः पुनश्च मर्यादामार्गानुसारेण तत्तत्कर्मानुसारेण तत्तत्कर्मानुरूपं फलं ददाति कर्म कारयति च इत्यपि लीलैव. अतएव उक्तं **''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्''** (ब्र.सू.२।१।३३) इति. **''एषः ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते एषः उ वा असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषते''** (कौषी.उप.३।८) इतिच त्वन्मते च सर्वस्य मिथ्यात्वाद् न कोऽपि कारयति न कोऽपि करोति नापि लीला इति सर्वश्रुतिसूत्रविप्लवएव. ईश्वरस्य यथा सृष्टीच्छा तथा भोगेच्छापि भवत्येव. नच आप्तकामत्वाद् न भोगेच्छा सम्भवति इति वाच्यं, तर्हि **''बहु स्यां प्रजायेय''** (छान्दो.उप.६।२।३) इति इच्छापि श्रुतिप्रतिपादिता बाधिता स्यात्. यदिच तादृशेच्छा सत्त्वेऽपि तस्य आप्तकामत्वं न हीयते ईश्वरत्वाद् इति उच्यते, तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्. अतएव उक्तं **''सर्वधर्मोपपत्तेश्च''** (ब्र.सू.२।१।३७) इति सर्वधर्माः ब्रह्मणि उपपद्यन्ते सर्वसमर्थत्वाद् इति अर्थः.

[२]यत्तु *सूत्रस्य विषयवाक्यालाभः* इति उक्तं तन्मन्दम्. **''सन्ध्ये सृष्टिः आह हि''** (ब्र.सू.३।२।१) इति सूत्रम् आरभ्य **''देहयोगाद् वा सोऽपि''** (ब्र.सू.३।२।६) इति सूत्रपर्यन्तम् एकमेव अधिकरणं

तस्यच विषयवाक्यम् **''एतस्य वा... पुरुषस्य द्वेएव स्थाने भवतः इदञ्च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीये स्वप्नस्थानम्''** (बृह.उप.४।३।१२) इत्याकारकं तदेव तदधिकरणपरसर्वसूत्राणां विषयवाक्यं च. यदि च प्रतिसूत्रं भिन्नमेव विषयवाक्यम् इत्येव तव अभ्युपगमः तदा **''गौणश्चेद्, न 'आत्म'शब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्''** (ब्र.सू.१।१।५-६) इत्यादिसूत्राणामपि कुतो न विषयवाक्यलाभः तत्र विषयवाक्यादर्शनात्? तस्मात् **''पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्''** (ब्र.सू.३।२।५) इत्यादिसूत्रं विद्वन्मण्डनोक्तरीत्यैव व्याख्याने सङ्गच्छते. **''ध्यै' चिन्तायाम्''** (पाणि.धा.पा.भ्वा.९०८) इत्यादिना चिन्तार्थकत्वेन प्रतिपादितस्यापि 'ध्यै'धातोः अभ्युपसर्गसन्निधानेन इच्छाबोधकत्वं सम्भवत्येव. 'भू'धातोः सत्तार्थकस्य यथा 'अनु'-उपसर्गसन्निधानाद् अनुभवरूपार्थबोधकत्वम् एतेन *'अभिध्यान'शब्दस्य इच्छायां रूढौ मानाभावेन* इत्यादिकस्य त्वदुक्तस्य अनवकाशः. **''उपसर्गेण...''*** इत्यादि वचनस्य प्रमाणत्वात् *परस्य अज्ञानस्य अभिध्यानाद् अभिनिवेशात् स्वरूपं तिरोहितम्* इत्यादिव्याख्यानन्तु स्वमतानभिज्ञ**त्वात् तेन कृतम्. तन्मते अज्ञानस्यैव स्वरूपतिरोभावहेतुत्वं नतु तज्ज्ञानस्यापि. किञ्च **'अभिध्यानाद्'** इति व्यर्थमेव परात् तिरोहितम् इत्यस्यैव सम्यक्त्वात्. किञ्च **''परात्तु तच्छ्रुतेः''** (ब्र.सू.२।३।४१) इत्यादौ **''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्''** (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ ब्रह्मवाचकत्वेन निश्चितस्य 'पर'शब्दस्य अज्ञानवाचकत्वे मानाभावः

---

* पा.टि. उपसर्गेण धात्वर्थो बलाद् अन्यत्र नीयते प्रहाराहारसंहारविहार-परिहारवत्.

** **''अभिध्योपदेशश्च आत्मनः कर्तृत्वप्रकृतत्वे गमयति 'सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति', 'तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय' इतिच. तत्र अभिध्यानपूर्विकायाः स्वातन्त्र्यप्रवृत्तेः कर्ता इति गम्यते. 'बहु स्याम्' इति प्रत्यगात्मविषयत्वाद् बहुभवनाभिध्यानस्य प्रकृतिः इत्यपि गम्यते''** (ब्र.सू.शां.भा.१।४।२४) (सम्पा).

इत्यपि बोध्यम्. *वस्तुतस्तु* इत्यादिना उक्तव्याख्यानेतु आविर्भवति इति अध्याहारे गौरवम्. एवम् ईश्वरात्मज्ञानेन बन्धः चेद्, ईश्वरस्य बन्धं प्रति अन्यथासिद्धत्वात्. 'तच्'छब्देन ईश्वरपरामर्शे कारणत्वबोधकपञ्चम्य-सङ्गतिः. अज्ञानपरामर्शश्च अज्ञानस्य अप्रकृतत्वादेव न सम्भवति. एकस्य 'तच्'छब्दस्य ईश्वरज्ञान-तदज्ञान-बोधकत्वासम्भवेन आवृत्तिकल्पने गौरवं च इति. एवं *बन्धतदभावयोः अज्ञातज्ञातेश्वरप्रयुक्तत्वम्* इत्यपि असङ्गतम्. बन्धस्य अज्ञातेश्वरप्रयुक्तत्वे एकस्य पुरुषस्य ईश्वरज्ञाने सत्यपि तस्य बन्धहानिः न स्यात् तदानीमपि अनेकपुरुषीयाज्ञानसत्त्वेन अज्ञातस्य ईश्वरस्य बन्धहेतोः सत्त्वात्. सर्वमोक्षो वा स्याद् ज्ञातेश्वरस्य सत्त्वात्. यदिच अधुना कस्यापि ज्ञानं न उत्पन्नं यदा उत्पस्यते तदा सर्वमोक्षः इष्टएव इति उच्यते. तदा **''यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तद् अभवद्''** (बृह.उप.१।४।१०) इत्यादि श्रुतिविरोधः इति अलम् अतिविस्तरेण.

[३]यत्तु *जडानां सदंशादेव उद्भवः इति सत्त्वेन उपलभ्यमानजीवानां चित्त्वेन च उपलम्भः इति निष्प्रमाणम्* इति ऊचे, तत्र स प्रष्टव्यः किं जीवानां चित्त्वेन उपलम्भे प्रमाणं नास्ति इति ब्रूषे? अथवा जीवानां चित्त्वेन उपलम्भः तथा जडानामपि स्याद् नियामकाभावात्? इति. आद्ये उपलम्भएव प्रमाणं, प्रमाणेऽपि प्रमाणापेक्षणे अनवस्थाप्रसङ्गात्. द्वितीये चिदंशस्य तिरोभावादेव न जडानां चित्त्वेन प्रतीतिः. तदनभ्युपगमेतु जडत्वानुपपत्तिरेव बाधिका. अतएव आकाशादेः न चित्त्वेन प्रतीत्यापत्तिः. सत्त्वेन चित्त्वेन वा प्रतीतौ किं नियामकम्? इति चेद्, भगवदिच्छैव. तस्याएव सर्वनियामकत्वाद्. अन्यथा त्वन्मतेऽपि घटादिषु चित्त्वेन प्रतीतिः कुतो न, सच्चिदानन्दरूपब्रह्मकार्यत्वाविशेषात्. नच मायाकार्यत्वाद् न तत्त्वेन प्रतीतिः इति वाच्यं, तथासति जीवस्यापि चित्त्वेन प्रतीतिः न स्यात् तस्यापि त्वन्मते मायाकार्यत्वात्. एवञ्च स्वभावविशेषादेरेव

अनुभवानुसारेण नियामकत्वं वाच्यम्. अतएव उक्तं ''**सत्ता चितिः सुखं च इति स्वभावाः ब्रह्मणः त्रयः. मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते न इतरद्वयम्. सत्ता चितिः द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योः घोरमूढयोः. शान्तवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्म इत्थम् ईरितम्**'' (पञ्चद.१५।२०-२१) तत्पूर्वञ्च ''**अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम्** (पञ्चद.१५।१३) इति उक्तम्. तथाच नियामकस्य अवश्यं त्वन्मतेऽपि अपेक्षणीयतया ईश्वरेच्छैव नियामिका अङ्गीकार्या, *किं स्वभावविशेषादिना इति धर्मरूपं ज्ञानं निरुपाधौ न किन्तु सोपाधावेव* इति यद् उक्तं तदपि न सम्यग्, येन उपाधिना सोपाधित्वं स उपाधिरपि निरुपाधौ न स्वीकार्यः किन्तु सोपाधावेवेति तादृशोपाध्योः अभेदे आत्माश्रयो, भेदेच अन्योन्याश्रयानवस्थादिदोषप्रसङ्गात्. तस्य निरुपाधौ अङ्गीकारे च किम् अपराधं ज्ञानरूपधर्मेण? इति (इति सप्तदशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः१८ परमात्मविषये उपस्थितहान्यकृताभ्यागमप्रयुक्तदूषणविचारः)

[*सहस्रा. : विद्व.ननु ब्रह्मस्वरूपाणामेव जीवानां सहजगुणान् तिरोहितान् विधाय मिथ्याज्ञानादिदोषयुक्तत्वकरणेतु उपस्थितहानिः अकृताभ्यागमश्च प्रसज्येत इति चेद्, न, एतयोः जीवकृतावेव जीवएव च दूषणत्वात्. तत्रापि लोकेऽपि अस्वतन्त्रजीवकृतावेव दृश्यते हि लोकेऽपि राज्ञां स्वतन्त्राणां स्वविहारार्थं प्राचीन-विचित्र-भवन-प्राकार-गोपुरादिभङ्गकरणेन तत्रैव अजिरोद्यानादिकरणम्. निजसेवकेष्वपि कदाचित् स्थितस्यापि ऐश्वर्यादेः हरणं पुनः दानं च सेवया सन्तोषे. किंपुनः सकललोकनियामकस्य सकलजगत्कारणकारणस्य भगवतः स्वदासजीवस्य अन्यथाकरणे शङ्का नाम. किञ्च*

एवं सर्ग-स्थिति-संहारेष्वपि भगवतःएव कर्तृत्वात् स्थितं संहृत्य पुनः तथाकरणेऽपि इमौ दोषौ प्रसज्ज्येयाताम्. तथा सति जगतो अनित्यत्वप्रसङ्गः असम्भवःएव वा स्यात्. यतो भगवान् स्वयमेव "ये चैव सात्त्विकाः भावाः राजसाः तामसाश्च ये, मत्तःएव इति तान् विद्धि नतु अहं तेषु ते मयि, त्रिभिः गुणमयैः भावैः एभिः सर्वम् इदं जगद्, मोहितं न अभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम्" इति मायामोहेन स्वाज्ञानम् उक्त्वा स्वेच्छचैव च माया मोहयति इति निरूपणार्थं स्वाधीनत्वं मायायाः "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" इति निरूपितवान्. अतोऽपि भगवदिच्छाधीनतैव बन्धस्यापि. एवं सति यस्मिन् जीवे यादृशी इच्छा तदनुरूपाएव अविद्यादिशक्तयः सत्त्वादिभेदेन तं व्याप्नुवन्तीति महद् ऐश्वर्यं भगवतः. अतएव "महात्मानस्तु मां, पार्थ!, दैवीं प्रकृतिम् आश्रिताः, भजन्ति अनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिम् अव्ययम्" इति भगवता उक्तम्. "भवन्ति भावाः भूतानां मत्तएव पृथग्विधाः", "मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च" इत्यपि. अपरञ्च स्वयौक्तिके अर्थेतु इदं दूषणम् उद्भाव्यं स्याद्, येन तथैव कल्प्येत नतु श्रुतिसिद्धे. राजाज्ञायाः पर्यनुयोगानर्हत्वात्. "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति एष उ वा असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषति" इति श्रुतिरपि इममेव अर्थम् आह, यम् अवोचाम, "यः आत्मनि तिष्ठन् आत्मानम् अन्तरो यमयति" इति च. अतएव "नान्यो अतो अस्ति द्रष्टा" इत्यादिरपि सङ्गच्छते. अन्यस्य स्वतन्त्र-कर्तृत्वाभावात्. अतएव सूत्रकारोऽपि जीवस्य कर्तृत्वं निरूप्य, तत् स्वतएव ईश्वराद् वा इति आशङ्क्य "परातु

तच्छ्रुतेः'' इति सिद्धान्तम् उक्तवान्. अतो अकृताभ्यागमो जीवे न दोषाय सर्वथा परतन्त्रत्वात् (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'ननु ब्रह्मस्वरूपाणाम्' इत्यादिः 'सर्वथा परतन्त्रत्वाद्' इत्यन्तो अष्टादशः खण्डः खण्ड्यते :

[१]तत्र उपस्थित-हान्यादिकरणदूषणस्य न वाचनिकत्वं येन तस्य स्वतन्त्रविषये सङ्कोचः क्रियेत किन्तु परदुःखकरणं लोकतो जुगुप्सितमिति ईदृश-जुगुप्सित-धर्मोऽपि परस्मिन् चेत् त्वया स्वीक्रियते तर्हि सुव्याख्याता विष्णुभक्तिः सुयत्येत च त्वदीयैः श्रेयसे. जडेषु न उपस्थितहानिकृतो दोषो दुःखाभावेन अजुगुप्सितत्वात्. अकृताभ्यागमनन्तु न अस्त्येव इति ''दृश्यते हि'' इत्यादिना तदुदाहरणम् असङ्गतम्. एतेनैव ''किञ्च एवं सर्ग...'' इत्यादि निरस्तम्. सेवकेषु यथा ऐश्वर्यादेः पुनः दानं सेवया सन्तोषे, तथा हरणमपि आज्ञोल्लङ्घनादिभी रोषःएव. अन्यथा अपयशोनरकौ स्यातामेव. तथाच स्मृतिः ''अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यान् चैवापि अदण्डयन्, अयशो महद् आप्नोति नरकं चैव गच्छति''. अतएव सूत्रकारः ''फलम् अतः उपपत्तेः'' इति आह. अस्मन्मतेतु वैषम्यादिपरिहारः तृतीय-श्लोक-व्याख्यायाम् उक्तः.

[२]'माया-मोहेन' इत्याद्युक्त्या ईश्वरेच्छायाः मायाकृतमोहद्वारा कार्यविशेषं प्रति हेतुत्वं स्वीकृतं, तच्च स्वतन्त्रेच्छाहेतुत्ववादस्य सङ्कोचकम् अर्धजरतीय-न्यायापादकञ्च. तन्न्यायपरिहाराय कार्यान्तरेष्वपि मायादिद्वारकहेतुतापादकञ्च.

[३] *''स्वेच्छयैव च'' इत्यत्र 'स्व'शब्दोपादानं शब्दशक्त्यज्ञान-मूलकं मदिच्छयैव इति प्रयोक्तुम् उचितम्. अन्यथा राजाज्ञया सेवकैः चौरादिदण्डने राज्ञा स्वाज्ञाधीनत्वे तस्य ख्यापिते सेवकाः स्वेच्छ्या चौरान् दण्डयन्ति इति ख्यापनार्थं राजा इदं प्रोक्तवान् इति तटस्थः प्रयुञ्जीत. प्रयुङ्क्तेतु सेवकाः मदिच्छया इत्यादि. ईश्वरेच्छावशाद् विद्यादिशक्तयो जीवं व्याप्नुवन्ति परन्तु बीजवद्, ईश्वरेच्छायाः जलवद् हेतुत्वमिति तद्व्याप्तिः अनादिः इत्यादि च प्राग् उक्तम्. 'भवन्ति' इत्याद्यपि एवं व्याख्येयम्. श्रौते अर्थे न इदं दूषणम् उद्भाव्यम् इत्यत्र यद् वक्तव्यं तद् उक्तं प्राक्. ''राजाज्ञायाः पर्यनुयोगानर्हत्वाद्'' इत्यपि स्मृतिविरुद्धम् ''अधर्मतः प्रवृत्तं तं न उपेक्षेरन् सभासदः, उपेक्षमाणाः सनृपाः नरकं यान्ति अधोमुखाः'' इति कात्यायनस्मृतेः. ''एष ह्येव'' इति श्रुतेश्च व्यवस्था उक्तैव. अन्तर्यमनन्तु अपक्षपातेनैव बोध्यम्. ''नान्यो अतो अस्ति'' इत्यादेः स्वतन्त्रकर्तृत्वाभावमात्रपरत्वेतु मुख्यार्थत्यागः स्यात्. सच बाधकं विना अयुक्तो, अन्यथा अतिप्रसङ्गात्. तस्माद् ईश्वराद् द्रष्ट्रादेः भेदनिषेधिकैव इयं श्रुतिः. ''परात्तु तच्छ्रुतेः'' इत्यस्यतु व्यवस्था उक्तैव. तस्मात् त्वदुक्तरीत्या अकृताभ्यागमादिः स्थितएव सच दोषायैव इति स्थितम् (इति अष्टादश-खण्ड-खण्डनम्)*].

प्राभ. : अथ *तत्र उपस्थितहान्यादिकरणदूषणस्य* इत्यादेः अष्टादश-खण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]यद्यपि उपस्थितहान्यादिकरणदूषणस्य वाचनिकत्वं नास्ति तथापि लोके एकमेव आचरणं परतन्त्रस्य दोषरूपं स्वतन्त्रपुरुषेच्छया यदि

तदेव भवति तदा न दोषरूपं इति दृश्यते. यथा राजसिंहासनारोहणं भृत्यस्य दण्डावहत्वाद् दोषः. उक्तञ्च राजसिंहासनारोढुः दुर्दण्डः उत्तमसाहसः. तदेव यदि राजा लीलार्थं स्वभृत्यं सिंहासनम् आरोहयति तदा तदेव आरोहणं न दोषरूपं नापि दण्डावहम्. यद्यद् लोके अनुचितं तत् सर्वम् ईश्वरेऽपि दोषएव इत्येव तव निश्चयः तदा प्राणिहिंसां लोके निन्दावहा. वेदेऽपि **''मा/न हिंस्यात् सर्वभूतानि''** (द्रष्ट.महाभा.३।२१६।५०) इत्यादिना निषिद्धत्वाद् जुगुप्सिता अधर्मरूपा च. साच सर्वप्राणिसंहारकर्तरि परे कुतो न दोषावहा? ननु ईश्वरस्य न प्रलयकर्तृत्वं किन्तु स्वकर्मवशादेव प्राणिनां संहारःइति न अस्मन्मते दोषः इति चेत्, तदा जीववधकर्तरि जीवेऽपि सा न दोषरूपा स्यात्, तस्यापि स्वकर्मणैव मृतत्वात्. **''अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा''** (भग.गीता.७।६) इति वचनविरोधश्च, **''जन्माद्यस्य यतः''** (ब्र.सू.१।१।२) इति सूत्रविरोधश्च एवं स्याद्, ईश्वरस्य प्रलयाद्यकर्तृत्वात्. किञ्च *जीवस्य परत्वाभावात् परदुःखकरणम्* इति असङ्गतम्, ईश्वरएव दाने अदाने अन्यथाकरणे सर्वत्र समर्थःइति ज्ञानवताम् अस्मदीयानाम् अनन्यभावः ईश्वरेएव उत्पद्यते. कर्मभिरेव फलम् उत्पद्यते इति जानतां, सर्वं मिथ्यैव इति जानतान्तु कदापि न ईश्वरे भावो निःश्रेयसे. यत्नोऽपि न जायते प्रत्युत नास्तिक्यं यथेष्टाचरणं च इति. एतेन *किन्तु* इत्यादिकं सर्वं निरस्तम्. राजातु यत्र तस्य स्वातन्त्र्यं तद्विषये दृष्टान्तो नतु वेदादिबोधितपरलोकेऽपीति तत्र तस्य परतन्त्रत्वाद् नरकादिप्राप्तावपि न दोषः. ईश्वरस्तु सर्वत्रैव स्वतन्त्रः तस्माद् निरनुयोगपर्यनुयोगानर्हः. समर्थानां ऋषीणामपि निरनुयोगपर्यनुयोगानर्हत्वं किमुत ईश्वरस्य. अतएव स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेः निरनुयोगाद्यनर्हत्वाद् इति तत्र-तत्र उक्तं सङ्गच्छते. त्वन्मते *वैषम्यादिदोषो दुरुद्धरः* इति उक्तं *प्राक्* त्वदुक्तञ्च तत्रैव दूषितं तृतीयश्लोकखण्डनावसरे.

[२]ननु *मायामोहेन इत्याद्युक्त्या ईश्वरेच्छायाः मायाकृतमोहद्वारा कार्यविशेषं प्रति हेतुत्वं प्रतीयते तच्च स्वतन्त्रेच्छावादिनः तव मते विरुद्धम्* इति चेद्, अत्यल्पम् इदम् उच्यते. मृदादिद्वारा घटादिकं प्रति, घटादिद्वारा जलाहरणादिकं प्रति इति तद्द्वारा तृप्तिं प्रति हेतुत्वेऽपि विरोधो वक्तव्यः. किञ्च ईश्वरस्य स्वतन्त्रकारणत्वे मायायाः कारणत्वे वा तत्तत्कर्मद्वारा तत्फलोत्पत्तिस्वीकर्तृणां न दोषो नापि विरोधः. तस्माद् ''व्यापारेण व्यापारिणो न अन्यथासिद्धत्वम्'' इति न्यायाद् मायादीनां तत्तत्फलोत्पत्तौ व्यापारत्वाद् न दोषः इत्येव सर्वैः स्वीकरणीयम् एवञ्च प्रकृतेऽपि न विरोधः इति दिक्.

[३]यत्तु *स्वेच्छयैव च इत्यत्र 'स्व'शब्दोपादानं शक्त्यज्ञानमूलकम्* इति उक्तं तत् तुच्छं तात्पर्यसत्त्वे तत्रापि बोधे बाधकाभावात्. अतएव **''चैत्रावलोकितं स्वपुत्रं मैत्रः पश्यति इत्यत्र तात्पर्यसत्त्वे चैत्रस्येव मैत्रस्यापि बोधः''** इति * उक्तं भट्टाचार्यैः. यदि तव 'स्व'शब्दस्य शक्तिज्ञानाभिमानो अस्ति तर्हि वक्तव्यं 'स्व'शब्दस्य कुत्र शक्तिः समभिव्याहृते इति चेत्, तदा ''चैत्रः स्वपुत्रं पश्यति'' इत्यत्र यथा चैत्रस्य बोधः तथा ''चैत्रभ्राता स्वपुत्रं पश्यति'' इत्यादावपि चैत्रबोधापत्तिः समभिव्याहृतत्वस्य एकवाक्यघटकत्वातिरिक्तस्य दुर्वचतया चैत्रस्यापि तादृशवाक्यघटकत्वात्. यदिच स्वघटितवाक्यजन्यप्रतीतिमुख्य-विशेष्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्नवाचकत्वं 'स्व'शब्दस्य स्वीक्रियते ''चैत्रभ्राता स्वपुत्रं पश्यति'' इत्यत्र चैत्रस्य तादृशधर्मावच्छिन्नत्वाभावाद् न दोषः इति उच्यते, तदा ''स्वपुत्रदर्शिनं चैत्रं मैत्रः पश्यति''

---

* पा.टि. **''चैत्रेण अवलोकितं स्वपुत्रं मैत्रः पश्यति इत्यादौ चैत्रपुत्रबोधापत्तिवारणमपि... 'चैत्र'पदस्य चैत्रकर्तृके लक्षणया चैत्रः पदार्थैकदेशो नतु पदार्थः इति स्वशब्दाद् न तत्प्रतीतिः, चैत्रेण अवलोकितम् इत्यादौतु तात्पर्यसत्त्वे इष्यतएव ततः तत्प्रतीतिः...''** (शक्तिवादे विशेषकाण्डे)

इत्यादौ चैत्रस्य मुख्यविशेष्यत्वाभावात् तद्बोधानुपपत्तिः मैत्रबोधापत्तिश्च तस्य मुख्यविशेष्यत्वात्. नच महावाक्यार्थबोधे चैत्रस्य विशेषणत्वेऽपि खण्डवाक्यार्थबोधे मुख्यविशेष्यत्वस्य चैत्रे सत्त्वात् तद्बोधानुपपत्तिः इति वाच्यम्, एवमपि ''चैत्रेण स्वपुत्रो दृश्यते'' ''स्वव्यापकवह्निसमानाधिकरणधूमवान्'' इत्यत्र चैत्रधूमयोः बोधानुपपत्तिः दुर्वारैव. तत्र तयोः कथञ्चिदपि मुख्यविशेष्यत्वाभावात्. ननु स्वार्थान्वयितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपित-विशेषणतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्न-स्वपदार्थघटित-विशेषण-विशेष्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्ने च शक्तिद्वयं कल्प्यते तथाच ''चैत्रेण स्वपुत्रो दृश्यते'', ''चैत्रः स्वपुत्रं पश्यति'' इत्यादौ न चैत्रबोधानुपपत्तिः इति चेद्, मैवं, ''चैत्रभ्रात्रा स्वपुत्रो दृश्यते'' इत्यादौ चैत्रबोधापत्तिः पूर्वोक्तधूमबोधानुपपत्तिश्च दुर्वारैव. किञ्च 'स्व'पदार्थम् अज्ञात्वा तादृशधर्मयोः 'स्व'पदार्थघटितयोः ज्ञानासम्भवेन आत्माश्रयादिप्रसङ्गश्च. तथाच *तवापि अन्यथा* इत्यादिकः प्रलापः 'स्व'शब्दशक्त्यज्ञानमूलएवेति अलं विस्तरेण. ''सेवकाः स्वेच्छया'' इत्यादौतु तात्पर्याभावादेव न राज्ञो बोधः. *श्रौतेतु न दूषणम्* इत्यत्र यत् त्वया उक्तं तत् पूर्वमेव निराकृतम्. राजाज्ञायाः पर्यनुयोगानर्हत्वन्तु लौकिकरीत्या न शास्त्रीयरीत्या इति पूर्वमेव उक्तम्. एतेन *राजाज्ञया* इत्यादिकं निरस्तम्. जीवस्य परतन्त्रता **''परात्तु तच्छ्रुतेः''** (ब्र.सू.२।३।४१) इत्यादिना प्रतिपादिता. ईश्वरस्यतु सर्वत्र स्वतन्त्रता **''एषः सर्वेश्वरः... एषो अन्तर्यामि''** (माण्डु.उप.६) इत्यादि श्रुतिशतैः प्रतिपादितं न कश्चिदपि पर्यनुयोगः इति अवधेयम् (इति अष्टादशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).

(खण्डः१९ प्रवृत्तिनिवृत्त्योः जीवादृष्टासापेक्षतां निराकृत्य भगवच्चिक्रीडिषानिबन्धनत्वसाधनम्)

[*सहस्रा. : विद्ध,येतु इमां शङ्कां परिहर्तुं पूर्वं जीवकृतधर्माधर्मसापेक्षःएव ईश्वरः कारयति. अन्यथा ''स्वर्गकामो यजेत'', ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्यादिविधिप्रति-*

षेधानर्थक्यं स्यात्. ईश्वरस्यैव प्रवर्तकस्य निवर्तकस्य च सत्त्वाद्, अतो विधिनिषेधाभ्यामेव प्रवर्तमानं निवर्तमानं च ईश्वरः प्रवर्तयति निवर्तयति च. कस्यचिद् विहिते प्रवृत्तिः कस्यचिद् न, कस्यचिद् निषिद्धाद् निवृत्तिः, कस्यचिद् न, इत्यत्रापि पूर्व-पूर्व-तादृक्कर्मैव निमित्तं, प्रवाहस्य अनादित्वात्. अतो न अकृताभ्यागमो जीवे इति वदन्ति, तेषाम् अनीश्वरवादःएव आपद्यते. नच कर्मणो जडत्वेन फलसमर्पकत्वासम्भवात् तत्समर्पकत्वेन ईश्वरसिद्धिः. अन्यथानुपपत्त्या कल्प्यमानस्य तादृशस्यैव कर्मणः कल्पयितुं शक्यत्वात्. ननु ''कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः'' इति तत्त्वसूत्रात् तथा उच्यते इति चेद्, न, तदर्थानवबोधात्. तथाहि पूर्वोक्तन्यायेन ''परात्तु तच्छ्रुते'' इति पूर्वसूत्रेण ईश्वरादेव कर्तृत्वे निरूपिते प्रवर्तकत्वेन निवर्तकत्वेन च अभिमत-विधि-निषेधे वैयर्थ्यम् आपतितम्. तत्र नहि ईश्वरः साक्षात् कञ्चन प्रवर्तयति निवर्तयति वा, अतः तद्द्वारैव तथा करोति इतितु समाधानं न सङ्गच्छते सर्वस्यैव सन्मार्गवर्तित्वापातात्. तथाच विधिनिषेधसत्त्वेऽपि अप्रवृत्त्यनिवृत्त्योः सत्त्वेन तदुपपत्त्यर्थं पूर्वकर्म-कल्पनन्तु अनुपपन्नं, प्रवाहस्य अनादित्वेन पूर्वपूर्व-कर्मणैव प्रवृत्ति-निवृत्त्युपपत्तौ विधिनिषेध-वैयर्थ्यापातात्. एवञ्च सति प्रामाणिकत्वाभावेन अन्धपरम्परापत्तिः यागादिकरणस्य धर्मत्वहा-निश्च. फलोद्देशाभावेन च तज्जनकत्व-निर्वाहकापूर्व-कल्पने प्रयोजनाभावेन एतस्य च कर्मणो नष्टत्वेन अग्रिमकर्म-प्रवृत्तिनिमित्तमपि निरूपयितुम् अशक्यम्. एतत्समाधानाय प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वं च विध्यादेरेव. ततो जानतामपि अप्रवृत्ति-निवृत्तीतु विचित्रेश्वरेच्छया इति वाच्यम्. एवमपि सति आवश्यकत्वाद् लाघवाच्च ईश्वरेच्छैव तथा अस्तु

कृतं ताभ्याम्. एवञ्च अन्धपरम्परापि न सम्भवति, ईश्वरेच्छाजन्यत्वात्. दृश्यतेऽपि हि विधिम् अजानतोऽपि बालस्य नैसर्गिकी धर्मप्रवृत्तिः. एवमपि सति न निस्तारः. तथाहि नहि ईश्वरः स्वतन्त्र-पुरुषार्थत्वेन कर्म कारयिष्यति किन्तु स्वर्गादि साधयितुम्. तथा सति स्वस्यैव तद्दाने समर्थत्वाद् विहित-निषिद्ध-फलोपपत्तौ विहित-निषिद्धयोः यागब्राह्मणहनन-योः वैयर्थ्यापत्तिः. नच अकृताभ्यागम-दोष-परिहाराय तथा करोति इति वाच्यं, स्वतो जीवस्य कर्तृत्वेहि तत्फलनिरूपणे स दोषो न स्यात्. नतु तादृशं फलं दातुं तादृक्कर्मकारणे स्वतः सर्वथैव असमर्थत्वाद् जीवस्य कृतमपि अकृतप्रायमिति न तत्परिहारःइति ईश्वराधीनं जीवकर्तृत्वं न उपपद्यते इति चेत्, तत्र आह ''कृतप्रयत्नापेक्षस्तु'' इत्यादि. एतदर्थस्तु ''एको अहं बहु स्याम्'' इति प्रपञ्चे/प्रपञ्चेन रमणेच्छया हि भगवान् क्रीडार्थं कृतप्रयत्नः. तदाहि क्रीडैव मुख्या अन्यत् सर्वम् उपसर्जनीभूतम्. तथाच तदपेक्षो भगवान् विचित्ररसानुभवार्थम्, ''एवं यः करिष्यति तम् एवं करिष्यामि'' इति स्वयमेव मर्यादां चकार. ''स्वकृतसेतुपरीप्सया'' इति, ''धर्मसेतूनां वक्ता कर्ता अभिरक्षिता'' इत्यादिवाक्यश्रवणाद् एवम् अवसीयते. ततश्च स्वकृततद्रक्षणाय ज्ञापनाय च वेदं चकार. तथाच जीवोत्पादनसमयेएव ''एनं जीवम्, अस्मिन् देशे, अस्मिन् काले, एतत्प्रयुक्तप्रवृत्तिनिवृत्तिमन्तं विधाय, एतदेतत्फलं दास्यामि'' इति आमोक्षं प्रतिजीवं विचारितवानिति तदनुसारेणैव ते तथा भवन्ति इति एवंप्रकारेण कृतो यः क्रीडार्थं प्रयत्नः उद्यमः जीवादि-वैचित्र्यादि-करणे तदपेक्षः तदधीनःएव कारयति भगवान्. कुतः एतत्? यतो यागादेः विहितस्य प्रतिषिद्धस्य विप्रहननादेः स्वर्ग-नरक-

साधकत्वेन/साधनत्वेन अवैयर्थ्यम् एवमेव भवेत्. अन्यथा ईश्वरस्यैव कारयितृत्वे फलदातृत्वे च उक्तन्यायेन तद्वैयर्थ्यं स्यात्. 'आदि'पदाद् विनापि कर्म तत्फलदानमपि न अतएव. अतएव श्रुतिरपि कर्म-कारणे फलदानेच्छामेव हेतुत्वेन अनुवदति ''यम् उन्निनीषति अधो निनीषति'' इति.

आचार्यास्तु यथा पुत्रं यतमानं बालं वा, पदार्थ-गुण-दोषौ वर्णयन्नपि यत्प्रयत्नाभिनिवेशं पश्यति तथैव कारयति. फलदानार्थं श्रुतौ कर्मापेक्षा-कथनात् फलदाने कर्मापेक्षः कर्मकारणे जीवकृत-प्रयत्नापेक्षः प्रयत्ने तत्कामापेक्षः, स्वर्गादिकामे च लोकप्रवाहापेक्षः कारयतीति न ब्रह्मणो दोषगन्धोऽपि. नच एवम् अनीश्वरत्वं मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्. यत्रतु अन्यथा तत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारः इति आहुः : अयमपि पक्षः स्वकृतमर्यादायाएव हेतुत्वेन कथनाद् मर्यादाकरणे च क्रीडेच्छाम् ऋते हेत्वन्तरस्य असम्भवाद् अस्मदुक्ताद् न अतिरिच्यते. तस्माद् अस्मदुक्तःएव मार्गो न त्वदुक्तः. किञ्च क्रियापूर्वकालीनात्मधर्मस्यैव 'प्रयत्न'शब्दार्थत्वेन वक्तुम् उचित-त्वाद् न धर्माधर्मौ तद्वाच्यौ. किञ्च त्वदुक्तप्रकारे 'विधिनिषेधावैयर्थ्यादिभ्यः' इत्येव स्याद् नतु 'विहित'इत्यादिः इति दिक् (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'येतु इमां शङ्कां परिहर्तुम्' इत्यादिः 'विहित इत्यादिः इति दिक्' इत्यन्तः एकोनविंशः खण्डः खण्डच्यते :

[१]अत्र यत् टीकाकारेण ''कर्मापेक्षेश्वरस्य कारयितृत्वमतं पूर्वमीमांसकानाम्'' इति उक्तं तत्तु भ्रमाद्, जैमिनिना ईश्वरस्य अनङ्गीकृतत्वात्. ''धर्मन्तु जैमिनिः अतएव'' इति सूत्रव्याख्यायां तद्गुरुणापि तथैव प्रलपितत्वात्. तदीयग्रन्थमात्रे

यतमानाः वस्तुतो व्यासोक्तिश्रद्धालवः परं मङ्गलाचरणम् अस्मद्रीत्या चरन्ति इति बोध्यम्. एवञ्च ''तेषाम् अनीश्वरवादःएव'' इत्येतद् व्याख्यायां ''कर्मसापेक्षेश्वरकल्पना-पेक्षया ईश्वरानपेक्षकर्मकल्पनस्य लघुत्वाद्'' इति हेतुकथनमपि टीकाकारस्य परास्तम्, इष्टापत्तेः मीमांसकैः वक्तुं शक्यत्वात्. मूलस्यापि मीमांसकाभिप्रायेण प्रवृत्तौतु सएव दोषः. कर्मापेक्षफलदत्वमते यथा न अनीश्वरवादप्रसक्तिः तथा उक्तं तृतीयश्लोक-व्याख्यायाम्. ''तादृशस्यैव कर्मणः'' इत्यत्र 'तादृश'शब्देन यदि यथोचित-फलसमर्पण-समर्थम् इति उच्यते, तर्हि लोकविरोधो जडस्य तादृशतायाः लोके अभावात्. कल्पनायाः दृष्टानुसारित्वनियमात् च. यदि ईश्वराद्यतिरिक्तः चेतनः तर्हि ''नान्यो अतो अस्ति द्रष्टा'' इत्यादि-श्रुतिविरोधः. तस्मात् कर्मणः ईश-प्रसादादिकं प्रति हेतुत्वम् इति कल्प्यते अन्यथानुपपत्त्येति न काऽपि अनुपपत्तिः. ''फलम् अतः उपपत्तेः'' इति सूत्रकारः 'उपपत्ति'पदं प्रयुञ्जानः उपपत्तेः ईदृशविषयत्वम् ऊचे. तादृशेशप्रसादादिना च प्रवृत्तिनिवृत्तीइति न विधिनिषेध-वैयर्थ्यं, प्रवर्तकपूर्वकम् अर्थं तदपेक्षणात्. तथाच पूर्वकर्मापेक्षामेव उत्तरकर्मप्रवृत्तिं भगवान् आह ''स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा कर्तुं नेच्छसि यद् मोहात् करिष्यसि अवशोऽपि तद्'' इति ''स्वभावस्तु प्रवर्तते'' इति च. 'स्वभावः'=पूर्वकर्म 'प्रवर्तते'=प्रवर्तयति, अन्तर्भावित-णिजर्थः. केषाञ्चित् कर्मणां फलप्रयोजककर्म प्रत्येव हेतुत्वात् स्वविषयकविधिनिषेधशास्त्राभावे कर्मणो धर्माधर्मत्वयोः असिध्या फलप्रयोजकत्वाभावेन अप्रवर्तकत्वे निवर्तकत्वे च शास्त्रयोः विधित्वनिषेधत्वयोः अनुपपत्त्या स्वरूपमात्रस्य अकिञ्चित्करत्वेन स्वज्ञानद्वारा विधेः निषेधस्य च प्रवर्तकतायां

निवर्तकतायां च तद्वैयर्थ्यम् आपादयितुम् अशक्यम्. बालानां केषाञ्चित् पित्रादिवाक्यं तद्वाक्यप्रयोजकज्ञानहेतुशास्त्रं वा प्रवृत्तिनिवृत्तिकरं केषाञ्चित्तु संस्कारद्वारा पूर्वजन्मसञ्चितशास्त्र-ज्ञानं तथेति इति न दोषः. मन्दानां कर्मणां सहायकम् अन्तरेण फलदातृत्वाभावाच्च विध्यादिज्ञानापेक्षा, तथाहि त्रिविधानि खलु कर्माणि भवन्ति अत्युग्राणि उग्राणि मन्दानि च. अत्युग्राणान्तु इहैव फलम्. ''अत्युग्रपुण्यपापानाम् इहैव फलम् अश्नुते'' इति वाक्यात्. उग्राणान्तु असति प्रतिबन्धके सहायम् अन्तरेण जन्मान्तरे तान्येव 'प्रारब्ध'पदवाच्यानि. मन्दानान्तु इतरसाहाय्येन फलदातृत्वम्. ''अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म'' इति वाक्ये 'कर्म'पदेन प्रारब्धं गृह्यते. 'अवश्यम्' इत्यस्य सहायकाभावेऽपि इति अर्थः. तथाच प्रारब्धानां कण्ठतो मन्दानाम् 'अवश्यं'पदोपादानेन सिद्धिरिति अन्यत्र स्पष्टम्. तानिच पुनः त्रिविधानि पुण्यपापयोः प्रवर्तकानि. तत्र प्रवृत्तिप्रतिबन्धकानि भोगदानि च. एवञ्च विधिनिषेधौ जानतामपि प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावौतु तत्तत्प्रतिबन्धककर्मप्रयुक्तेश्वरेच्छावशाद् वा पूर्वकर्माभावप्रयुक्तेश्वरेच्छाभावाद् वा इति बोध्यम्. लाघवन्तु इदम् अप्रयोजकं, वैषम्यादिदोषग्रस्तत्वात्, फलमुखस्य कल्पनागौरवस्य अदोषत्वाच्च. अन्यथा शून्यवादापत्तिः इति उक्तम्. ईश्वरेच्छायाः प्रयोजकत्वेतु अन्धपरम्परैव विध्याद्यनपेक्षत्वाद्, बालकेषु नैसर्गिकप्रवृत्तिदर्शनस्य त्वयैव उक्तत्वात्.

[२]यत्तु ''जीवसृष्टिकाले कृतो यो मर्यादारूपो यत्नः तस्य सत्यत्वार्थं यागादिसाफल्यम्'' इति उच्यते, तद् न, त्वदुक्तरीत्या फलस्यापि प्रतिजीवं तदैव विचारिततया कर्मणो अकरणेऽपि तत्सम्भवेन कर्मकरणविषयकेच्छायाः निष्फलत्वात्. इच्छामात्रेण

कर्मणः फलं जायते इति त्वदुक्त्या सिध्यति. तत्रच व्यतिरेकाभावे कर्मणो अन्याथासिद्धिरेव दुग्धं प्रति गोकर्णमूलस्येव ईश्वरेच्छाभावेनैव फलाभावस्य सिद्धत्वात्. वास्तवसूत्रार्थस्तु पूर्वम् उक्तो अवास्तवार्थो दूषितश्च. तदधीनएव कारयतीति उक्तव्यापारान्तरं निष्फलं पूर्वसङ्केतेनैव सर्वसामञ्जस्याद् ईदृशव्यापारविषयापि तदानीम् इच्छा अभूद् इत्यपि कल्पना व्यर्था गुर्वी च. अस्मादपि त्वदुक्तः तत्र अर्थो न युक्तः. ''अन्यथा ईश्वरस्य'' इत्याद्यपि असङ्गतम्. अन्यथापि सार्थकत्वस्य उक्तत्वात्. ''यम् उन्निनीषति'' इत्यादि-श्रुत्यर्थोऽपि उक्तः प्राक्. एतेन ''साधनानि स्वरूपञ्च सर्वस्य आह श्रुतिः फलं, न प्रवर्तयितुं शक्ताः तथा चेद् नरको नहि'' इति निबन्धाद्युक्तं प्रत्युक्तम्.

[३] 'आचार्यास्तु' इति उक्त्वा लिखिते ग्रन्थे 'पुत्रादि'शब्दत्रयात् कथं द्वितीया ? वर्णयते ब्रुवति समानार्थत्वाभावाद् 'दुह् याच्...' इत्यस्मिन् परिगणने भाष्ये याचेः पृथग् भिक्षेः ग्रहणेन अर्थग्रहणस्य अमूलत्वाच्च. कथञ्च ''तथैव निर्माणत्वाद्'' इति भावप्रत्ययसङ्गतिः ? अस्मिन्मते पुत्रादेः प्रयत्नाभिनिवेशः किं कृतः इति वक्तव्यम्. यदि ईशकृतः तर्हि अभिनिवेशकारणोत्तरं कारणम् इति सिद्धयति. नच ईदृशं तन्मतस्वारस्यम्. यदि अन्यकृतः तर्हि ईश्वरस्य सर्वकर्तृत्वहानिः. ''कामे च लोकप्रवाहापेक्षः'' इत्यनेन किं लोकप्रवाहेण जीवस्य यः कामः तं सः उत्पादयति इति उच्यते ? किंवा परमेश्वरो लोकप्रवाहं वीक्ष्य कामम् उत्पादयति इति ? न आद्यो, लोकप्रवाहसत्त्वेऽपि विरक्तानां कामानुत्पत्तेः तस्य तत्र अहेतुत्वात् प्रमाणाभावाच्च. न द्वितीयः, तत्र लोकप्रवाहस्य हेतुत्वं प्रकल्प्य

कर्मणो हेतुत्वबोधकानां दुर्दशाकरणापेक्षया कर्मणएव हेतुत्वक-ल्पनाया: उचितत्वात् सापेक्षताया: अङ्गीकृतत्वात्.

[४]*किञ्च अस्मिन् मर्यादामार्गे हरेः अनीश्वरत्वम् अमर्यादामार्गरूपपुष्टिमार्गेश्वरत्वम् इति स्थितम्. एवञ्च अन्यतरस्य अप्रामाणिकत्वं वाच्यं, वस्तुनि विकल्पस्य अयुक्तत्वात्. एतत्पक्षस्य स्वोक्ताद् अनतिरिक्तत्वप्रदर्शनप्रयासो-ऽपि अनुपपन्नः. स्वकृतमर्यादायाः तत्पक्षे हेतुत्वाकथनात्. लोकप्रवाहपर्यन्तमेव तद्भ्रमणदर्शनात्. 'लोकप्रवाह'शब्देन मर्यादाग्रहणेतु श्लाध्यं व्याख्याकौशलम्. क्रीडेच्छाया: अहेतुत्वम् अतिरिक्तस्य च हेतुत्वम् उक्तं प्राक्. अदृष्टं न अस्माभिः इष्यते इति उक्तम्. 'प्रयत्न'शब्देन व्यापारविशेषो गृह्यते सोऽपि न आत्मधर्मः इति आस्तां तावत्. अस्मन्मतेच कर्मणां हेतुत्वमिति 'विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' इति सङ्गतं, विहितत्वादेः तेषु सत्त्वात् (इति एकोनविंशखण्डखण्डनम्)*].

प्राभ. : अथ *यत्तट्टीकाकारेण* इत्यादेः उनविंशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]तत्र टीकाकारोक्तं पूर्वमीमांसकमतं दूषणाय उपक्षिपति इत्यादिकम् अनूद्य तत्र दूषणं "जैमिनिनां ईश्वरानङ्गीकाराद्" इत्यादिना उद्भावितम्. तदपि जैमिनिमतं अज्ञात्वैव यथा व्यासमतम् अज्ञात्वैव जगतो मिथ्यात्वं जीवस्य कल्पितत्वम् इत्यादि प्रलपितम्. तथैव जैमिनिमताज्ञातृभिः कैश्चिद् वादिभिः ईश्वरस्य अनङ्गीकृतत्वेऽपि पार्थसारथिमिश्रादिभिः ईश्वरस्यापि सहकारित्वोपगमात् तेषामपि जैमिनिसूत्रव्याख्यातृत्वेन जैमिनिमतप्रकाशकत्वात् तदीयग्रन्थान् अदृष्ट्वा जैमिनिना इत्यादिदोषम् उद्भावयन् उपेक्ष्यः. अतएव पार्थसारथिमिश्रैः स्वकृतव्याख्याने मोक्षोऽपि

निरूपितः. श्रवणमननादिनाम् उपयोगोऽपि 'औत्पत्तिक'सूत्रव्याख्यायां सम्यक्तया प्रतिपादितः, तट्टीकाकारेण सम्यक्तया व्याख्यातश्च इति. एवञ्च तन्मतम् अभिप्रेत्यैव अयं *येतु इमाम्* इत्यादिना उपक्षेपः. ग्रन्थगौरवभयात्तु तत् सर्वं न अत्र उक्तम्. ''**धर्मं जैमिनिः अतएव**'' (ब्र.सू.३।२।४०) इति सूत्रेऽपि ''कर्मणां फलदातृत्वम् आवश्यकम्, अतः कर्मणामेव मुख्यत्वं न ईश्वरस्य'' इति उक्तं न एतावता ईश्वरो नास्त्येव इति. येतु विधिनिषेधाभ्याम् ईश्वरः प्रवर्तयति निवर्तयति इति अङ्गीकुर्वन्ति तन्मते अनीश्वरवादादपि न इष्टापत्तिः सम्भवति. तत्र आपाद्यव्यतिरेकस्य निश्चितत्वात्. एतेन *इष्टापत्तेः मीमांसकैः वक्तुं शक्यत्वाद्* इत्यादिकम् अपास्तम्. ईश्वरानङ्गीकर्तृमीमांसकमतस्य अप्रकृतत्वात्. किञ्च अनीश्वरवादापत्तिरूपं दूषणं त्वन्मतेऽपि सम्भवति त्वयापि कर्मसापेक्षस्य ईश्वरस्य फलदातृत्वं स्वीकृतम्. एवञ्च ईश्वरस्य अनीश्वरत्वमपि स्याद्, नहि पराधीनेश्वरत्वं सम्भवति अन्यथा जीवानामपि कुतो न ईश्वरत्वम्? यत्तु *'तादृश'शब्देन यथोचितफलदानसमर्थम् इति उच्यते, तर्हि लोकविरोधो जडस्य तादृशतायाः लोके अभावाद्* इति उक्तं तदपि अज्ञानाद्, नहि लोकप्रसिद्धमेव अन्यथानुपपत्त्या कल्पनीयम् इति नियमः. तथासति स्वर्गजनकस्यापि लोके अप्रसिद्धत्वाद् अदृष्टमपि न सिद्धचेत्. लोकप्रसिद्धत्वे च अपूर्वत्वहानिः. एवञ्च वेदबोधितकारणत्वा-न्यथानुपपत्त्या यथा अपूर्वं कल्प्यते तथाच यादृशेन अन्यथानुपपत्तिः परिहृता भवति तादृशमेव कल्पनीयम्. अन्यथा पूर्वकल्पनं व्यर्थमेव स्याद् इति आशयः. कल्पनायाः लोकानुसारित्वे कल्प्यमानस्य अलौकित्वानुपपत्तिरेव दोषः. तस्माद् लौकिकी कल्पनैव लोकानुसारिणी न वैदिकी इति. *तस्माद्* इत्यादिना ईशप्रसादादिकं प्रत्येव कर्मणः हेतुत्वम् इति स्वसिद्धान्तः आविष्कृतः सोऽपि तत्सिद्धान्तविरुद्धः, ईश्वरे तोषादिस्वीकारे निर्धर्मकत्वहानिः ईश्वरतोषस्य जन्यत्वापातः च. तोषस्यापि वृत्तिविशेषत्वाद् जन्यत्वेऽपि न दोषः इति उक्तौतु ''**सत्यकामः**

सत्यसङ्कल्पः'' (छान्दो.उप.८।७।१) इत्यादिः श्रुतिविरोधः इति. तथाच ईश्वरप्रसादादिकं प्रति कर्मणां हेतुत्वासम्भवाद् ईश्वरेच्छयैव प्रवृत्तिरिति बाह्यत्वपरिहारार्थं त्वया वाच्यम्. एवञ्च तयैव सर्वकार्यसम्भवे किं कर्मभिः इति विधिनिषेधवैयर्थ्यं त्वन्मते दुर्वारमेव. अस्मन्मतेच वेदोक्तरमणस्य स्वार्थकृता या मर्यादा तदनुरूपेण कर्मफलदातृत्वात् तत्कर्मकारयितृत्वाच्च न विधिनिषेधानां वैयर्थ्यं, मर्यादाबोधकत्वाद् इति सङ्क्षेपः. यदिच ''**स्वभावस्तु प्रवर्तते**'' (भग.गीता.५।१४) इत्यस्य *'स्वभावः'=पूर्वकर्म 'प्रवर्तते'=प्रवर्तयति* इति अर्थानुसारेण कर्मणामेव प्रवर्तकत्वम् इति उच्यते, तदा तेषामेव हेतुत्वोपपत्तौ किम् ईश्वरेणेति तवापि ईश्वरसिद्धिः न स्याद्, जडस्य चेतनं विना फलजनकत्वं नास्ति इत्यपि दृष्टानुसारिणः तव न सम्भवति. नियमो जडस्यापि जलस्य कूलादिपातनरूपफलजनकत्वात् तत्र प्रत्यक्षस्य चेतनस्य सहकारिणो अभावात्. किञ्च ''**एष ह्येव असाधु कर्म कारयति**'' (कौषी.उप.३।८) इति श्रुतौ न कर्मभिः सन्तुष्टः कारयति इति बोधजनकं पदम् अस्ति, येन त्वदुक्तः प्रीणन् कारयति इति अर्थः स्यात्. एवञ्च कर्मभिः ईश्वरतोषः तेन ईश्वरस्य इच्छा तयाच कर्मकरणं तेन फलोत्पत्तिः इति अन्धपरम्पराकल्पनन्तु गौरवापादकत्वाद् अयुक्तमेव. यत्तु *बालानां केषाञ्चित् 'पित्रादि'वाक्यं तद्वाक्यप्रयोजकज्ञानहेतुशास्त्रं वा प्रवृत्तिनिवृत्तिजनकं केषाञ्चित्तु संस्कारद्वारा पूर्वजन्मसञ्चितशास्त्रज्ञानं तथेति न दोषः* इति तद् मन्दं, ''**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु**'' (ब्र.सू.२।३।४२) इति सूत्रे बालस्य दृष्टान्तत्वेन उपादानन्तु सर्वेषां बालानां *केषाञ्चिद्* इत्यादि येन त्वत्प्रलपितं सङ्गतं स्यात्. तथाच यस्य बालस्य प्रवृत्तिः पित्रादिवाक्यात् त्वत्सम्मता, तस्यैव दृष्टान्तत्वसम्भवे अधिकं व्यर्थमेव. तद्वाक्यप्रयोजकज्ञानहेतुशास्त्रस्य बालप्रवृत्तिहेतुत्वं न सम्भवति. कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्यसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवतएव कारणत्वात्. अन्यथा पाकादिकं प्रति तण्डुलादिसम्पादनद्वारा चैत्रस्यापि हेतुत्वसम्भवात् ''चैत्रस्य

तण्डुलं पचति मैत्रः'' इत्यादौ ''चैत्रः पचति'' इत्यादि प्रयोगापत्तिः. ''चैत्रो मैत्रेण पाचयति'' इत्यादिस्थले च ''चैत्रः पचति'' इति प्रयोगापत्तिः, तस्यापि परम्परया पाकादिहेतुत्वात्. तस्मात् तादृशस्थले मैत्रप्रयोजकव्यापारस्य पाकादिकं प्रति अन्यथासिद्धत्वमेव वक्तव्यम्. एवम् अत्रापि पित्रादिवाक्यव्यवहितस्य तत्प्रयोजकज्ञानव्यवहितस्य शास्त्रस्य अन्यथासिद्धत्वमेव. कार्याव्यवहितप्राक्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणे तदभावस्य सत्त्वात्. नच स्वजन्यज्ञानजन्यवाक्यार्थविषयकज्ञानवत्त्वसम्बन्धेन बालप्रवृत्यव्यवहितप्राक्षणेऽपि शास्त्रस्य सत्त्वात् तस्य कारणत्वानुपपत्तिः. नच साक्षात्सम्बन्धेन कार्याधिकरणवृत्तेरेव कारणत्वम् इति वाच्यं, दण्डस्य घटकारणत्वानुपपत्तेः तस्यापि घटाव्यवहितपूर्वक्षणावच्छेदेन घटाधिकरणे कपाले स्वजन्यभ्रमीजन्यतासम्बन्धेन वर्तमानत्वात् तस्य साक्षात्सम्बन्धत्वाभावाद् इति चेद्, न. ''**अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनएव कारणत्वं तद्भिन्नस्य च अन्यथासिद्धत्वम्**'' (न्याय.सि.मु.प्र.खं.१६) 'अवश्यक्लृप्त'त्वञ्च लघुभूतएव नतु गुरौ. गुरुत्वञ्च उपस्थितिकृतं क्वचित् सम्बन्धकृतं क्वचित् शरीरकृतम्, अतएव दण्डत्वस्य न कारणत्वम्. तस्य स्वाश्रयजन्यभ्रमीजन्यता सम्बन्धेनैव कारणत्वं वाच्यम्. सच सम्बन्धो दण्डसम्बधापेक्षया गुरुः, एवञ्च दण्डत्वं न आवश्यक्लृप्तं सम्बन्धगौरवाद् दण्डश्च आवश्यक्लृप्तः सम्बन्धकृतलघुत्वात्. तथैव प्रकृते पितृवाक्यसम्बन्धापेक्षया शास्त्रसम्बन्धस्य पितृवाक्याघटितस्य गुरुत्वाद् न शास्त्रम् अवश्यक्लृप्तं किन्तु अन्यथासिद्धमेव इति. नच एवं यागस्य स्वर्गं प्रति कारणत्वं न स्यात् तस्य स्वर्गपूर्वक्षणे अभावात् परम्परासम्बन्धस्य च गुरुत्वाद् इति वाच्यं, यागस्य श्रुतिविरोधिकारणत्वरक्षार्थं स्वजन्यापूर्ववत्त्वसम्बन्धेनैव पूर्ववृत्तित्वकल्पनाद् इति अन्यत्र विस्तरः. एतेन *केषाञ्चित् संस्कारद्वारा पूर्वस्य जन्मसञ्चितशास्त्रज्ञानं हेतुः* इति प्रलपितमपि अपास्तम्. *मन्दानां कर्मणां सहायकम् अन्तरेण फलदातृत्वाभावाच्च विद्यादिज्ञानापेक्षा* इति यद् उक्तं तदपि अज्ञानादेव विद्यादिज्ञानस्य

प्रवृत्तिहेतुत्वेऽपि फलं प्रतिहेतुत्वासम्भवात्. फलं प्रतितु त्वन्मते कर्मणामेव हेतुत्वम्. अतएव विधेः प्रवर्तनात्वप्रवादोऽपि सङ्गच्छते. प्रवर्तनाच प्रवृत्त्यनुकूलो व्यापारएव नतु फलानुकूलः इति, त्रिविधानि खलु कर्माणि इत्यादिना कर्मत्रैविध्यं यत् प्रतिपादितं तद् निर्मूलं व्यासादिभिः तथा अप्रतिपादितत्वात्. यद्यपि व्यासैः योगभाष्ये **''सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म (इति) तत्संयमाद् अपरान्तज्ञानम् अरिष्टेभ्यो वा''** (योगसू.भा.३।२२) इति सूत्रे कर्मद्वैविध्यं निरूपितम्. तत्र ''ध्यानजन्म'' इति सूत्रे च कर्म शुक्लकृष्णयोगिनः त्रिविधम् अन्येषां चतुष्पात् खलु इयं कर्मजातिः इत्यादिना त्रैविध्यादि निरूपितं तथापि तस्य त्वदुक्ता उग्रात्युग्रादयोः भेदाः न दर्शिताः, तस्माद् न किञ्चिद् एतत्. एवञ्च पुनः त्रिविधानित्याद्यपि स्वकपोलकल्पितमेव. तत्प्रतिबन्धककर्मप्रयुक्तेश्वरेच्छावशाद् इत्यादिना तादृशेच्छायाः कारणत्वं यद् उक्तं तत्कल्पनापेक्षया ईश्वरेच्छामात्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिभावहेतुत्वकल्पने लाघवं वैषम्यादिदोषस्तु उद्धृतःएवेति फलमुखगौरवस्य अदोषत्वाद् इति यद् उक्तं तच्च शास्त्रहृदयानभिज्ञत्वादेव. तथाहि 'फलं'=कार्यकारणभावग्रहः तन्'मुखं'=तदधीनं 'गौरवं'=गौरवज्ञानं तद् अदोषो भवति इति तदर्थः. एवञ्च कार्यकारणभावोत्तरं यद् गौरवज्ञानं तद् न कार्यकारणभावज्ञानप्रतिबन्धकं भवति नतु कारणत्वग्रहकालेऽपि गौरवज्ञानं न प्रतिबन्धकम् इति कस्यापि सम्मतम्. अन्यथा गौरवस्य दोषत्वं न स्यात्. अतएव **''उक्तव्याप्तिप्रकारेषु अन्योन्याभावगर्भैव व्याप्तिः अनुमितिहेतुः लाघवाद्''** (तत्त्वचिं.अनुमानखण्ड व्याप्त्यनुगमप्रकरणम्) इत्यादि चिन्तामणिप्रतिपादितमपि सङ्गच्छते. त्वदुक्तरीत्यातु प्रतियोगिवैयधिकरण्यादिघटितात्यन्ताभावगर्भ- व्याप्तिज्ञानस्यापि कारणत्वे दोषाभावात् तद् असङ्गतमेव स्यात्. एवञ्च कल्पनागौरवविषयमेव तत् नतु अवच्छेदकगौरवेऽपि. *शून्यवादापत्तिस्तु* सर्वं मिथ्या इति वदतां मतएव नतु वैदिकानाम्.

[२]यदपि *जीवसृष्टिकाले कृतो यो मर्यादारूपो यत्नः तत्सत्यत्वार्थं यागादिसाफल्यम्* इत्यादि विद्वन्मन्डनोक्तम् अनूद्य तत्र दोषः उद्भावितः *कर्मणो अकरणेऽपि तत्र फलस्यापि प्रतिजीवं तदैव विचारिततया ईश्वरेच्छया फलस्य उत्पत्तिः भविष्यत्येव इति कर्मणो अन्यथासिद्धिः* इत्यादिना सोऽपि मर्यादास्वरूपाज्ञानात्. नहि सृष्ट्यादौ ईश्वरेण ईदृशी मर्यादा कृता कर्मकरणं विनापि फलं भविष्यति इति. तादृशमर्यादाबोधकश्रुतेः अभावाद् ईश्वरकृतमर्यादाबोधकएव वेदः. अतएव यद् वेदानुसारेण कृतं तद् ईश्वरेच्छयैव कृतम् इति तथाच ईश्वरेण "**ज्योतिष्टोमेन यजेत दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत**" ( ) इत्यादिरीत्या दर्शितमर्यादाक्रमेणैव फलं विचारितम्. अतः तत् कर्म अकुर्वतां न फलसिद्धिः इति सङ्क्षेपः. *ईश्वरेच्छाभावेनैव फलाभावस्य सिद्धत्वाद्* इत्यपि असङ्गतं, फलाभावेऽपि ईश्वरेच्छायाएव हेतुत्वात् त्वदुक्तस्तु अर्थो न सम्भवति. *जीवकृतप्रयत्नापेक्षः कारयति* इति यद् उच्यते तत्र जीवेन कृतो यः प्रयत्नः सः स्वयमेव कृतो? वा ईश्वरेण कारितः? इति वक्तव्यम्. यथा स्वयमेव पूर्वं तेन प्रयत्नः कृतः तथैव अधुना कार्यं सम्पादयिष्यति इति किम् ईश्वरेण? द्वितीयेतु ईश्वरस्य प्रयोजकत्वं कृतप्रयत्नापेक्षमेवेति अनवस्था. किञ्च यथा "चैत्रः पचति तं मैत्रः प्रेरयति मैत्रः पाचयति" इति यदि उच्यते तदा मैत्रो यथा तृप्त्यादिरूपं स्वप्रयोजनम् उद्दिश्य प्रेरयति तथा ईश्वरोऽपि किम् उद्दिश्य प्रेरयति इति प्रयोजनं वक्तव्यम्. नहि आप्तकामस्य किञ्चिदपि सम्भवति तस्माद् लीलैव प्रयोजनम्. एवञ्च अस्मद्रीत्यैव अर्थः त्वयापि वाच्यो अन्यथा दोषः स्याद् इति *तदधीनएव कारयति इति उक्तम्. व्यापारान्तरं निष्फलम्* इति यद् उक्तं तदपि न किञ्चित् पूर्वं कृता या मर्यादा तदनुसारेण जीवान् प्रवर्तयति इत्यपि लीला न पर्यनुयोज्या लोके तथैव दृष्टत्वात्. राजापि लीलार्थं कृतमर्यादानुसारेण प्रवर्तयति तत्र प्रवर्तनञ्च योगक्षेमसाधारणम् अन्यथा मर्यादाभंगः स्याद् अतो न वैयर्थ्यम्.

[३]यत्तु *आचार्यास्तु इति उक्त्वा लिखिते ग्रन्थे 'पुत्रादि'शब्दत्रयात् कथं द्वितीया ?* इत्यादिप्रश्नः तत्र उच्यते **''अकथितञ्च''** (पाणि.सू.१।४।-५१) इति सूत्रेण तत्र द्वितीया. नच **''दुह्-याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चिञ्-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषां, कर्मयुक् स्याद् अकथितं तथा स्याद् नी-ह्व-कृष्-वहाम्''** (पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१) इत्यादिना परिगणिता-नामेव इयं सङ्ज्ञा न अन्येषाम् अन्यथा परिगणनस्य वैयर्थ्यापत्तिः तथाच वर्णयतेः तत्र अगणनात् कथं 'कर्म'संज्ञा इति वाच्यं, तथासति **''माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते''** (पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१) इत्यादावपि माणवकस्य 'कर्म'संज्ञा न स्यात्. भाषिवच्यादीनामपि तत्र अगणनात्. तस्मात् परिगणितधातुसमर्थानां धातूनां यत्कारकम् अपादानत्वादिविशेषणरूपेण आभासमानं तत्र द्वितीया इति तदर्थः. तथाच वर्णयतेरपि परिगणित'ब्रू'धातुसमानार्थकत्वाद् वच्यादीनामिव तत्कारकेऽपि द्वितीयोपपत्तिः. अतएव उक्तम् **''अर्थनिर्बन्धना इयं संज्ञा''** (पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१) इति. नच भाष्ये याचेः पृथग्, भिक्षेः ग्रहणाद् न अर्थनिबन्धनत्वम् एतत्संज्ञायाः इति वाच्यं, भाष्यासम्मत्वेऽपि प्राचीनसम्मतत्वात् तादृशप्रयोगस्य साधुत्वं भवत्येव. अतएव उक्तं शेखरे **''भाष्यानुक्तानाम् अत्र ग्रहणं प्राचाम् अनुरोधेन अर्थनिबन्धना इयम् (इत्यपि) कैय्यटानुरोधेन''** (लघु.शे.का.प्र.द्वि.वि.) इति. वस्तुतस्तु भाष्यादिप्रयोगस्य आर्षत्वाद् न तत्र तर्कावकाशः. नच भाष्यकर्तृणां ऋषित्वे किं प्रमाणम् इति वाच्यं, **''सप्तर्षिनागवीथ्यन्तः देवलोकं समाश्रिताः, तावन्तएव मुनयः सर्वारम्भविवर्जिताः, तपसा ब्रह्मचर्येण सङ्गत्यागेन मेधया, तत्र गत्वा अवतिष्ठन्ते यावद् आभूतसम्प्लवं, यतो वेदाः पुराणानि विद्या उपनिषदः तथा श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यत् किञ्चन वाङ्मयम्''** (याज्ञ.स्मृ.३।१८७-१८९) इत्यादियाज्ञवल्क्य-वचनस्यैव प्रमाणत्वात्. एवञ्च तएव ऋषयोः लुप्तानि भाष्यादीनि प्रकटीभूय पुनः प्रवर्तयन्ति. अतएव वेदादीनां नित्यत्वमपि इति सङ्क्षेपः.

"फलदाने कर्मापेक्षः कर्मकारणे जीवकृतप्रयत्नापेक्षः" इत्यादिकन्तु मर्यादास्वरूपप्रपञ्चः. तेन *अस्मिन्मते पुत्रादेशः प्रयत्नाभिनिवेशः किंकृतः इति वक्तव्यम्* इत्यादिदूषणम् अनवकाशम्. सर्वस्य ईश्वरकृतमर्यादाधीनत्वेन ईश्वरकृतत्वात्.

[४]*किञ्च* इत्यादिना *मर्यादामार्गे ईश्वरस्य अनीशत्वं* यद् उक्तं तदपि लोकशास्त्रानभिज्ञत्वादेव. नहि लोके राज्ञां स्वकृतमर्यादानुसारेण वर्तमानानाम् अनीश्वरत्वम्. गीतायाञ्च **"न मे पार्थ! अस्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन, न अनवाप्तम् अवाप्तव्यं वर्तएव च कर्मणि"** (भग.गीता.३।२२) इति. एवञ्च स्वकृतमर्यादारक्षणार्थं स्वमर्यादानुसरणेऽपि न ईश्वरत्वहानिः. क्वचित् तथाकरणन्तु ईश्वरत्वादेव इति (इति एकोनविंशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्शनम्).

(खण्डः२० क. औपचारिकांशत्वतन्निरासौ ख. व्युच्चरणम् उत्पत्तिः इति आशङ्का तत्परिहाराय अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तोपवर्णनम्)

[*सहस्रा. : [विद्व.]ननु जीवानां नित्यभिन्नानामेव चेतनत्वाद् अणुत्वेन च एकदेशस्थायित्वेनच अंशत्वम् औपचारिकमेव इति चेद्, न, मुख्ये सम्भवति गौणस्य अन्याय्यत्वात्. सूत्रकृतांशत्वप्रसक्तदूषणपरिहारानुपपत्तिश्च. जीवानां स्वतन्त्र-भिन्नत्वे च एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्तिः. नच योगजधर्मप्रत्यासत्तिवत् तत्त्वज्ञानजनितालौकिकधर्मेणैव सर्वज्ञ-त्वोपपत्तिः इति वाच्यं, "यथा, सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्" इत्यादिश्रौतदृष्टान्तानुपपत्तेः. "सदेव, सौम्य! इदम् अग्रे आसीद्" इति श्रुतिविरोधश्च. ननु "न आत्मा अश्रुतेः नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इति तत्त्वसूत्रविरोधः. एतदर्थस्तु आत्मा जीवो न उत्पद्यते, कुतः ? अश्रुतेः. "देवदत्तो*

जातः'' इति देहोत्पत्तिरेव श्रूयते न आत्मनः. किञ्च नित्यत्वादपि न उत्पत्तिः जीवस्य सम्भवति, कुतो अस्य नित्यत्वम्? अत्र आह ''ताभ्यः श्रुतिभ्यः'' इति. इति चेद्? अत्र इदं प्रतिभाति : ''यथा अग्नेः क्षुद्राः'' इत्यादिश्रुतीः विचारयन् स्वयमेव जीवस्य अंशत्वम् उक्त्वा यत् पश्चाद् उत्पत्तिं निषेधति सूत्रकारः तेन विस्फुलिङ्गन्यायेन जीवस्य व्युच्चरणं, न उत्पत्तित्वेन सूत्रकारस्य अभिमतम्. तदा परिच्छिन्नस्य शरीरस्य अभावेन तस्मिन् जीवागमनस्यापि अभावेन उत्पत्तिस्वरूपाभावात्. तद् उक्तम् ''अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं च इति सा त्रिधा' इति. तथाच अनित्यानां प्राणादीनां प्रादुर्भावःएव उत्पत्तिः इति तेषामेव उत्पत्तिः उक्ता. जीवानां ब्रह्मणः सकाशाद् विभागे तदंशत्वे च वाच्ये सति तद्दुर्बोधत्वं जानन्ती श्रुतिः अंशत्वम् अंशिनः सकाशाद् विभागवत्त्वम् (अणुत्वम्), अंशिनो अंशाद् महत्त्वं, पुनः अंशस्य अंशिनि प्रवेशयोग्यत्वं, प्रवेशे सति अभेदप्रतीतिविषयत्वं पुनर्निर्गमनयोग्यत्वं च अग्निविस्फुलिङ्गे प्रसिद्धमिति सर्वधर्मबोधसौकर्यार्थम् अग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन उक्तवती प्रकृतेऽपि एवं दृश्यते. जीवाद् ब्रह्मणो महत्त्वं तद् उक्तम् ''अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्'' इति. पुनः प्रवेशश्च उच्यते ''ब्रह्मैव सन् ब्रह्म आप्येति'' (इति). ब्रह्मभावश्च भगवदुक्तसाधनकरणेन सन्तुष्टाद् भगवतः आनन्दप्राकट्यात् स्व-गुणस्वरूपैश्वर्यादि-प्राकट्यात् च इति ज्ञेयम्. इदमेव उक्तम् ''अस्मिन् अस्य च तद्योगं शास्ति इति सूत्रेण. अर्थस्तु : 'अस्मिन्' = आनन्दमये ब्रह्मणि 'अस्य' = जीवस्य 'तद्योगं' = तद्रूपस्य योगं ब्रह्मभावापन्नस्य प्राप्तिं वदति फलत्वेन इति. इदमेव ''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा

न शोचति न काङ्क्षति, समः सर्वेषु भूतेषु'' इत्यादि उक्त्वा भक्तिलाभानन्तरं ''विशते तदनन्तरम्'' इति उक्तं विजयरथकुटुम्बेन श्रीदेवकीपुत्रेण. प्रवेशानन्तरम् अभेदप्रतीतिं श्रुतिः आह. तथाहि सर्वेषांहि भगवत्येव लयः साक्षात्परम्परा-भेदेन, अतो मोक्षस्थानं भगवानेव इति निरूपणार्थं ''यथा सर्वासाम् अपां समुद्रः एकायनम्'' इति उपक्रम्य ''वाग् एकायनम्'' इत्यन्तं दृष्टान्तार्थं निरूप्य ''स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेव अनुविलीयते'' इत्यादिना च लय-दृष्टान्तं निरूप्य ''विज्ञानघन:एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येव अनुविनश्यति, न 'प्रेत्य'संज्ञा अस्ति'' इति लयं निरूप्य तन्निरूपणार्थं ''यत्रहि द्वैतमिव भवति... तद् इतरः इतरं पश्यति'' इति उपक्रम्य ''विज्ञातारम्, अरे! केन विजानीयाद्'' इत्यन्तेन लयावस्थायां लीनस्य स्वस्मिन् अन्यस्य तस्मिन् भगवतो अभिन्नत्वेन प्रतीतिराहित्यं न्यरूपयत्. इममेव अर्थं सूत्रकारोऽपि आह ''गतिसामान्याद्'' इति. 'गतिः' = मोक्षः, समानस्य भावः सामान्यं तस्माद् मोक्षे जीव-ब्रह्मणोः. अभिन्नत्वेनैव निरूपणाद् वा इति अर्थः. तेन आदिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मणएव उपादानत्वात् सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयः इति तत्र फलितम्. स्वावतारसमये क्रीडार्थं साक्षात् तद्योग्याः तएव भवन्तीति तानपि अवतारयति इति पुनर्निर्गमनयोग्यत्वम्. इदमेव ''मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्'' इति सूत्रेण उक्तम्. नच ''न सः पुनरावर्तते', ''अनावृत्तिः शब्दाद्'' इति श्रुतिन्यायविरोधः एतस्य प्रमाणमार्गपरत्वात्. इदञ्च पुष्टिमार्गाङ्गीकारे भगवान् करोति, नोचेद् मर्यादायां प्रवेशपर्यन्तत्वमेव तस्य अतिशयितानुग्रहविशेषमात्रसाध्यत्वेन अतिदुर्लभत्वात्. तद् उक्तं ''भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं

ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्'' इति. किञ्च संसारे पुनः अनावृत्तिम् आह श्रुतिः, नहि तेषां ततः संसारः ''मुक्ताअपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्ते'' इति वाक्यात् च.सचचिरकालोप्त-समुदितप्राचीन-निरतिशयित-कृपाफलसार-निरुपधि-निजचरणकमलानुराग- विलासाभिलाष-बीजासु ततो निज-परिजन-निरोधतः प्रियावलोकन-निमित्तं कृतप्रतिक्षण-विविधव्याजजनित-गतागत-कर्षितासु ततो दिवा प्रिय-वनगमनजनित- विरहतरणितापतप्य/तापतातप्यमानान्तःकरण-केदारासु ततो निशामुखे प्रियागमन-सम्पन्नेष्टावलोकन-सेचनजनित- हसितवलितविवश/हसितचलितविशद-तरल-रुचिर-विलोचन-युगल-विहित-विविध-निरवधि- रसभावा-ङ्कुरासु ततो अतिविपुल-कलिन्दजा-पुलिन-नभोवलयागत-निजमुरलिका-कलनिनद- गर्जितानन्दितास्वेव कासुचिद् भूमिषु श्रीमन्नन्द-राजकुमार-नवजलदो निजानन्द-सुधां ववर्षेति तथैव सर्वत्र वर्षिष्यति इति न ज्ञातुं शक्यते. अतो मर्यादया तद्भजनमेव सर्वेषां कर्तव्यत्वेन स्थितम्. तेनैव सर्वम् इति दिक्. एतच्च दशमस्कन्ध-विवरणे मृत्स्ना-भक्षण-वरदानार्थागमनादि-स्थलेषु पितृचरणैरेव स्फुटं निरूपितमिति अलं विस्तरेण. यद्वा जीवत्वादिवद् अंशत्वमपि एकः पृथग्धर्मः जीवे निरूप्यते श्रुत्या अतो न अनुपपत्तिः काचित् (एतावदंशो विद्वन्मण्डनतो अत्र सहस्राक्षोद्धृतः).

अथ 'ननु जीवानाम्' इत्यादिः 'न अनुपपत्तिः काचिद्' इत्यन्तः विंशः खण्डः खण्ड्यते :

[१]तत्र सूत्रकारेणतु ''प्रकाशादिवद् नैवं परः'', ''स्मरन्ति

च'', ''अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाद् ज्योतिरादिवद्'' इति सूत्रैः यो दूषणस्य परिहारः कृतः स न अंशत्वेन प्राप्तस्य किन्तु अभिन्नतया प्रसक्तस्य. अभेदश्च न अंशत्वेन सम्भवतीति विस्फुलिङ्गानां वह्न्यभेदो विभागात् पूर्वं परं वा इति विकल्प्य दूषितं प्राक्. सूत्रत्रयार्थस्तु ''यथा जीवो अविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तद्दुःखेन 'दुःखी अहम्' इति मन्यते न एवं'' परो अविद्यावेशाद्यभावात्. यथा वियद्व्यापिसूर्यादिप्रकाशो अङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धाद् ऋजुत्वादिभावम् आपन्नोऽपि वस्तुतः तद्भावं न आपद्यते. ''स्मरन्ति च'' व्यासादयः परमात्मनो दुःखाय मानत्वाभावम्. ''तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतो. न लिप्यते फलैः चापि पद्मपत्रमिव अम्भसा'' इति, ''ऋतौ भार्याम् उपेयात्'', ''गुर्वङ्गनां न उपगच्छेद्'' इत्यादयो 'अनुज्ञापरिहार'शब्दवाच्यो देहादिसम्बन्धो अविद्याकृतदेहादितादात्म्याध्यासः तस्माद्. यथा अग्निसूर्यादेः एकत्वेऽपि श्मशानाद्यमेध्यादिसम्बन्धिनः परिहारो न इतरस्य एवम् इति.

[२]''यथा अग्नेः'' इत्यादिश्रुत्या न अंशत्वं बोध्यते किन्तु उपाधिनिर्गमाद् आविर्भावः इति उक्तं पूर्वम्. ''जीवस्य व्युच्चरणं न उत्पत्तिः'' इतितु न सङ्गतं, 'व्युच्चरन्ति'इति एकस्यैव पदस्य सर्वत्र सम्बन्धेन प्राणादिषु वैलक्षण्याङ्गीकारस्य अनुपपत्तेः. तस्य पदस्य आवृत्तौ लक्षणायां वाक्यभेदे च गौरवात्. प्राणादिष्वपि तथा अङ्गीकारे वैलक्षण्योपपादनं व्यर्थं स्याद् इति उक्तं प्राक्. ''तद् उक्तम्'' इत्यादिः स्वोक्तिविरोधश्च. अस्माकन्तु श्रुत्यर्थः सर्वत्र समानएव. पाश्चात्यो बोधः आत्मांशे औपाधिकोत्पत्तिविषयः, शाखान्तरे तत्पाठाभावादिना इति

उक्तम्. यत्तु टीकाकारः "सदंशानां जडानां स्वरूपान्यथाभावाद् अनित्यत्वव्यवहारः चिदंशानां जीवानान्तु धर्ममात्रान्यथाभावाद् नित्यत्वम्" इति आह, तद् न, मूलोक्तरीत्या पृथगंशत्वकथनस्य निर्मूलत्वात्. जडस्वरूपान्यथाभावे तदभिन्नस्य सतः तदभिन्नाभिन्नस्य जीवस्य च तथात्वापत्तेः. धर्म-धर्मिणोः भेदे मानाभावेन जीवानामपि स्वरूपान्यथाभावस्य दुष्परिहरत्वात्. किञ्च सुवर्णस्य निर्विकारत्वपरत्व-स्वजनगुरुवचनविरोधः.

[३]जीवविभागस्तु ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वं गमयेत्. विभागोहि अपादानरहिते देशे गमनं, तच्च विभुत्वे न सम्भवति. "खात् खगो विभक्तः" इति अप्रतीतेः. प्रदेशभेदेन तत्कल्पनेतु श्रुतिः क्वापि प्रदेशवाचकं पदम् उपादद्यात्. किञ्च एवं विभागस्य औपचारिकत्वं दुर्वारम्. द्राविडप्राणायामस्य सुबोधत्वं स्पष्टोक्तेः दुर्बोधत्वं वदँस्तु उपहास्यःएव. "अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्" इत्यस्यतु अयम् अर्थः : "सो अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" इत्यादिरूपाद् कर्तृकर्मादिव्यपदेशरूपाद् भेदव्यपदेशाद्यधिकम् अल्पज्ञत्वादिधर्मकाद् जीवाद् उत्कृष्टं मायोपाधिसम्पादितसर्वज्ञत्वादिविशिष्टं तज्जगत्कर्तृ इति. "इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः" इति पूर्वसूत्रेण इतरस्य जीवस्य ब्रह्मात्मत्वव्यपदेशाद् ब्रह्मणश्च जीवात्मत्वव्यपदेशात् तयोः अभेदे ब्रह्मणः कर्तृत्वेऽपि जीवस्य कर्तृत्वपर्यवसानात् तस्य स्वहिताकरणम् अहितकरणञ्च दोषः प्रसज्यते इत्यर्थकेन पूर्वपक्षपरेण पूर्वसूत्रेण अभेदव्यपदेशादेव दोषप्रसक्तेः उक्तत्वात्. तथाच अभेदेऽपि मायिकभेदसत्त्वात् तत्त्वेन च उत्कर्षरूपाधिक्यसत्त्वात् तत्कर्तृ (ब्रह्म) नतु जीवः उत्कर्षाभावाद् इति भावः. तथाच 'अधिक'शब्दस्य परिमाणाधिक्यपरत्वाभिप्रायेण

महत्त्वपरत्ववर्णनम् असङ्गतम्. अस्मदर्थसमानार्थपरकतद्गुरू-क्तिविरुद्धञ्च. 'अधिक'शब्दवद् 'महच्'छब्दस्यापि उत्कृष्टार्थ-कत्वेतु दृष्टान्ते अनुत्कृष्टाग्नेरपि उत्कृष्टविस्फुलिङ्गदर्शनेन अभिमतासिद्धिः. 'अपीतिः'गमनार्थको नतु लयत्वेन अभिमतो यः प्रवेशः तदर्थको अकर्मकतापत्तेः. दृष्टान्ते तथोक्तिस्तु असङ्गतैव. पुनः अपादानेन अवयवावयविभावानुपपत्तेः. दार्ष्टान्तिकेतु त्वद्-गुरूक्त्या स्याद्, भगवदुक्तसाधनं यदि ज्ञानं तर्हि न विरोधः ''तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति'' इति श्रुतेः. यदि अन्यत् तर्हि ''नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय'' इति श्रुतिविरोधः. ''सन्तुष्टा भगवतः'' इत्यादितु क्रममुक्तौ स्याद् नतु कैवल्ये मानाभावात्. ''न प्रियाप्रिये स्पृशतः'' इत्यादिश्रुतिविरोधात् च. ''अस्मिन् अस्य च'' इति सूत्रे तद्रूपस्य योगं ब्रह्मभावापन्नस्य प्राप्तिम् इत्यत्र यदि तवापि नैव ब्रह्मप्राप्तिः इत्येव अर्थः कथञ्चित् सम्मतः तर्हि न दोषः. यदि पूर्वं ब्रह्मभावो भवति पश्चात् प्राप्नोति इति अर्थः तर्हि निर्मूलं गौरवम्. 'विशते' इत्यस्य अभेदं गच्छति इति अर्थो ''ब्रह्म अप्येति'', ''पुरुषम् उपैति दिव्यम्'' इत्यादिश्रुतेः. दृष्टान्ते प्रवेशानन्तरम् अपादानेन अभेदप्रतीतिः न अस्त्येव, समानाभिहाराद् भेदाप्रतीत्या कस्यचिद् अभेदभ्रमः स्याद्, दार्ष्टान्तिकेतु अभेदः इष्टो नतु तथा प्रतीतिः नवा प्रवेशेन पौर्वापर्यं, मानाभावात्. भिन्नत्वेन प्रतीतिराहित्यन्तु इष्यतेएव. ''विज्ञातारम् अरे! केन'' इति श्रुत्यापि प्रतीत्यभावएव उक्तो नतु अभेदप्रतीतिरपि. उक्तञ्च त्वयाऽपि ''भिन्नत्वेन प्रतीतिराहित्यं न्यरूपयद्'' इति, तथाच पूर्वापरविरोधः. पूर्वप्रतिज्ञातार्थोपपादनाय 'तथाहि' इति उपपादनस्य असङ्गतिश्च. ''इममेव अर्थम्'' इत्यादि उक्त्वा

सूत्रोपन्यासोऽपि प्रतिज्ञाविरोधापादकः. 'सामान्य'पदस्य तत्र तुल्यतार्थत्वात् तुल्यत्वस्य भेदघटितत्वात्. नच समानाधिकरणादिष्विव अत्रापि 'समान'शब्दस्य एकार्थकतया 'सामान्य'शब्दस्य न तुल्यतार्थता इति वाच्यं, ''मोक्षे सर्वस्यापि भगवता तुल्यत्वाद्'' इति तत्सूत्रस्थस्वगुरूक्तिविरोधात्. एवं त्वन्मते त्वद्गुरूक्तसप्तमीसमासोऽपि दुर्लभः, 'सप्तमी'ति योगविभागस्य अनाकरत्वात्. 'भगवता'इत्यनेन साकाङ्क्षतया असामर्थ्यात् च. तस्माद् 'गतेः'=ज्ञानस्य 'सामान्यं'=तुल्यता, तस्माद् इति अक्षरार्थः सूत्रस्य. समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः. यदि तार्किकसमयइव वेदान्तेष्वपि भिन्नाः कारणावगतिः अभविष्यत् तदा प्रधानकारणवादानुरोधेनापि सृष्टिश्रवणम् अभविष्यद् इति भावः.

[४]ब्रह्मणो जीवोपादानत्वोक्तिस्तु असङ्गतैव उभयोः अनित्यत्वापत्तेः. ''न जायते म्रियते वा'' इत्यादिश्रुतिस्मृतिविरोधाच्च.

[५]''क्रीडार्थं...तान्...अवतारयति'' इति न युक्तं, क्रीडायाः असम्भवस्य उक्तत्वात्. अवतारसमयइव सर्वदा ईश्वरस्य त्वन्मते क्रीडायाः सत्त्वेन संसाराविनिवृत्तिप्रसङ्गात् च. अवतारसमये निर्गतानां न संसारः इत्यत्र मानाभावेन ''न स पुनरावर्तते'', ''अनावृत्तिः शब्दाद्'' इत्यादिश्रुतिसूत्रादिविरोधात् च. मर्यादामार्गपराणि तादृशश्रुत्यादीनि नतु पुष्टिमार्गपराणि इतितु असङ्गतं, तादृशमार्गभेदस्य तादृशव्यवस्थायाः च निर्मूलत्वात्. एवञ्च चतुर्थाध्यायस्थतादृशव्यवस्थापरत्वद्गुरूक्तिरपि निर्मूला.

[६]किञ्च ''मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्'' इत्यत्र निस्सरणं कस्य शब्दस्य अर्थो? यतः तत् सूत्रं निर्गमने प्रमाणतया उपन्यस्यते. तदर्थस्तु 'मुक्तैः'=नामरूपविमुक्तैः 'उपसृप्यं' यत् तस्य 'व्यपदेशाद्' इति. ''यस्मिन् द्यौः पृथिवी'' इत्यादि-द्युभ्वाद्यायतनत्वोक्तिप्रकरणे ''तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपैति दिव्यम्'' इति उक्तम्. नच मुक्तोपसृप्यत्वं प्रधानादीनां प्रसिद्धमिति मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद् न द्युभ्वाद्यायतनं प्रधानं किन्तु 'ब्रह्म'इति उक्तम्. एवञ्च अत्र कथं निर्गमप्रतिपादनं, मुक्त्यपेक्षया भक्तेः आधिक्यन्तु प्राग् निराकृतम्. यदिच ''मुक्ताअपि लीलाविग्रहं कृत्वा हरिं भजन्ते'' इत्येतादृशार्थे तात्पर्यं, तत् क्वापि वाक्यं लभ्येत, प्रक्षिप्तत्वञ्च तत्र न निश्चीयेत, तर्हि तत्र क्रममुक्तिपरं ज्ञेयम्.* कैवल्यमुक्तौ ''अशरीरं वाव'' इत्यादौ शरीरत्वावच्छिन्नाभावबोधनात्. एतेन 'सच' इत्यादि 'दिक्'अन्तं प्रत्युक्तं प्रमाणाभावाच्च.

[७]किञ्च ''यथा अग्नेः'' इति श्रुतौ स्वकपोलकल्पितैः अंशत्वविभागवत्त्वादिभिः धर्मैः साधर्म्यं विस्फुलिङ्गजीवयोः इष्टम् इति यत् त्वया उच्यते तद् न युक्तं, व्युच्चरणरूपसमानधर्मस्य उपात्तत्वाद् इति उक्तं प्राक्. अन्यथा प्राणादेरपि तदापत्तेः. तस्माद् ''जीवानां ब्रह्मणः सकाशाद्'' इत्यादिः 'विस्तरेण' इत्यन्तो ग्रन्थः प्रलापःएव. जीवस्य

---

* पा.टि. भगवत्पादशङ्कराणाम् 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति ज्ञानवतां यदि मुक्तता न चेत् तदा परोपदेशकौशल्यमेव स्वीकार्यं स्यात्. यदि च मुक्तता चेत् तदा ''भज गोविन्दम्'' इति स्तोत्रेण तेषां लीला विग्रहवतां श्रीहरिभजनपरायणता सदानन्दयतिगुरुणैव प्रदर्शिता इति किं केन सम्बध्यते (सम्पा.).

अंशत्वं श्रुतौ क्वापि न पठ्यते. किञ्च यदि धर्मविशेषः स तर्हि जीवस्य ब्रह्मणा कः सम्बन्धः इति प्रश्नो न उद्धृतः इति व्यर्थः श्रमः. किञ्च तादृशधर्मो विभुत्वादिसत्त्वेऽपि स्याद् इति सर्वं विप्लुतम् (इति विंशखण्डखण्डनम्)].

प्राभ. : अथ *तत्र सूत्रकार...* इत्यादि विंशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वं प्रदर्श्यते :

[१]यद् उक्तं *''प्रकाशादिवद् नैवं परः'', ''स्मरन्ति च'' ''अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाद् ज्योतिरादिवद्'' इति सूत्रैः यो दूषणस्य परिहारः कृतः स न अंशत्वेन प्राप्तस्य किन्तु अभिन्नतया प्रसक्तस्य* इति तद् अग्रेच *अभेदश्च न अंशत्वेन सम्भवति* तच्च अद्वैतमतानुसारेण वा न्यायमतानुसारेण इति वक्तव्यम्. न आद्यः, तत्र अंशांशिनोः भेदानुपगमाद् अन्यथा आरम्भवादापत्तिः. विवर्तवादेच कार्यस्य असत्त्वादेव भेदो न सम्भवति. द्वितीयोऽपि न न्यायमतस्य तत्र अप्रकृतत्वाद् **''अंशो नानाव्यपदेशाद्''** (ब्र.सू.२।३।४३) इति सूत्रे पूर्वम् अंशांशिभावस्य अप्रकृतत्वाद् नैयायिकैश्च अंशांशिभावानभ्युपगमात्. किञ्च **''मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्, मायिनन्तु महेश्वरम् अस्य अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वम् इदं जगद्''** (श्वेता.उप.४।१०) इत्यादिना अवयवावयविभावाभ्युपगमात् तत्र अवयवावयविनोः भेदे द्वैतापत्तिः स्यात्. किञ्च न अंशित्वेन प्राप्तस्य दूषणस्य परिहारः सूत्रैः कृतो भिन्नतया प्रसक्तस्य इति प्रलपनं शारीरकभाष्यविरुद्धम्. तत्र **''ननु जीवस्य ईश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखोपभोगेन अंशिनः ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्याद्.यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमागतेन दुःखेन अङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वम्. तद्वत् ततश्च तत्तदुःखेन महत्तरं दुःखं प्राप्नुयाद् अतो वरं पूर्वावस्थः** (ब्र.सू.शां.भा.२।३।४५) इति पूर्वपक्षं विधाय **''प्रकाशादिवद् नैवं परः''** (ब्र.सू.२।३।४६) इत्यादिसूत्रत्रयम् अवतारितम्. तस्मात्

तद्विरुद्धकथनं तन्मताभिज्ञत्वं द्योतयति. *सूत्रत्रयार्थस्तु* इत्यादिना यो अर्थः प्रदर्शितः सोऽपि असङ्गतः. कथम् इति चेद्, श्रुणु **''यथा जीवः... अविद्यावेशवशाद् देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन 'दुःखी अहम्'... इति अभिमन्यते नैवं परम्''** (ब्र.सू.शां.भा.२।३।४६) इति त्वया उक्तम्. तत्र जीवे अविद्यावेशो अविद्याश्रयत्वम्? अविद्यावच्छिन्नत्वम्? तदभिमानित्वं वा? न आद्यो, जीवे अविद्याश्रयत्वस्य त्वन्मते निषिद्धत्वात् तद् उक्तम् **''आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला, पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो न आश्रयः भवति नापि गोचरः''** (संक्षे.शारी.१।३१९) इति. एवञ्च परस्यैव अविद्यावेशः स्याद् न जीवस्य तथाच ''नैवं परः'' इति सूत्रांशविरोधः. द्वितीयेऽपि ब्रह्मणो अवच्छिन्नत्वं सम्भवत्येव, नहि घटाकाशे यद् घटावच्छिन्नं तद् आकाशे नास्ति इति वक्तुं शक्यं, घटाकाशमहाकाशयोः अभेदात्. नापि तृतीयः विकल्पासहत्वाद् अविद्याभिमानित्वं किम् ''अविद्याश्रयो अहम्'' इत्याकारकान्तःकरणवृत्त्याश्रयत्वम्? तत्प्रतिफलितत्वं वा? न आद्यः, तदाश्रयत्वस्य तदधिष्ठानत्वातिरिक्तस्य दुर्वचनत्वेन तस्य ब्रह्मण्यपि दुर्वारत्वात्. जीवइव ब्रह्मण्यपि दुःखादिमत्त्वं तदवस्थमेव, द्वितीयेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बयोः अभेदे सएव दोषो भेदेच विवादात् प्रतिबिम्बो न अतिरिक्तः इति पूर्वोक्तविरोधः इति अलं विस्तरेण. एवम् अन्येऽपि दोषाः तदुक्तेः अर्थः बहवः सन्ति ग्रन्थगौरवभयाद् न उद्भाव्यन्ते. सूत्रार्थस्तु **''जीवस्य अंशत्वे हस्तादिवद् तद्दुःखेन परस्यापि दुःखित्वं स्याद्''** (ब्र.सू.अणुभा.२।३।४६) इति प्राप्ते आह **''प्रकाशादिवद् नैवं परः''** (ब्र.सू.२।३।४६) इति. **''नैवं परः''** इति निषेधेन प्रकारभेदः बोध्यते. तथाच यस्मात् परो जीववद् न तस्माद् जीववद् दुःखी न. जीवस्यहि दुःखे द्विष्टत्वेन अनुभवः. जीवदुःखयोः भेदात् परस्यतु दुःखे तादृशानुभवो नास्ति सर्वरूपत्वात् किन्तु प्रियत्वेन अनुभवो अस्ति. नहि स्वाभिन्ने द्विष्टत्वेन अनुभवः.

तत्र दृष्टान्तम् आह **''प्रकाशादिवद्''** इति. यथा प्रकाशशैत्यादयो वह्निहिमादीनां न दुःखद्विष्टत्वे बुद्धिजनकाः तदात्मकत्वाद् अन्येषान्तु तज्जनकाः. एवं परस्यापि. तद् उक्तं **''कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोः चेद् किम् आत्मनः तत्र तदात्मको असौ? न अग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात् क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्''** (भाग.पुरा.११।२३।५६) इति. ननु एवंसति 'अग्न्यादि' इत्येवं वक्तव्यम् इति चेत्, तर्हि सामर्थ्याविशेषादेव दुःखित्वाभावो बुध्येत नतु धर्मधर्मिभावाद् अतः तद्बोधनार्थं **''प्रकाशादिवद्''** इति. **''स्मरन्ति''** इति सूत्रार्थेतु न विवादः. ननु जीवस्य भगवदंशत्वाद् विधिनिषेधाविषयत्वेन सम्बन्धाभावात् कथं दुःखित्वम्? किञ्च **''कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्''** (ब्र.सू.२।३।३३) इति अधिकरणे ब्रह्मणः आप्तकामत्वेन फलानुपयोगाद्; जडस्य च, ज्ञानाद्यभावेन कर्मकरणस्य अशक्यत्वाद् विधिनिषेधशास्त्रानर्थक्यम् आशंक्य जीवस्य कर्तृत्वम् अङ्गीकृत्य तत्परिहारः कृतः सोऽपि विरुध्येत. भगवतइव जीवस्यापि कर्तृत्वासम्भवाद् अंशांशिनोः अभेदाद् इति प्राप्ते उच्यते **''अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाद् ज्योतिरादिवद्''** (ब्र.सू.२।३।४८) इति. यद्यपि जीवस्य भगवदंशत्वाद् न स्वरूपतो विधिनिषेधविषयत्वं तथापि तद्देहसम्बन्धाद् आगन्तुकं तद् भवति. तत्र दृष्टान्तः **''ज्योतिरादिवद्''** इति. यथा अग्न्युदकपृथ्वीनां स्वतो निषेधाविषयत्वेऽपि शवादिसम्बन्धाद् निषेधविषयत्वं श्रोत्रियादिसम्बन्धात् च विधिविषयत्वम्. तथैव जीवस्यापि देहसम्बन्धात् तत्तद्विधिनिषेधविषयत्वसम्भवेन फलसम्बन्धस्यापि सत्त्वात् **शास्त्रार्थवत्त्वसूत्र**विरोधो न सम्भवति नापि कर्ममार्गव्याहतिः इति संक्षेपः.

[२]यदपि *''यथा अग्नेः''* *इत्यादिश्रुत्या न अंशत्वं बोध्यते किन्तु ''उपाधिविनिर्गमाद् आविर्भावः''* *इति उक्तं पूर्वं जीवस्य व्युच्चरणं, न उत्पत्तिः इतितु न सङ्गतं, 'व्युच्चरन्ति' इत्यस्य एकस्य पदस्य सर्वत्र*

सम्बन्धे प्राणादिषु वैलक्षण्याङ्गीकारस्य अनुपपत्तेः इत्यादि उक्तं, तद् न सम्यक्, एकस्यापि शब्दस्य श्रुत्यन्तरपर्यालोचनया अन्यार्थकल्पने बाधकाभावात्. यदि 'व्युच्चरण'शब्दस्य प्राणादिव्युच्चरणसदृशव्युच्चरणार्थकत्वम् अङ्गीक्रियते तदा **''अयम् आत्मा अजरो अमरः''** (बृह.उप.४।४।२५), **''न जायते न म्रियते वा विपश्चिद्''** (कठोप.१।२।१८) इत्यादिवाक्यविरोधः स्यात्. किञ्च **''अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि''** (छान्दो.उप.६।३।२) इत्यादि श्रुतौ सिद्धव्यपदेशाच्च जीवस्य प्रलये अविभागमात्रं सृष्ट्यादौ च विभागरूपमेव व्युच्चरणं कल्प्यते. अन्यथा त्वन्मतेऽपि यथा प्राणादिनां स्वस्वरूपेण उत्पत्तिः 'व्युच्चरण'शब्दार्थः, तथा जीवस्यापि स्वस्वरूपेणैव उत्पत्तिः स्याद् नतु औपाधिकी. एकस्य 'व्युच्चरण'शब्दस्य मुख्योत्पत्त्यर्थकत्वे प्राणादौ जीवे च अमुख्योत्पत्त्यर्थकत्वे आवृत्त्यादिकल्पनाप्रयुक्तं गौरवं स्यात्. यदिच *शाखान्तरे तत्पाठाभावाद्* गौण्युत्पत्त्यर्थकत्वं कल्प्यते इति उच्यते, तदा आकाशस्यापि शाखान्तरे पाठाभावाद् **''आत्मनः आकाशः सम्भूतः''** (तैत्ति.उप.२।१।१) इत्यत्रापि गौण्युत्पत्त्यर्थकत्वं कुतो न स्यात्? श्रुत्यन्तरविरोधपरिहारार्थं तथा कल्पनन्तु प्रकृतेऽपि तुल्यम्. ननु अस्मन्मते पूर्वं सर्वत्र 'व्युच्चरण'शब्दस्य मुख्योत्पत्त्यर्थकत्वमेवेति जीवेऽपि मुख्योत्पत्तिविषयकशाब्दबोधे जाते पश्चाद् गौण्युत्पत्तिविषयकबोधइति न आवृत्त्यादिकल्पनागौरवम् इति चेद्, न, क्षणविलम्बस्य शपथनिर्णेयत्वात्.

किञ्च पाश्चात्यबोधस्य यदि पूर्वबोधो हेतुः तदा प्राणादिष्वपि तथैव कथं न गौण्युत्पत्तिबोधः? तस्माद् न किञ्चिद् एतत्. यद्यपि पञ्चभूतप्राणादीनामपि आविर्भावतिरोभावावेव सिद्धान्ते स्वीकृतौ, न उत्पत्तिविनाशौ इति. अतो भूतादीनामपि नित्यत्वमेव. तथापि जीवस्य अस्ति, प्रकारभेदे श्रुतिप्रतिपादितः नामरूपव्याकरणात् पूर्वमपि स्वस्वरूपेण

सत्त्वरूपः प्रलयेऽपि अविभागरूपश्च विशेषः इति तस्य नित्यत्वव्यवहारः, भूतादीनाञ्च अनित्यत्वव्यवहारः. नच भूतादीनाम् असत्त्वमेव इति वाच्यं, श्रुतौ सत्यत्वेन प्रतिपादनाद् वेदविरुद्धकल्पनायाः च अन्याय्यत्वात्. एतेन *यत्तु* इत्यादिकं निरस्तम्. 'तदभिन्नाभिन्नः'इति न्यायस्यतु तत्त्वं पूर्वखण्डेएव उक्तम्. धर्मधर्मिणो अभेदे धर्मान्यथाभावे धर्मिणोऽपि अन्यथाभावकल्पने शब्दनाशे गगनस्यापि त्वन्मते नाशापत्तिः तस्माद् धर्मान्यथाभावेऽपि न जीवान्यथाभावः इति. तेन *धर्म...* इत्यादि दूषणम् अनवकाशम्.

[३]नच एवमपि जीवस्य ब्रह्मणः सकाशाद् विभागस्वीकारे ब्रह्मणः परिच्छिन्नत्वापत्तिः, विभागोहि अपादानरहिते देशे गमनं तच्च विभुत्वे न सम्भवति इति चेद्, मा एवम्. यदि विभागस्य इदं लक्षणं स्यात् तदा त्वदुक्तो दोषोऽपि स्यात्, गमनस्य क्रियारूपत्वाद् विभागस्य क्रियारूपत्वमेव स्यात्. तस्माद् न इदं लक्षणं किन्तु संयोगनाशको गुणो विभागः इत्येव तल्लक्षणम्. तच्च किञ्चिद् देशसंयोगनाशे सम्भवति इति ''खात् खगो'' विभक्तः इति प्रतीतेः. नच तादृशप्रतीतिः न प्रमाणसिद्धाः इति वाच्यं, तथा सति खगः चलति इति प्रतीतिरपि न स्यात्. पूर्वदेशसंयोगनाशोत्तरदेशसंयोगौ विना क्रियायाः अप्रमाणिकत्वात्, क्रियायाः तज्जनकत्वनियमात्. तत्रच अयं क्रमः : पूर्वं क्रिया, क्रियातो विभागः, ततः पूर्वदेशसंयोगनाशः, उत्तरदेशसंयोगोत्पत्तिः, एवञ्च ''खगः चलति'' इत्यादिप्रतीतेः प्रामाण्यानुरोधेन पूर्वदेशविभागोऽपि अङ्गीकार्यः. सच गगनादेव तत्र देशान्तराभावात्. एवं ''खात् खगो विभक्तः'' इति प्रतीतेः प्रामाण्यं निष्प्रत्यूहम्. नच खगसंयुक्ते गगने कथं तद्विभागः इति वाच्यं, संयोगविभागयोः प्रादेशिकत्वेन अविरोधात्. उक्तञ्च ''**अथ प्रादेशिको भवेद् वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा**'' (कारिकावली ९९) इति *स्पष्टोक्तेः दुर्बोधत्वं वदँस्तु उपहास्यः* इति

यद् उक्तं, तत्र जीवस्यापि प्राणादिवद् उत्पत्तेः श्रुतत्वाद् जीवस्य नित्यत्वं प्राणादीनाम् अनित्यत्वमिति अर्थस्य संशयास्पदत्वाद् दुर्बोधत्वम्. यदिच अस्य स्पष्टत्वमेव तव अभिमतं तदा स्पष्टे संशयाभावात् तत्र संशयं कुर्वन् उपहास्यइव एकत्र औपाधिकत्वं स्वीकुर्वन्नपि तथैव. अतएव ''**यथा सुदीप्तात् पावकाद्**'' (मुण्ड.उप.२।१।१) इत्यादिना दृष्टान्तप्रदर्शनमपि साधु सङ्गच्छते, अन्यथा स्पष्टे अर्थे दृष्टान्तप्रदर्शनस्य व्यर्थत्वाद् असङ्गतमेव स्यात्. एवञ्च यथा अग्नौ विस्फुल्लिङ्गस्य सतएव तस्मात् प्रविभागो, अग्न्यपेक्षया अणुत्वम्, अग्नेः तदपेक्षया महत्त्वम्, एवं जीवस्य सतएव विभागो, ब्रह्मापेक्षया अणुत्वं, ब्रह्मणः तदपेक्षया महत्त्वञ्च दृष्टान्तेन बोध्यते. नच जीवस्यापि ब्रह्मत्वात् कथं तदपेक्षया महत्त्वम्? इति वाच्यम्, अंशांशिनोः अभेदेऽपि न्यूनाधिकभावस्य दृष्टत्वात्. अतएव सूत्रकारेणापि उक्तम् ''**अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्**'' (ब्र.सू.२।१।२२) इति. अथ 'अधिकन्तु'इत्यादिसूत्रेण ब्रह्मणि महत्परिमाणवत्त्वं न प्रतिपाद्यते किन्तु ''**इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः**'' (ब्र.सू.२।१।२१) इति पूर्वसूत्रेण कृतस्य जीवस्य ब्रह्मात्मव्यपदेशाद् ब्रह्मणः कर्तृत्वे जीवस्यैव कर्तृत्वपर्यवसानात्. तेन स्वहितमेव कर्तव्यमिति हिताकरणं दोषः इत्यादिपूर्वपक्षस्य ''**सो अन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः**'' (छान्दो.उप.८।७।१) इत्यादिरूपभेद-व्यपदेशाद् अज्ञत्वादिगुणविशिष्टाद् जीवाद् उत्कृष्टं सर्वज्ञत्वादिगुणकं जगत्कर्तृमायोपाधिकम् इत्यर्थकेन तेन सूत्रेण निरासः क्रियते इति चेद्, मा एवम्, 'अधिक'पदस्य उत्कृष्टार्थकत्वे भाष्यविरोधापत्तेः, तत्रहि ''**शारीराद् अधिकम् अन्यद् वयं जगत्कारणं ब्रूमः**'' (ब्र.सू.शां.भा.२।१।-२२) इति उक्तं तावतापि ''**परस्तु भेदव्यपदेशाद् इति भिन्नन्तु भेदवद्**'' इति एतावदुक्त्यैव सामञ्जस्ये 'अधिकन्तु' इत्यादिगुरुतरारम्भः व्यर्थः स्यात्. तस्माद् 'अधिक'पदस्वारस्याद् अंशित्वरूपम् आधिक्यं भेदश्च बोध्यते इति मन्तव्यम्. तथाच 'तु'शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्तयति

भेदव्यपदेशाद्, एवञ्च यथा वेदे अभेदव्यपदेशः तथा भेदव्यपदेशोऽपि. सच आधिक्ये पर्यवस्यति आधिक्यञ्च अंशित्वात् पूर्णः च अंशस्य हितमेव करोति इति न नियमः. स्वदेहेऽपि नखनिकृन्तनकेशप्रसाधनादेः दर्शनात् किन्तु स्वलीलया हितम् अहितं च करोति. अधिकन्तु भाष्यादितो अवसेयम्. *'अपि'इति गमनार्थको नतु लयात्मकः* इति यद् उक्तं तत् शारीरकभाष्यानवलोकनात्, तत्र **''अपि पूर्वस्य एतैः लयार्थत्वं प्रसिद्धं प्रभवाप्ययौ इति उत्पत्तिप्रलये प्रयोगदर्शनाद्''** (ब्र.सू.शां.भा.१।१-।९) इति उक्तं **''स्वाप्ययाद्''** (ब्र.सू.१।१।८) इति सूत्रे दृष्टान्ते सर्वत्र उपादानेन सम्बन्धाभावे क्वचित् सम्बन्धदर्शनात् तद्योग्यत्वोक्तिः न विरुध्यते, नतु कैवल्ये मानाभावाद् इति प्रलपनं कैवल्याज्ञानात्. **''अस्मिन् अस्य च तद्योगं शास्ति''** (ब्र.सू.१।१।१८) इति सूत्रेणच जीवस्य ब्रह्मणि प्राप्तिः उक्ता. तत्र यद् उक्तं *यदि पूर्वं ब्रह्मभावः भवति पश्चात् प्राप्नोति इति अर्थः तर्हि निर्मूलगौरवम्* इति तदज्ञानाद् **''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्''** (भग.गीता.१८।५४) इति उक्त्वा **''विशते तदनन्तरम्''** (भग.गीता.१८।५५) इति भगवतैव उक्तत्वेन तद्वचनस्यैव मूलत्वात्. यदपि *''विशते तदनन्तरम्'' इत्यस्य भेदं गच्छति इति अर्थः*, इति उक्तं तत् तुच्छं, 'विश्'धातोः तादृशार्थकत्वे मानाभावात्. श्रौतदृष्टान्तस्य **''यथा सैन्धवखिल्यः उदके प्रास्तः उदकमेव अनुविलीयते''** (बृह.उप.२।४।१२) इत्यादिना प्रदर्शितस्य उपरोधापत्तेः. नहि सैन्धवोदकयोः अभेदएव सर्वात्मना सम्भवति. तस्माद् अविभागएव. *भिन्नत्वेन प्रतीतिराहित्यनिरूपणे* अभेदप्रतीतिः अवशिष्यते जडत्वं वा. तथाच चेतने जडत्वस्य असम्भवाद् अभेदप्रतीतिः अर्थाद् अवशिष्यते. सैव यथा ''स वपाम्'' इत्यादिना निरूपिता. अतएव 'तथाहि' इति उपपादनमपि सङ्गतं नापि पूर्वापरविरोधः. एवञ्च तत्तदृष्टान्तानुरोधेन जीवानाम् अत्यन्तविलक्षणत्वम् अत्यन्ताभेदोऽपिच न स्वीक्रियते किन्तु

अंशांशिनोरिव अभेदः. अतएव ''**गतिसामान्याद्**'' (ब्र.सू.१।१।९) इति सूत्रेण व्यासैः एतादृशाभेदएव दर्शितः. तदर्थस्तु श्रुत्या 'गतौ'=मोक्षे ''**निरञ्जनः परमं साम्यम् उपैति**'' (मुण्ड.उप.३।१।३) इत्यादिना समानभावस्य सामान्यस्य निरूपणाद् इत्यादिरूपः. नच सामान्यस्य तुल्यरूपत्वात् तुल्यत्वस्य भेदघटितत्वाद् उपष्टम्भासङ्गतिः इति वाच्यं, श्रुतौ '**परम**'पदसमभिव्याहारेण भेदाघटितसादृशस्यैव साम्यपदार्थत्वाद्. अन्यथा ''**निरञ्जनः साम्यम् उपैति**'' इति एतावतैव सामञ्जस्ये 'परम'पदं व्यर्थमेव स्याद्. एवं '**तत्**'पदस्वारस्याद् अविभागरूपं साम्यमेव श्रुतिप्रतिपादितम् इति सूत्राभिप्रायः. यदि साम्यं भेदघटितमेव इति तव आग्रहः तदा तादृशश्रुत्यनुसारेण मोक्षावस्थायां माध्वादिवत् त्वयापि भेदएव स्वीक्रियेत. एवञ्च अद्वैतं दत्ततिलाञ्जलिः स्यात्.

[४]नच सप्तमी समासस्य अनाकारत्वाद् गतौ समासो सङ्गतः इति वाच्यं, तस्यापि आकरे ''**तुल्यास्य..**''(पाणि.सू.१।१।९) सूत्रे ध्वनितत्वे नानाकारत्वकथनस्य आकरानालोचनविजृम्भितत्वात्. 'सामान्याद्'इति *तस्माद्* इत्यादिना त्वया प्रतिपादितः यः सूत्रार्थः सच न सङ्गतः. प्रधानादीनां द्वितीये अध्याये निराकरणीयतया ''**ईक्षतेः न अशब्दम्**'' (ब्र.सू.१।१।४) इति सूत्रेच प्रधानस्य अप्रकृतत्वेन तन्निराकरणार्थं ''**गतिसामान्याद्**'' (ब्र.सू.१।१।९) इति सूत्रव्याख्याने अप्रकृतप्रसङ्गपौनरुक्त्यादिदोषापत्तेः.

[५]*ब्रह्मणो जीवापादानत्वोक्त्यसङ्गतेः* इत्यादिप्रलापस्तु स्वमतपरमतानवलोकनमूलकः. त्वन्मतेऽपि ब्रह्मणः सर्वोपादानत्वस्वीकारात् ''**प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधाद्**'' (ब्र.सू.१।४।२३) इति सूत्राच्च सर्वोपादानत्वेऽपि यथा ब्रह्मणो न अन्यत्वम् एवं जीवोपादानत्वेऽपि. नच अस्मन्मते अध्यासाधिष्ठानत्वमेव उपादानत्वं ब्रह्मणः तथाच अध्यासस्य

अनित्यत्वेऽपि न अधिष्ठानस्य तथात्वं शुक्त्यादौ तथा दर्शनाद् इति चेद्, न, यथा "**सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन**" (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादिना शुक्तिरजतादिदृष्टान्तं त्यक्त्वा मृतपिण्डादिदृष्टान्तोपादानेन ज्ञानदृशा उपादानत्वस्य वेदविरुद्धत्वात्, शुक्तिज्ञानेऽपि रजतादिज्ञानाभावेन एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपरोधात् च. नहि सत्यज्ञाने सति यावद् अनृतं ज्ञातं भवति. अस्मन्मतेच ब्रह्मणः उपादानत्वेऽपि न विकारत्वम् इति उक्तं प्राक्.

[६] *अवतारसमयइव सर्वदा ईश्वरः* इत्यादिकन्तु अस्मन्मताज्ञानविजृम्भितमिति. यदिच शास्त्रज्ञकल्पना निर्मूला तदा त्वन्मतेऽपि किंमूलम् इति वक्तव्यम्. वेदः चेद्, अस्य त्वत्सम्मतार्थकत्वे मानाभावः इति अन्यत्र विस्तरः. यत्तु *"मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्" इति सूत्रे निःसरणं कस्य शब्दस्य अर्थः* इति उक्तं तदपि विद्वन्मण्डनपङ्क्त्यभिप्रायाज्ञानात्. तत्र "स्वावतारसमये क्रीडार्थं साक्षाद् योग्याः तदा आविर्भवन्ति" इति उक्तं, तत्रैव "**मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्**" (ब्र.सू.१।३।२) इति सूत्रं प्रमाणतया उपन्यस्तम्. मुक्तानां भगवद्भावं प्राप्तानां देहाद्यध्यासरहितानां या भगवन्निकटवासयोग्यता तस्य विशेषेण अपदेशो 'व्यपदेशः' तस्माद् इति अर्थः. किं तत् सूत्रं भगवत्क्रीडायोग्यतायां प्रमाणं *तदर्थस्तु* इत्यादिना यो अर्थप्रदर्शितः सतु तन्मतविरुद्धः, नामरूपविनिर्मुक्तैः उपसृप्यं यत् तस्य व्यपदेशाद् इति तदर्थे नामरूपविनिर्मोकस्य सोपाधिके सम्भवाद् निरुपाधिके च उपसर्पणासम्भवाद् असङ्गतिः. "**न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्म अप्येति**" (बृह.उप.४।४।६) इति श्रुतिविरोधः च. क्रममुक्तिविषयत्वेन नामरूपविनिर्मोकासम्भवश्च इति संक्षेपः. मुक्त्यपेक्षया भक्तेः आधिक्यन्तु "**मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्**" (भाग.पुरा.५।६।१८) इत्यादिना पूर्वमेव विस्तरेण उपपादितम् इति. यच्च *मुक्ताअपि लीलाविग्रहं कृत्वा हरिं भजन्ते*

इत्यादि उक्त्वा *तर्हि तत् क्रममुक्तिपरम्* इति यद् उक्तं तदपि न सम्यक्, तेषां तन्मते विग्रहवत्त्वस्वीकारेण लीलाविग्रहो निरर्थकः स्यात्. किञ्च **''आत्मारामश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअपि उरुक्रमे कुर्वन्ति अहैतुकीं भक्तिम् इत्थम्भूतगुणो हरिः''** (भाग.पुरा.१।७।१०) इत्यादिना ज्ञानिनाम् आत्मारामाणां शुकदेवादीनामपि भक्तेः उक्तत्वाद्, भक्तेः ज्ञानाद् आधिक्यं प्रतीयते. नहि ब्रह्मलोकं प्राप्तः स्वर्गम् ईहते. यदि ज्ञानस्य भक्तेः न्यूनता स्यात् तदा ज्ञानिनः तत्र इच्छैव न स्यात् **''अशरीरम्''** (छान्दो.उप.८।१२।१) इत्यादिवाक्यन्तु ब्रह्मपरम्. अतएव **''मत्वा धीरो न शोचति''** (कठोप.१।२।२२) इति तद्वाक्यशेषः उक्तम्. *शरीरत्वावच्छिन्नाभावबोधाद्* इत्यपि असङ्गतम्. तथाहि शरीरत्वावच्छिन्नाभावः कुत्र बोधनीयो जीवे? ब्रह्मणि वा? न आद्यः कैवल्यमुक्तौ जीवस्य ब्रह्मातिरिक्तस्य अभावात्. नापि द्वितीयः, एकजीवस्य मुक्तावपि तदतिरिक्त-जीवशरीराणां ब्रह्मणि सत्त्वेन शरीरत्वावच्छिन्नाभावस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्. नच कल्पितस्य त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वात् तदभावो ब्रह्मणि अबाधिते इति वाच्यं, तथा सति *कैवल्यमुक्तौ* इति असङ्गतं, तस्य सार्वदिकत्वात्. एकजीववादस्तु निर्मूलत्वाद् उपेक्षणीयः इति आस्तां प्रविस्तरः.

[७] *जीवस्य अंशत्वं क्वापि न पठितम्* इत्यादितु **''ममैव अंशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः''** (भग.गीता.१५।७) इत्यादिगीतावाक्यानालोचनमूलकम्. गीता न प्रमाणम् इति चेद्, उपेक्ष्यो असि. जीवस्य ब्रह्मणा सह उपादानोपादेयभावरूपएव सम्बन्धः सच श्रुत्युक्तः इत्येतेन *जीवस्य ब्रह्मणा सह कः सम्बन्धः* इति निरस्तम् (इति विंशखण्डखण्डनाभासस्य आभासत्वप्रदर्शनम्).



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

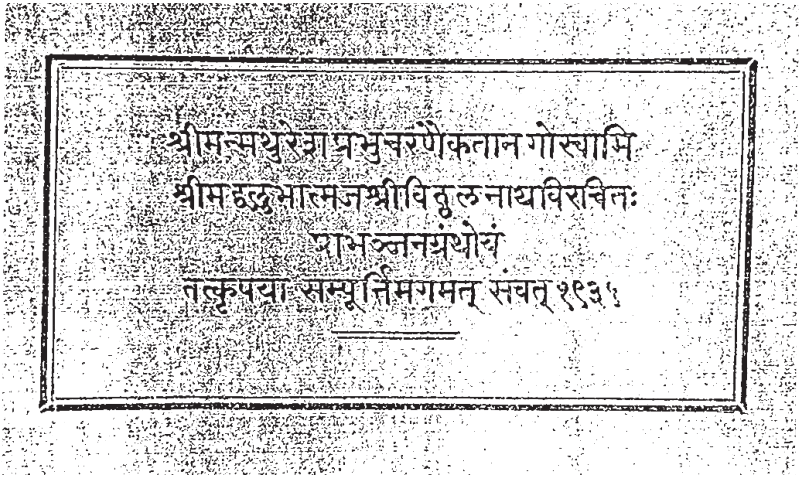
धर्मधर्मितादात्म्यविवेकः

नत्वा महाप्रभून् श्रीमदाचार्यचरणान् अहम् ॥
वर्णयामि यथाभातं तादात्म्यं धर्मधर्मिणोः ॥१॥
वस्तुषु सत्सु तज्जातिरूपा सत्ताऽनुभूयते ॥
सत्तयानुमितं सच्चेत् किदृशी पक्षवृत्तिता ॥२॥
पक्षावृत्तेस्तु हेतोर्हि साध्यसिद्धिरसम्भवा ॥
अनेकेषां सतां बोधात् सत्ता ह्यनुमितातु चेत् ॥३॥
सतश्चैकस्य प्रत्यक्षं न भवेद् यदि कुत्रचित् ॥
धर्मिणा सहितो धर्मो नैव क्वापि प्रतीयते ॥४॥
धर्मिणो धर्मबोधात् प्राक् प्रत्यक्षाशक्यता यतः ॥
अतो धर्म्यात्मकाः धर्माः धर्मी धर्मात्मको नवा? ॥५॥
ईदृश्यां विचिकित्सायां किञ्चिदत्र विचार्यते ॥
धर्माः धर्म्यात्मकाः केचित् केचिदागन्तुकास्तथा ॥६॥
केचिदौपाधिकाः तद्वद् व्यवहाराय भाविताः ॥
धर्म्यज्ञानजन्यभ्रान्त्या कल्पिताश्चापरे तथा ॥७॥
तादात्म्यन्तु क्वचिन्नित्यं कालिकं च क्वचित् पुनः ॥
औपाधिकन्तु संयोगात् काम्यं स्याद् व्यावहारिकम् ॥८॥
अज्ञानकल्पितानान्तु धर्मिज्ञाननिवर्त्यता ॥
तएव हि मृषाः ज्ञेयाः सर्वेषां न समानता ॥९॥
एवं तादात्म्यवैविध्याद् धर्मवैविध्यसम्भवः ॥
विस्तारश्चास्य विज्ञेयः तादात्म्यविनिरूपणे ॥१०॥

इति गोस्वामिश्रीदीक्षितात्मजेन श्याममनोहरेण
विरचितः
धर्मधर्मितादात्म्यविवेकः
सम्पूर्णः

अथ प्राभञ्जनोत्तरभागः प्रारभ्यते.

ॐ श्रीः पूर्वभागेसुद्धाद्वैतमार्तण्डे केनचिद्दोषदूषितप्रज्ञादृष्टिनोद्भाविता दोषाभासानिरस्तास्तदुक्तयश्चदूषिताः द्वितीयभागे विद्वन्मंडनस्य पंचाशत्खण्डान्कल्पयित्वा तदर्थाज्ञानार्थंनकल्पिताये खंडनाभासास्तेषुक्रमेणाभासत्वं प्रदर्श्यते ॥ तत्रप्रथमंश्लोकत्रयात्मकं विद्वन्मंडनस्य प्रथमंखंडं प्रकल्प्य तत्खण्डनाभासं चिकीर्षुर्मध्यविवश आदौ निंदात्मकश्लोको रचितवान् यद्यप्यस्माभिरपि तन्निंदापरास्तहस्तत्रशः श्लोकारचयितुं शक्यंते तथापि निंदा निंदकस्यैव निंदां द्योतयतीति प्रसिद्धिरतस्तयैव तस्यानिंदितत्वसिद्धेःसिद्धेइच्छाविरहाच्च नतदर्थंयत्नः क्रियते ॥ परनिंदात्मसंस्तुत्यादीना धर्मशास्त्रेनिषिद्धत्वाच्चयान्हीत्यादिना कथंचिद्गद्यमुक्त्वा (नास्मिन्मंत्रादिरीतिरस्तिनचेदंमंत्रशास्त्रादिषूपलभ्यत) इति यदुक्तं तदपि शास्त्राज्ञानादेवभगवच्छरणागतेर्मोक्षहेतुत्वस्य सर्वत्रप्रतिपादनात् उक्तंगोपालतापनीये "योब्रह्माणंविदधातिपूर्वंयोविद्यास्तस्मै गोपायतिकृष्णः यस्तंदेवमात्मवृत्तिप्रकाशंमुमुक्षुर्वैशरणमनुव्रजे"दिति ॥ भगवद्गीतायामपि "दैवीह्येषागुणमयीमममायादुरत्यया॥मामेवयेप्रपद्यंतेमायामेतांतरंतिते ॥ पुनश्च "तेषामहंसमुद्धर्तामृत्युसंसारसागरात्॥भवामिनचिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसाम् ॥अग्रे सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रज अहंत्वासर्वपापेभ्योमोक्षयिष्यामिमाशुचः ॥ मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु" इत्यादौशरणागतेरेवोक्तत्वात् मंत्रग्रहणा-



प्रथमपीठाधीशसङ्गृहीतः वि.सं.१९३५ मुद्रिता मातृका
अन्त्यपृष्ठम्

अथ प्राभञ्जनोत्तरभागः प्रारभ्यते ।



ॐ श्रीः ॥ पूर्वभागे शुद्धाद्वैतमार्तण्डं केनचिद्दोषदूषितप्रज्ञादृष्टिनोद्भाविता दोषाभासा निरस्तास्तदुक्तयश्च दूषिताः । द्वितीयभागे विद्वन्मण्डनस्य पंचाशत्खण्डान्कल्पयित्वा तदर्थोज्ञानात्तेन कल्पिता ये खण्डनाभासास्तेषु क्रमेणाभासत्वं प्रदर्श्यते ॥ तत्र प्रथमं श्लोकत्रयात्मकं विद्वन्मण्डनस्य प्रथमं खण्डं प्रकल्प्य तत्खण्डनाभासं चिकीर्षुरीश्वरांविश आदौ निंदात्मकश्लोकौ रचितवान्, यद्यप्यस्माभिरपि तन्निन्दापरास्सहस्रशः श्लोका रचयितुं शक्यंते तथापि निंदा निंदकस्यैव निंदां द्योतयतीति प्रसिद्धिरतस्यैव तस्य निंदितत्वसिद्धेः, सिद्ध इच्छाविरहाच्च न तदर्थं यत्नः क्रियते ॥ परनिंदात्मसंस्तुत्यादीनां धर्मशास्त्रे निषिद्धत्वाच्च । यान् हीत्यादिना कथंचित् गद्यमुक्त्वा (नास्मिन्मंत्रादिरीतिरस्ति न चेदं मंत्रशास्त्रादिपूपलभ्यत) इति यदुक्तं तदपि शास्त्राज्ञानादेव, भगवच्छरणागतेर्मोक्षहेतुत्वस्य सर्वत्र प्रतिपादनात् । उक्तं गोपालतापनीये "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यास्तस्मै गोपायति कृष्णः । तं देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजे" दिति । भगवद्गीतायामपि 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते । पुनश्च 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ अग्रे 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।' ॥ 'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु'त्यादौ शरणागतेरेवोक्तत्वात् मंत्रग्रहणानंतरं च कर्तव्यबोधकं तंत्रसारे धृतं वचनं 'शरीरमर्थं प्राणांश्च पुनस्तस्मै निवेदयेत् । हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभि'रिति ॥ किंचेत्यादिना यदुक्तं तापादिकं कृष्णवियोगं प्रति हेतुत्वेऽपसिद्धांत ईश्वरेच्छाया एव सर्वत्र हेतुत्वोपगमादिति तन्न साधीय, ईश्वरेच्छैव सर्वत्रास्मन्मते कारणं परंतु यया रीत्या यद्विषयिका सा भवति तथैव तदुत्पद्यते । अस्यैतावत्कालपर्यन्तं मद्विरहजनिततापानंतरं मत्प्राप्तिर्भवत्विति यदि श्रीडेच्छा जाता तदा सा लीला तथैव भवति, तथा च कालतद्वियोगादीनां न स्वतंत्रतया कारणत्वं किंत्वीश्वरेच्छयैव, पूर्वं च तेषां कारणत्वेपि नेश्वरेच्छायाः कारणत्वहानिर्ह्यस्याः सर्वकारणत्वात्, अन्यथा स्वन्मतेपि दंडादीनां घटादिकं प्रति कारणत्वस्य स्वदीयैरुक्तत्वेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वहानिः स्यात् । प्रथमश्लोकस्य द्वितीयचरणेन (तदीयप्रथमश्लोकस्य दुरभिप्रायत्वं सूचित) मिति यदुक्तं तदुचितमेव दोषदूषितचित्तस्य । उक्तं च–'निजदोषावृतमनसामतिसुंदरमेव भाति विपरीतम् । पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि

विस्मृतिं द्योतयति । मधुतरविधुतेरिति सूत्रे कौमुदीकारेण याच्ञनास इरयुदाहृतम् ॥ भृक्षिमुजमिति घोदाहृतम् ॥ यदि याच्ञनसोः प्राण्यंगत्वं विवक्षितं स्यात्तदाक्षिभ्रुवमूर्ध-ष्ठीवमित्यादिषन्याच्ञनसमित्येवोदाहरेत् ॥ तस्माच्चयोः प्राण्यंगत्वं नास्तीति समाहारा-विवक्षायां बहुवचनेन याचकम् ॥ एवं च शास्त्राज्ञानमूलकं खंडनाद्यनुपादेयमेव ॥ 'भायावबोधविहितो न दुनोति दोष' इत्युक्तेरिति संक्षेपः ॥

मायानिर्मितमेषपाटनपटुर्पंचास्य विध्वंसनो
मिथ्यामस्करियेशकल्पितसहस्राहं समुत्काटयन् ॥
शुद्धाद्वैतदिवाकरं विमलयन् विन्मण्टनं मंडयन्
मोदं वल्लभवंदताजेषु जनयन्प्राभञ्जनो राजते ॥
शुक्लशुक्लमतिपर्वि भानुसूनोर्दिनेभवत् ॥
ग्रन्थः पूर्णोऽत्रवन्ह्यंकभूमिते वत्सरे शुभे ॥
मधुराधीशपादाब्जे ग्रंथो क्षेपो मयार्पितः ॥
प्रीयतां तेन देवेशः शरणागतवत्सलः ॥

॥ इति श्रीप्रभंजने वज्रविस्तारभंगो नाम द्वितीयो भागः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रंथः ॥

गुगलगुरोः संग्रहे अन्त्यपृष्ठम्

उद्धरणतालिका

अंशो नानाव्यपदेशाद्	ब्र.सू.२।३।४२	१५४, १९३
अकथितञ्च	पाणि.सू.१।४।५१	१८३
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य	आप.श्रौ.सू.८।१।१	७८
अजाम् एकाम्	श्वेता.उप.४।५	६७
अजो नित्य: शाश्वतो अयं	भग.गीता.२।२०	१५४
अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व	पद्मपुरा.६।७१।१०८	५६
अतीतानागतप्रत्ययभेदाच्च	बृह.उप.शां.भा.१।२।१	९३
अत्यन्तासत्यपि हि अर्थे	श्लो.वार्ति.१।१।२।६	६३, १२६
अथ अस्य वेदम् उपशृणवत:	द्रष्ट.ब्र.सू.शां.भा.१।३।३८	३०
अथ प्रादेशिको भवेद्	कारिकावली९९	१९७
अथ बहुव्रीहिवत्त्वे	पातं.महाभा.८।१।९	९
अथ रथान् रथयोगान्	बृह.उप.४।३।१०	४२
अथातो धर्मजिज्ञासा	जैमि.सू.१।१।१	३०
अदर्शनं लोप:	पाणि.सू.१।१।६०	१०७
अधिकन्तु	लौकि.न्या.सा.	९४
अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्	ब्र.सू.२।१।२२	१९८
अनागतम् अतीतं च	भाग.पुरा.१०।६१।२१	११२
अनादिनिधना नित्या	महाभा.१२।२३८।९३	६०
अनादिमत्परं ब्रह्म न	भग.गीता.१३।१२	७९
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाद्	ब्र.सू.२।३।४८	१९५
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते	पञ्चद.१५।१३	१६४
अनुमानव्यवस्थानात्	जैमि.सू.१।३।१५	१८

अनुमितस्य वेदस्य सर्वसाधारणत्वेन		१८
अनेकार्थाभियोगेऽपि	याज्ञ.स्मृ.मिता.२।२०	१५५
अनेन जीवेन आत्मना	छान्दो.उप.६।३।९	४९, ६१,
अन्यथा चापि	ब्र.सू.२।३।४३	१५३
अपश्यत् पुरुषं पूर्णं मायां	भाग.पुरा.१।७।४-५	७३
अपि पूर्वस्य एतैः लयार्थत्वं	ब्र.सू.शां.भा.१।१।९	१९९
अपि स्मर्यते	ब्र.सू.२।३।४५	१५६
अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः	न्या.मु.कारि.११५	७४
अबाधकं साधकं च द्वैतम्	पञ्चद.४।४२	१३२
अभिध्योपदेशश्च आत्मनः	ब्र.सू.शां.भा.१।४।२४	१६२
अयम् आत्मा अजरो अमरः	बृह.उप.४।४।२५	१९६
अर्थनिर्बन्धना इयं सङ्ज्ञा	पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१	१८३
अर्थभेदाद् अनामत्वम्	जै.न्या.मा.१।१३।४०	१२३
अलौकिकोहि वेदार्थो न	ब्र.सू.अणुभा.१।१।१	६०
अवश्यक्लृप्तनियतपूर्ववर्तिन-एव	न्याय.सि.मु.प्र.खं.१६	१८०
अविनयम् अपनय विष्णोः	षट्प.स्त्रो.१	६४
अविनाशी वा अरे	बृह.उप.४।५।१४	
असत्यम् अप्रतिष्ठं ते	भग.गीता,१६।८	११५
असूर्या नाम ते लोकाः	ईशा.उप.३	६०
अस्थूलम् अनणुः	बृह.उप.३।८।८	४२
अस्मिन् अस्य च तद्योगं	ब्र.सू.१।१।१८	१९९
अहं कृत्स्नस्य जगतः	भग.गीता.७।६	१६८

आकाश: सम्भूत:	तैत्ति.उप.२।१।१	१९६
आत्मा वा इदम् एकएव	ऐत.उप.१।१।१	६८
आत्मारामश्च मुनयो	भाग.पुरा.१।७।१०	२०२
आत्मैव इदं सर्वं	छान्दो.उप.७।२५।२	१२४
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्	तैत्ति.उप.२।९	१०
आनन्दमात्रकरपादमुखो-दरादि	नार.पञ्चरा.	६१
आबाधे च	पाणि.सू.८।१।१०	९
आभूतसम्प्लवं स्थानम्	विष्णुपुरा.२।८।९५	७४
आम्नायस्य...	जैमि.सू.१।२।१	१२४
आश्रयत्वविषयत्वभागिनी	संक्षे.शारी.१।३१९	१०४, १९४
इतरव्यपदेशाद्	ब्र.सू.२।१।२१	१९८
इतरेतरप्रत्ययत्वाद् इति	ब्र.सू.२।२।१९	१३४
इदं सर्वं (जगत्) देशत:	तैत्ति.उप.शां.भा.२।६	८०
इदं सर्वम् असृजत	तैत्ति.उप.२।६	८०
इन्द्राग्नी इदं हवि:	तैत्ति.ब्रा.३।५।१०।३	१३
इन्द्रियैः विषयाकृष्टैः	भाग.पुरा.४।२२।३०	११
ईक्षते: न अशब्दम्	ब्र.सू.१।१।४	२००
ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं	पञ्चद.४।१	१३२
उक्तव्याप्तिप्रकारेषु	तत्त्वचिं.अनु.खं.व्या.प्र.	१८१
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य	कठोप.१।३।१	४९
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म	महाना.उप.१२।१	४९
एकं बहुव्रीहिवद्	पाणि.सू.८।१।९	९

एकमेव अद्वितीयम्	छान्दो.उप.६।२।२	४४, १२२
एतत् सत्यम्	मुण्ड.उप.१।२।१	६१
एतमेव विदित्वा मुनि: भवति	बृह.उप.४।४।२२	१५२
एतस्माद् जायते प्राणो	मुण्ड.उप.२।१।३	६८
एतस्य वा	बृह.उप.४।३।१२	१६२
एतस्यैव अक्षरस्य प्रशासने	बृह.उप.३।८।९	४२
एष उ एव साधु कर्म	कौषी.उप.३।८	६३, १६१, १७९
एष सर्वेश्वर:	माण्डु.उप.६	१७०
ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्	छान्दो.उप.६।८।७	६१, ८५, ८८,
कं ब्रह्म	छान्दो.उप.४।१०।५	३५
कथं पुन: अवगम्यते सापेक्ष:	ब्र.सू.शां.भा.२।१।३४	७८
कथम् असत: सत् जायेत	छान्दो.उप.६।२।२	३३, १०४, १३४
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्	ब्र.सू.२।३।३३	१९५
कश्चिद् धीर: प्रत्यगात्मानम्	कठोप.२।१।१	१४, १३१
कालस्तु हेतु: सुखदु:खयो:	भाग.पुरा.११।२३।५६	१९५
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु	ब्र.सू.२।३।४२	१७९
कृत्तद्धितसमासेभ्यो	वैया.भूष.४९	८५

केचिद् विलग्नादशनान्तरेषु	भग.गीता.११।२७	१०६
क्रतुं कुर्वीत	छान्दो.उप.३।१४।१	३६
क्रियासमभिव्याहारे च	पाणि.सू.वा.८।१।१२	९
गतिसामान्याद्	ब्र.सू.१।१।९	२००
गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ	ब्र.सू.१।२।११	४९
गौणश्चेद्, न 'आत्म'शब्दात्	ब्र.सू.१।१।५	१६२
घटत्वावच्छिन्नं	शब्द.प्रका.	१७
घटसम्वृतम् आकाशं नीयमाने	ब्र.बि.१३	३७
'ध्यै' चिन्तायाम्	पाणि.धा.पा.भ्वा.९०८	१६२
'न'इति, 'न'इति	बृह.उप.२।३।६	१२५
'ल'बोध्यार्थेन		१२६
चैतन्यं यद् अधिष्ठानं	पञ्चद.४।११	५७
जन्माद्यस्य यत:	ब्र.सू.१।१।२	३८, ११५, १६८
जीवस्य अंशत्वे हस्तादिवद्	ब्र.सू.अणुभा.२।३।४६	१९४
जीवेशौ आभासेन करोति	नृ.उ.ता.उप.९	७९
जुष्टं यदा पश्यति	श्वेता.उप.४।७	५०
ज्ञानस्य अवर्जनीयत्वेन	पाणि.सू.लघु.शे.१।१।६०	१०७
ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि	भग.गीता.४।३७	६९
ज्ञानिनामपि चेतांसि	मार्क.पुरा.८१।४२	६३
ज्ञानीतु आत्मैव मे मतम्	भग.गीता.७।१८	१७
ज्ञानेनतु तदज्ञानं येषां	भग.गीता.५।१६	१७
ज्योतिष्टोमेन यजेत	आप.श्रौ.सू.१०।२।१	१२, १८२

तत् त्वम् असि	छान्दो.उप.६।८।७	१२४
तत् सत्यम्	छान्दो.उप.६।८।७, ६।१५।३	११४
तत् सृष्ट्वा तदेव	तैत्ति.उप.२।६	६८, १३४
तद् अपो असृजत	छान्दो.उप.६।२।३	८७
तद् एतद् अक्षरं नित्यं	विष्णुपुरा.१।२२।५९	११५
तद् एतद् जगद् वस्तुतो	विष्णुपुरा.१।२२।५९	११५
तद् ऐक्षत्	छान्दो.उप.६।२।३	६८
तद् वीक्ष्य पृच्छति मुनौ	भाग.पुरा.१।१।४-५	७७
तद्वद् न ईशो नापि	पञ्चद.३।४२	३२
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशाद्	ब्र.सू.१।१।६	८७
तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व	तैत्ति.उप.३।२	६१
तमेव विदित्वा	श्वेता.उप.६।१५	३६
तरति शोकम् आत्मविद्	छान्दो.उप.७।१।३	५९
तर्काप्रतिष्ठानादपि अन्यथा	ब्र.सू.२।१।११	१२
तर्काप्रतिष्ठानाद्	ब्र.सू.२।१।११	६१
तस्मात् तत् 'सुकृतम्' उच्यते	तैत्ति.उप.२।७	४९
तस्मै निवेदयेद् हितं	याज्ञ.स्मृ.१।२७	३
तस्य पुत्रो महायोगी	भाग.पुरा.१।१।४	७७
तिङ्वाच्यकारकवाचिनि	पाणि.सू.सि.कौ.१।४।१०	१२६
तुल्यास्य..	पाणि.सू.१।१।९	२००
तेज: ऐक्षत	छान्दो.उप.६।२।३	८६
तेषाम् अहं समुद्धर्ता	भग.गीता.१२।७	३
त्वञ्च रुद्र! महाबाहो	वारा.पुरा.७०।३६	५६

दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो		१२
दशैते राजमातङ्गा:	शब्द.प्रका.	१४४
तस्यैववामी		
दिव्यं ददामि ते चक्षु:	भग.गीता.११।८	१०६
दुह् याच् पच् दण्ड् रुधि	पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१	१८३
दृश्यतेतु अग्रया बुद्ध्या	कठोप.१।३।१२	१४
देहयोगाद् वा सोऽपि	ब्र.सू.३।२।६	१६१
देहिनो अस्मिन् यथा	भग.गीता.२।१३	१०३
दैवी ह्येषा गुणमयी मम	भग.गीता.७।१४	३
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया:	मुण्ड.उप.३।१।१	४८
धर्मं जैमिनि: अतएव	ब्र.सू.३।२।४०	१७८
धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेन	ब्र.सू.शां.भा.३।२।४१	७८
न असद् आसीद्	ऋक्.संहि.१०।१२९।१	१२६
न आत्मा अश्रुते: नित्यत्वाच्च	ब्र.सू.२।३।१७	१५३, १५४
न आश्रम: कारणं धर्मे	याज्ञ.स्मृ. प्राय.यति.।६५	५८
न एषा तर्केण मति: आपनेया	कठोप.१।२।९	१५४
न कर्मणा न प्रजया	कैव.उप.३	१५४
न कर्माणाम् अनारम्भाद्	भग.गीता.३।४	५८
न कर्माविभागाद् इति	ब्र.सू.१।३।३५	७९
न क्षीरस्य सर्वोपमर्देन	बृह.उप.शां.भा.१।४।३-७	११६
न जायते न म्रियते वा	कठोप.१।२।१८	१९६
न तस्य प्राणा:	बृह.उप.४।४।६	२०१
न निरूपयितुं शक्या	पञ्चद.६।१४१	३३

न मे पार्थ! अस्ति कर्तव्यं	भग.गीता.३।२२	१८४
नटवद् मूढो मायाभि:	भाग.पुरा.८।११।४)७३	
ननु जीवस्य ईश्वरांशत्वाभ्युपगमे	ब्र.सू.शां.भा.२।३।४५	१९३
नहि कालत्रयसम्बन्धिनि एकस्मिन्	ब्र.सू.शां.भा.२।२।३१	१३५
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्	भग.गीता.४।३८	१७
नानाव्यपदेशाद्	ब्र.सू.२।३।४३	१५३
निजदोषावृतमनसाम्	काव्यप्र.१०।१६५।४७८	९
निरञ्जन: परमं साम्यम्	मुण्ड.उप.३।१।३	२००
निर्बन्ध: तत्त्वविद्याया:	पञ्चद.७।१७५	३३
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं	श्वेता.उप.६।१९	६८, १५४
निह्नुते लिखितं नैकम्	याज्ञ.स्मृ.२।२०	१५५
नैव आत्मनो न देहस्य	भाग.पुरा.११।२८।१०	१३३
न्यायस्तु बलवान् व्यवहारत:	याज्ञ.स्मृ.२।२१	१५५
पराञ्चि खानि	कठोप.२।१।१	१३१
परात्तु तच्छ्रुते:	ब्र.सू.२।३।४१	१६२, १७०
पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्	ब्र.सू.३।२।५	१६२
परास्य शक्ति: विविधैव	श्वेता.उप.६।८	३३
पश्यार्थैश्च अनालोचने	पाणि.सू.१।१।६०, ८।१।२५	
पादोऽस्य विश्वा भूतानि	ऋक्.संहि.१०।९०।३	८४
पुण्य: पुण्येन कर्मणा	बृह.उप.४।४।५	७९

पुरुषएव इदं सर्वं	ऋक्.संहि.१०।९०।२	१०२, १०३
पुरुषएव इदं सर्वं यद् भूतं	श्वेता.उप.३।१५	१०५
प्रकाशादिवत्तु नैवं पर:	ब्र.सू.२।३।४६	१९३, १९४
प्रकृतिश्च	ब्र.सू.१।४।२३	२००
प्रतिज्ञादृष्टान्तान्परोधाद्		
प्रकृत्यादिभ्य: उपसंख्यानम्	पा.सू.वा.२।३।१८	१७
प्रत्यक्त्वापरभावश्चाप्युपा-धी	वा.प.पु.स.१	१२६
कर्तृकर्मणो:		
प्रत्यक्षातिरिक्तं न प्रमाणम्	चार्वाक	१४४
प्राच्यादिपदयुक्ताया: श्रुते:	जैमि.न्या.मा.१।३।२७	१८
फलार्थत्वात् कर्मण:	जैमि.सू.६।१।४	३०
बन्ध: चेद् मानसं द्वैतं	पञ्चद.४।३८-३९	१३२
बन्धो अस्य अविद्यया	भाग.पुरा.११।११।४	७८
बहु स्यां प्रजायेय	छान्दो.उप.६।२।३	१६१
बहु स्यां प्रजायेय	तैत्ति.उप.२।६	११२
ब्रह्म दाशा: ब्रह्म दासा:	अथर्व.पैप.संहि.८।९।१०	१५३
ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा न	भग.गीता.१८।५४	१९९
ब्रह्मविद् आप्नोति परम्	तैत्ति.उप.२।१	१६२
ब्रह्मैव इदं सर्वम्	नृ.उ.ता.उप.७।३	१२४
भक्त्या अहम् एकया ग्राह्य:	भाग.पुरा.११।१४।२१	१६
भाष्यानुक्तानाम् अत्र	लघु.शे.का.प्र.द्वि.वि.	१८३
भृगु: वै वारुणि: वरुणं	तैत्ति.उप.३।१	६१
मत्तः स्मृतिः ज्ञानम्	भग.गीता.१५।१५	६४

मत्वा धीरो न शोचति	कठोप.१।२।२२	२०२
मनमना भव मद्भक्तो	भग.गीता.१८।६५	३
मनुष्यपुद्गल: कदाचित् क्षणेन	ब्र.सू.शां.भा.२।२।१९	१३४
मन्त्रवर्णाद्	ब्र.सू.२।३।४४	१५६
ममैव अंशो जीवलोके	भग.गीता.१५।७	१५४, १५५, २०२
मा/न हिंस्यात् सर्वभूतानि	महाभा.३।२१६।५०	१६८
माणवकं धर्मं भाषते	पाणि.सू.सि.कौ.१।४।५१	१८३
मायाख्याया: कामधेनो:	पञ्चद.६।२३६	३२
मायान्तु प्रकृतिं विद्याद्	श्वेता.उप.४।१०	१९३
मायामात्रन्तु कात्स्न्र्येन	ब्र.सू.३।२।३	७३, १०४
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्	भाग.पुरा.५।६।१८	२०१
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाद्	ब्र.सू.१।३।२	२०१
य: आत्मनि तिष्ठन्	बृह.उप.३।७।३	१५२
य: आत्मनि तिष्ठन्	शत.ब्रा.१४।६।७।३०	१५४
य: एष: संसारतरु: पुराणो	भाग.पुरा.११।१२।२१	१३३
य: एषो अणिमा	छान्दो.उप.६।८।७	८८
य: सर्वज्ञ: सर्वविद्	मुण्ड.उप.१।१।९	७९, ८४
य:...अन्तरो यमयति	बृह.उप.३।७।३-२३	१५३
यजमान: प्रस्तर:	तैत्ति.संहि.१।७।४।४, जै.न्या.मा.१।१३।३८	१२३

यजमानो प्रस्तर:	तैत्ति.संहि.१।७।४।४	१५४, १५५
यतो वाचो निवर्तन्ते	तैत्ति.उप.२।४	१२३
यतो वाचो निवर्तन्ते	तैत्ति.उप.२।९	१०, ११
यत्रहि द्वैतमिव भवति	बृह.उप.२।४।१४	५८, १३३
यथा अग्ने: विस्फुलिंङ्गा:	बृह.उप.२।१।२०	१५२, १५३
यथा जीव:	ब्र.सू.शां.भा.२।३।४६	१९४
यथा सुदीप्तात्	मुण्ड.उप.२।१।१	१९८
यथा सैन्धवखिल्य:	बृह.उप.२।४।१२	१९९
यदा पश्य: पश्यते	मुण्ड.उप.३।१।३	४९
यदा यस्मिन्'		
यदीयाज्ञानोपादानकं	सि.ले.सं.२।३५	७५
यद् आग्नेयो अष्टाकपालो	तैत्ति.सं.२।६।३।३	१३
यद् भूतं यच्च भव्यम्	श्वेता.उप.३।१५	१०२
यद् मनसा न मनुते	केनोप.१।५	१४
युष्मदर्थेन यत्र लान्तस्य	महाभा.प्रदी.१।४।१०४	१२६
युष्मदश्च अलिङ्गताच		१२६
युष्मदि प्रयुज्यमाने	पाणि.सू.सि.कौ.१।४।१०	८८
यो अन्यथा सन्तम्	महाभा.१।६८।२६	६०
यो ब्रह्माणं विदधाति	गो.पू.ता.उप.१।५	३
यो यो देवानां प्रत्यबुध्यते	बृह.उप.१।४।१०	१६३
रसहि एव अयं लब्ध्वा	तैत्ति.उप.२।७	१३

रसो वै सः रसंहि	तैत्ति.उप.२।७	१०
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	ब्र.सू.२।१।३३	१६१
लोडन्तस्यैव इदं द्विर्वचनं	महाभा.प्रदी.८।१।१२	९
वायव्यं श्वेतम् आलभेद्	तैत्ति.संहि.२।१।१	१२४
वायुः वै क्षेपिष्ठा	तैत्ति.संहि.२।१।१	१२४
विदग्धगोपिकामनोमनो	श्रीकृष्णा.८	२७
विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः	मुण्ड.उप.३।२।८	१३२
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च	ब्र.सू.१।२।२	३६
विशते तदनन्तरम्	भग.गीता.१८।५५	१९९
विस्मयैकशरीराया: मायाया:	पञ्चद.६।१३९	११४
वेदबाह्या विद्या: सुरवैरिणाम्	वि.स.ना.शां.भा.८७	५६
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवद्	ब्र.सू.२।२।२९	४२, ४४,
वैश्वदेव्यामीक्षा	तैत्ति.ब्रा.१।७।१०।१	८५
शारीराद् अधिकम्	ब्र.सू.शां.भा.२।१।२२	१९८
शास्त्रयोनित्वाद्	ब्र.सू.१।१।२	११५
शुकम् अध्यापयामास निवृत्ति-	भाग.पुरा.१।७।९	७७
शैवा सौराश्च गाणेशाः	भग.गीता.मधुसू.१५।२०।३	६४
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधाद्	ब्र.सू.१।३।३८	३०
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्	ब्र.सू.२।१।२७	१२
स ईक्षाँचक्रे	प्रश्नोप.६।३	६८
स एष मे आत्मा	छान्दो.उप.३।१४।३-४	३५
स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः	भाग.पुरा.२।१।३९	३५
सत्ता चितिः सुखं च इति	पञ्चद.१५।२०-२१	१६४

सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	तैत्ति.उप.२।१	११४, ११५
सत्यकाम: सत्यसङ्कल्प:	छान्दो.उप.८।७।१	१७८
सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:	छान्दो.उप.६।८।४	३७
सदेव, सोम्य!, इदम् अग्रे	छान्दो.उप.६।२।१	६८, ७९,
सदोद्धर्ता स्वेषां परमरुचिकर्ता	आन.मन्दा.१७७	७
सप्तर्षिनागवीथ्यन्त:	याज्ञ.स्मृ.३।१८७-१८९	१८३
समुद्रइव (हि) कामो	तैत्ति.ब्रा.२।२।५।६	१५
सर्वं खलु इदं ब्रह्म	छान्दो.उप.३।१४।१	३५, १०३, ११५
सर्वएव आत्मनो व्युच्चरन्ति	शत.ब्रा.१४।५।१।२३	१५२
सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्	ब्र.सू.१।२।१	३५
सर्वधर्मान् परित्यज्य	भग.गीता.१८।६६	३
सर्वधर्मोपत्तेश्च	ब्र.सू.२।१।३७	१६१
सर्वपापविनिर्मुक्त:	स्क.पुरा.५।३१।३	१३२
सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषाद्	ब्र.सू.३।३।१	११
सर्वस्य प्राणिजातस्य अहम्	भग.गीता.शां.भा.१५।१५	६४
सर्वे वेदा: यत् पदम्	कठोप.१।२।१५	६१
सा इयं देवता ऐक्षत	छान्दो.उप.६।३।२	६८
सामानाधिकरण्यम् एकार्थबोधकत्वम्	बृ.श.शे.३.भ्वादि	१२६

सो अन्वेष्टव्य: स	छान्दो.उप.८।७।१	१, ५२, १५३, १९८
सोपक्रमं निरुपक्रमं च	योगसू.भा.३।२२	१८१
सौम्य! एकेन मृत्पिण्डेन	छान्दो.उप.६।१।४	२०१
सक्ध्ये सृष्टि: आह हि	ब्र.सू.३।२।१	१६१
स्मरेत् प्रथमपुष्पिणीं	त्रिपुरसुन्द.अष्ट.६	२७
स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक	अद्वै.सि.प्रथ.परि.मिथ्या. निरू.	१३५
स्वभावस्तु प्रवर्तते	भग.गीता.५।१४	१७९
स्वयंभू: एषो भगवान्		६०
स्वर्गकामो यजेद्	आप.श्रौ.सू.१०।२।१	३०
स्वाप्ययसम्पत्यो:	ब्र.सू.४।४।१६	१३३
स्वाप्ययसम्पत्यो:	ब्र.सू.४।४।१६	५८
अन्यतरापेक्षम् स्वाप्ययाद्	ब्र.सू.१।१।८	१०३, १९९
हेयत्वावचनाच्च	ब्र.सू.१।१।७	८७

ग्रंथसंकेतसूचि

अथर्व.पैप.संहि.	अथर्वपैपलादसंहिता
अद्वै.सि.प्रथ.परि.मिथ्या.निरू.	अद्वैतसिद्धि: प्रथमपरिच्छेद: मिथ्यात्वनिरूपणम्
आन.मन्दा.	आनंदमन्दाकिनी
आप.श्रौ.सू.	आपस्तम्बश्रौतसूत्रम्
ईशा.उप.	ईशावास्योपनिषद्
ऋक्.संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऐत.उप.	ऐतेरेयोपनिषद्
कठोप.	कठोपनिषद्
काव्यप्र.	काव्यप्रकाश:
केनोप.	केनोपनिषद्
कैव.उप.	कैवल्योपनिषद्
कौषी.उप.	कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्
गो.पू.ता.उप.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
जै.न्या.मा.	जैमिनीन्यायमाला
जैमि.सू.	जैमिनीासूत्रम्
तत्त्वचिं.अनु.खं.व्या.प्र.	तत्त्वचिंतामणि-अनुमानखंडव्याप्तिप्रकरणम्
तैत्ति.उप,	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति.उप.शां.भा.	तैत्तिरीयोपनिषद् शांकरभाष्यम्
तैत्ति.ब्रा.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तैत्ति.सं.	तैत्तिरीयसंहिता
त्रिपुरसुन्द.अष्ट.	त्रिपुरसुन्दर्यष्टकम्
नार.पञ्चरा.	नारदपञ्चरात्रम्
नृ.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
न्या.मु.कारि.	न्यायसिद्धांतमुक्तावली
न्याय.सि.मु.प्र.खं.	न्यायसिद्धांतमुक्तावलीप्रथमखंडम्

पञ्चद.	पञ्चदशी
पद्मपुरा.	पद्मपुराणम्
पा.सू.वा.	पाणिनिसूत्रवार्तिकम्
पाणि.धा.पा.भ्वा.	पाणिनिधातुपाठभ्वादिगण:
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्
पाणि.सू.सि.कौ.	पाणिनिसूत्रसिद्धांतकौमुदी
पातं.महाभा.	पातञ्जलमहाभाष्यम्
प्रश्नोप.	प्रश्नोपनिषद्
बृ.श.शे. ३.भ्वादि	बृहत्शब्दशेखर:
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृह.उप.शां.भा.	बृहदारण्यकोपनिषद् शांकरभाष्यम्
ब्र.बिं.उप	ब्रह्मबिंदूपनिषद्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
ब्र.सू.अणुभा.	ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
ब्र.सू.शां.भा.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्
भग.गीता.	भगवद्गीता
भग.गीता.मधुसू.	भगवद्गीता मधुसूदनसरस्वती टीका
भग.गीता.शां.भा.	भगवद्गीताशांकरभाष्यम्
भाग.पुरा.	भागवतपुराणम्
महाना.उप.	महानारायणोपनिषद्
महाभा.	महाभारतम्
महाभा.प्रदी.	पातञ्जलमहाभाष्यप्रदीपः
माण्डु.उप.	माण्डूक्योपनिषद्
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
याज्ञ.स्मृ.	याज्ञवल्क्यस्मृति:
याज्ञ.स्मृ. प्राय.यति.	याज्ञवल्क्यस्मृति: प्रायश्चित्ताध्याय: यतिधर्मप्रकरणम्
याज्ञ.स्मृ.मिता.	याज्ञवल्क्यस्मृतिमिताक्षरम्
योगसू.भा.	योगसूत्रभाष्यम्

लघु.शे.का.प्र.द्वि.वि.	लघुशब्देन्दुशेखरः कारकप्रकरणम् द्वितीयाविभक्तिः
लौकि.न्या.सा.	लौकिकन्यायसाहस्त्री
वा.प.पु.स.	वाक्यपदीयपुरुषसमुद्देशः
वि.स.ना.शां.भा.	विष्णुसहस्रनामशांकरभाष्यम्
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
वैया.भूष	वैयाकरणभूषणसारः
शत.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
शब्द.प्रका.	शब्दशक्तिप्रकाशिका
श्लो.वार्ति.	श्लोकवार्तिकम्
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षट्प.स्त्रो	विष्णुषट्पदीस्तोत्रम्
संक्षे.शारी.	संक्षेपशारीरकम्
सि.ले.सं.	सिद्धांतलेशसंग्रहम्
स्क.पुरा.	स्कन्दपुराणम्

दृश्यमानस्य जगतः श्रूयमाणा हि ब्रह्मता॥
प्रमाणत्वन्तु ज्ञानानाम् अविज्ञातस्य ज्ञापनम्॥ १ ॥
'तज्जलान्' इत्युपासायाः नैष्फल्ये त्वप्रमाणता॥
साफल्ये सति सर्वस्य ब्रह्मतैव ध्रुवा भवेत् ॥ २ ॥
प्रत्यक्षागम्यविषये श्रुतार्थे बाधकल्पने॥
नष्टैव सर्वथा ज्ञेया प्रमाणानां प्रमाणता ॥३ ॥